श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत

सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूत

तत्त्वानुशासन

नामक

ध्यान-शास्त्र

सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्यसे अलंकृत

सम्पादक और भाष्यकार

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

संस्थापक 'वीरसेवामन्दिर'

[जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, जैनाचार्योंका शासन-भेद, ग्रन्थपरीक्षा, युगवीर-निबन्धावली आदिके लेखक; स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, समीचीनधर्मशास्त्र, अध्यात्म-रहस्यादिके विशिष्ट अनुवादक, टीकाकार एवं भाष्यकार; अनेकान्तादि पत्रों और समाधितन्त्रादि ग्रन्थोंके सम्पादक]

●

वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

प्रकाशक
दरबारीलाल जैन, कोठिया
मंत्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'
२१, दरियागंज, दिल्ली ६ ।

प्रथम संस्करण : ग्यारहसौ प्रतियाँ
मुद्रण-मास : कार्तिक सं० २०२०
प्रकाशन-दिवस : ११ दिसम्बर १९६३
पृष्ठसंख्या : कुल ३६४
मूल्य मात्र : ध्यानाभ्यास

मुद्रक
१. सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, देहली
२. महावीर प्रेस, अलीगंज (एटा)
Preface पृ० ६ से १६ :
३. रामाप्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली
मुखपृष्ठ तथा आवरण,



मुनिश्री समन्तभद्रजी, बाहुबली

[illegible] माणिकचन्द वीरचन्द शहा जैन

[illegible] सौजन्य से प्राप्त ।

समर्पण

मानतीय बाल-ब्रह्मचारी, अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी
पूज्य मुनि श्रीसमन्तभद्रजीको

उनके

जिनशासनानुराग, विद्याप्रेम, कषायजय, सरल-सत्य-व्यवहार
गुणानुरक्ति, विषयविरक्ति, परोपकारवृत्ति, सदाचित्तप्रसत्ति-जैसे

सद्गुणोंके सम्मानमें

यह कृति

**जो कि ध्यानविषयक अतीवोपयोगिनी पुरातनाचार्य-कृतिकी
सानुवाद-व्याख्यादिके रूपमें अलंकृति है,**

सादर समर्पित।

जुगलकिशोर मुख्तार

स्व० श्रद्धेय साहू रामस्वरूपजी जैन
संस्थापक
देवेन्द्रकुमार जैनट्रस्ट नजीबाबाद
की पुण्यस्मृतिमें
उपर्युक्त ट्रस्टकी सहायतासे लोक-हितार्थ
निःशुल्क वितरणके लिये प्रकाशित ।



स्व० साहू रामसरूपजी जैन, नजीबाबाद

जन्म २१ जनवरी १८८६ — निधन ११ दिसम्बर १९६१

प्रकाशकीय

आचार्य रामसेन-द्वारा रचित प्रस्तुत तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ एक बड़ा ही सुन्दर-सुव्यवस्थित पुरातन ध्यानशास्त्र है, जिसमें निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारका मोक्ष-मार्ग ध्यानसे सिद्ध होता है इस बातको स्पष्ट करते हुए, ध्यानका और उसके द्वारा आत्माके विकासका एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम उपस्थित किया गया है।

यद्यपि यह ग्रन्थ इससे पूर्व भी एक-दो जगहसे मूल रूपमें तथा अनुवादके साथ, ग्रन्थ-कर्ताके गलत नामको लिये हुए, प्रकाशित हो चुका है किन्तु जैसे शुद्ध और आधुनिक सम्पादनसे युक्त संस्करणकी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति उक्त संस्करणोंसे नहीं हो सकी। इस आवश्यकता तथा ग्रन्थके महत्वको अनुभव करके सुविख्यात साहित्यकार और अनुभवी विद्वान् वयोवृद्ध पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने इसका संशोधन, सम्पादन और हिन्दी भाष्य तैयार किया, साथ ही इसपर विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी। ग्रन्थको सर्वाङ्गपूर्ण बनानेके लिए उन्होंने कई वर्षों तक इसका गहरा अध्ययन और मनन किया। लगभग तीन वर्ष पूव पूज्यश्री मुनिराज समन्तभद्रजीके निकट बाहुबली (कोल्हापुर) जाकर कई दिन तक ग्रन्थके विषयोंपर विचार-विमर्श किया एवं ध्यानशतक, आर्ष, ज्ञानार्णव, योगशास्त्रादि दूसरे ग्रन्थोंसे तथा कुछ विद्वानोंसे भी विषयको स्पष्ट किया है और इस तरह उनके कठोर परिश्रम एवं अध्यवसायके बाद अब यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ सुन्दररूपमें वीरसेवा-मन्दिर-ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित किया जा रहा है।

वस्तुतः ध्यान-विषयक खास तथा महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध करनेके लिए यह एक बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। नये ढंगसे किये गये सम्पादन, विस्तृत हिन्दी भाष्य प्रस्तावना और परिशिष्टोंसे ग्रन्थ और अधिक उपादेय तथा पठनीय बन गया है। ग्रन्थकी प्रस्तावनामें कर्तृत्व-सम्बन्धी अनेक भूल-भ्रान्तियोंको, जो अरसेसे चली आ रही थीं, सप्रमाण दूर करके उसके कर्त्ताका निर्णय किया गया है।

संस्कृत-विश्वविद्यालय वाराणसीके भूतपूर्व कुलपति डा० मङ्गलदेवजी एम० ए०, डी० फिल० ने ग्रन्थ पर अपना महत्त्वका प्राक्कथन लिखा है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं और उन्हें धन्यवाद देते हैं।

हमें आशा है प्रस्तुत संस्करण एक बड़ी भारी माँगको पूरी करेगा तथा अध्यात्म-प्रेमी मुनियों, त्यागियों, विद्वानों और सद्-गृहस्थोंको ऐसे ग्रन्थोंके अध्ययन-मनन करनेकी रुचि उत्पन्न करके उन्हें विपुल आध्यात्मिक भोजन प्रदान करेगा।

हमें प्रसन्नता है कि 'युगवीर-निबन्धावली'के प्रकाशनके तुरन्त बाद ही वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट अपने पाठकोंकी सेवामें इस सुन्दर ग्रन्थको उपस्थित करनेमें समर्थ हो सका है। यद्यपि प्रेस आदिकी कितनी ही कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ आई हैं किन्तु मुख्तारश्रीके अदम्य उत्साह, धैर्य एवं परिश्रमसे अन्तको वे दूर हो गई और ग्रन्थ अपने वर्तमान रूपमें सामने प्रस्तुत है। इतना ही नहीं, किन्तु इस महान् ग्रन्थरत्नको निःशुल्क वितरित कराने के अपने प्रयत्नमें भी वे सफल हो सके हैं, यह और भी प्रसन्नताकी बात है। इस सत्कार्यमें जिनका सहयोग प्राप्त हुआ है वे सभी धन्यवादके पात्र हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
३० सतम्बर १९६३

दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य, एम० ए०)
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट

सम्पादकीय

यह 'तत्त्वानुशासन' ग्रन्थ जबसे माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला-के 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह' नामक १३ वें ग्रन्थमें सर्वप्रथम (विक्रमाब्द १९७५ में) मूलरूपसे प्रकाशित हुआ है तभीसे बराबर मेरे अध्ययनका विषय रहा है और मैंने इसके संशोधन तथा सम्पादन-कार्यको अनेक प्रतियोंका प्रयत्नपूर्वक आयोजन करके सम्पन्न किया है; जैसा कि प्रस्तावनाके द्वितीय अधिकार ('ग्रन्थकी प्रतियोंका परिचय')से प्रकट है। और उसके द्वारा मुद्रित मूलपाठकी अशुद्धियोंका ही नहीं बल्कि ग्रन्थ-कर्तृत्वके विषयमें जो बहुत बड़ी भ्रान्ति चल रही थी, उसका भी सुधार हुआ है। ग्रन्थमें सर्वत्र मूलपाठको अपने शुद्धरूपमें रक्खा गया है, अशुद्धरूप तथा भिन्न पाठोंको पाद-टिप्पणियों में, उन-उन प्रतियोंके संकेतचिह्नपूर्वक, दे दिया गया है, जिनमें वे पाये जाते हैं। इससे विज्ञ-पाठकोंको उन प्रतियोंके मूलरूपको भी समझनेमें सहायता मिलेगी और वह गलती भी पकड़ी जा सकेगी जो कहीं मूलपाठके ग्रहण में हुई हो।

इस ग्रन्थका अनुवादकार्य, जिसे करनेकी बहुत दिनोंसे इच्छा चल रही थी, श्रावण शुक्ला पंचमी गुरुवार ता० २८ जुलाई १९६० को हाथमें लिया गया और वह कोई एक महीनेमे ही ३१ अगस्त १९६० को पूरा हो गया। व्याख्याका कार्य प्रथमपद्यसे ५ अक्तूबर १९६० से प्रारम्भ हुआ। वह कभी चला, कभी-कभी परिस्थितियोंके वश अर्से तक बन्द रहा और उसका कोई एक क्रम भी नहीं रहा—जिन पद्योंकी व्याख्या-का जब अवसर मिला तभी उसे लिख लिया गया। और इस तरह वह प्रायः दिसम्बर १९६१ में समाप्त हो पाई है। मूलानुगामी अनुवादको ब्लैक टाइपमें रखा गया है और उसके यथावश्यक स्पष्टीकरणको तदनन्तर डैशों-(— —) के भीतर अथवा डैश (—) पूर्वक दूसरे भिन्न एवं सफेद टाइपमें दिया गया है। इससे पाठकोंको मूलग्रन्थके सन्दर्भ, शब्द-अर्थ-विन्यास तथा आत्माको समझनेमें अच्छी मदद मिलेगी।

अब मैं, अपने वक्तव्यको समाप्त करता हुआ, उन सब ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों, एवं लेखों और लेखकोंका हृदयसे आभार मानता हूँ जिनके

वाक्योंका इस भाष्यके निर्माणमें कुछ भी सहयोग मिला अथवा उपयोग हुआ है। न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया और पं० दीपचन्द-जी पाण्ड्याने भाष्यका एकाग्रताके साथ अलग-अलग अवलोकन किया है, इस कृपाके लिए मैं दोनोंका आभारी हूँ। जिन विद्वानों तथा अन्य सज्जनोंसे मुझे ग्रन्थादिक-सामग्रीकी प्राप्ति अथवा किसी सूचना-विशेष-की उपलब्धि हुई है उन सबका आभार मैं प्रस्तावनामें यथास्थान व्यक्त कर चुका हूँ। उनमें तीन सज्जनोंके नाम शेष रहे हुए हैं—एक ला० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीका, जिन्होंने मुझे धर्मरत्नाकर और विद्या-नुसाशनादि ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियोंको शास्त्रभण्डारोंसे लाकर दिया है; दूसरे ला० मनोहरलालजी जौहरी दिल्लीका, जिनके शास्त्र-भण्डारसे मुझे विद्यानुशासनका हिन्दी अनुवाद आदि कई ग्रन्थ देखनेको मिले हैं; तीसरे पं० अमृतलालजी दर्शनाचार्य बनारसका, जिनसे शासन-विषयक कुछ ग्रन्थ-वाक्योंकी सूचना प्राप्त हुई है। इन तीनोंका भी मैं यहाँ आभार व्यक्त करता हूँ।

ट्रस्टमन्त्री पं० दरबारीलालजीकी प्रेरणाको पाकर डा० मंगलदेवजी शास्त्रीने, अनेक कार्योंमें व्यस्त होते हुए भी समय निकालकर, 'प्राक्कथन' लिखनेकी जो कृपा की है उसके लिये मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस अवसरपर मैं डा० ए० एन० उपाध्येजीको नहीं भुला सकता, जिन्होंने मेरी प्रेरणाको पाकर मुद्रित भाष्यको पूरा पढ़ जाने और उस पर अंग्रेजीमें अपना सुन्दर आमुख (preface) लिखकर भेजनेकी कृपा की है। इसके लिये मैं उनका खास तौरसे आभारी हूँ।

अन्तमें साहू शीतलप्रशादजीको मैं अपना हार्दिक धन्यवाद अर्पण करता हूँ, जिन्होंने मेरी प्रेरणा और बाबू छोटेलालजीके परामर्शसे अपने पिताजीके द्वारा संस्थापित देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट नजीबाबादकी ओरसे इस अनुपम ध्यानशास्त्रके निःशुल्क वितरणका आयोजन किया है।

दिल्ली, २५ सितम्बर १९६३
आश्विन शु० ७ सं० २०२०

जुगलकिशोर मुख्तार

PREFACE

The term *anuśāsana* as a second member in the titles of works is quite common in various branches of Indian literature like grammar (Śabdānuśāsana), poetics (Kāvyānuśāsana), metrics (Chandonuśāsana), religious and didactic anthology (Ātmānuśāsana) etc. The present text, the Tattvānuśāsanam, is intended to instruct the fundamental religious principles as they are. It expounds what is *upādeya* and what is *heya*. All that leads to worldly bondage is *heya*, and whatever contributes towards the attainmet of liberation is *upādeya*. This takes one to the explanation of sentient and non-sentient principles (*jīva* and *ajīva*) and their interaction and its causes. 'From the vyavahāra point of view, *samyaktva* consists in accepting the fundamentals of religion, *jñāna*, in knowing the same, and *caritra*, in practising the penances; and these three constitute the path leading to Liberation. From the *niścaya* point of view, however, the cause of liberation is the saint himself who has evolved in himself the above qualities. A monk who is detached and realizes himself, by himself and in himself is the veritable occasion of liberation. Such attainment is possible in *dhyana* or meditation, to the exposition of which the major part of this work is devoted.

Dhyāna is of four kinds: *arta*, *raudra*, *dharma*, and *śukla*. It is the last two which are *upādeya*, deserving acceptance, on the path of *mokṣa* or liberation. Dharm-dhyāna is explained in its eight aspects. In *dhyāna* there is unruffled concentration

of mind, and it is helpful in destroying the Karmas. The author shows the ways and means of concentration of mind. To attain this, the Mahāmantra is to be meditated upon in a number of contexts; and various other topics are to be reflected on. It is this meditation with a balanced mind that leads one to self-realisation. The author expounds the various accessories, procedures, attainments etc. in the cultivation of Dhyāna which leads to the highest bliss of Liberation for which there is no comparison (See the Intro. pp. 59 f. for a detailed summary of the work).

This short and cursory resume of the Tattvānuśāsana clearly indicates that the main object of the author is to propound *dhyāna* in its various details. That is why this work is called Dhyāna-śāstra or Dhyāna-grantha as well.

In the year 1918, as a part of the thirteenth volume of the Māṇikachandra-Digambara Jaina granthamālā, Bombay, the text of the Tattvānuśāsanam was published from a single Ms. On account of a faulty reading, the late lamented Pt. Nathuramaji Premi was led to take Nāgasena as its author; but he rightly observed that the work was very important (*mahattvaka*) and of great merit (*ucca koṭikā*) and assigned it to a period earlier than Āśādhara who quotes it in his commentary on the Iṣṭopadeśa which was completed by him some time before Vikrma Saṁvat 1285 (–57= A. D. 1228). Then it was published by the Bhāratiya Jaina-Siddhānta-prakāśinī Saṁsthā, Calcutta, with the Hindi translation of Pt. Lalaramaji. No attempt was made in this edition to improve the text with

the help of additional Ms. material. This was followed by one more Hindi translation of Shri Dhanyakumar Jain, in 1946. Obviously, it showed no advancement in the constitution of the text. Then it is published by the Jaina Sāhitya Vikāsa Maṇḍala, Bombay, in 1961, with Gujarati translation (see also Namaskāra-Svādhyāya, p. 7 of the Nivedana and pp.223 ff., published by the same Maṇḍala, 1962). The translator has realised the value of the contents of this work; but excepting some minor corrections here and there, he follows the text of the earlier edition (See Intro. pp. 81 ff).

Pandit Jugalkishore Mukhtar was attrached by this important work almost from 1920; and since long, he wanted to bring out a critical edition of it along with a thorough study of its contents. In 1920 he rightly pointed out that the name of the author was Rāmasena and not Nāgasena. in an article in the Jaina Hitaishī. The subsequent editions did not take note of it; and it was left to Pt. Jugalkishoreji himself to bring out an edition with the correct name of the author. With the advance of age, lately, he is showing more of spiritualistic and meditational inclination in his writings; and today, we have here a worthy edition of the Tattvānuśāsana which fully testifies to his mature scholarship, indefatigable industry and argumentative zeal.

For the present edition, besides the printed text, Panditaji has used some five Mss. i) *A* from Jaipur; ii) Ju a transcript of the Arrah Ms; iii) *Si*, the orginal of *Ju*; iv) *Ja* from Jaipur; and v) *Me* from Amer. All these Mss. are duly described by him (see the Intro. pp.2 f.) and important readings are

noted in the foot-notes while explaining the text.

The Tattvānus'āsana in view of its valuable exposition of Dhyāna deserved a deep study and through explanation of its contents in the light of corelated works. Panditaji has given us here a systematic translation of the text. Every verse, in addition, is accompanied by what he calls Vyākhyā in which the specialities of its contents are explained in a thorough and learned manner. To substantiate his exposition, Panditaji has given in its footnotes helpful quotations in many places. In fine his Vyākhyā is a deep study of a number of topics connected with this text. It deserve to be studied with particular care by all those who are interested in the Dhyānas'āstra, elaborated in the back ground of Jaina idealogy. Though Rāmasena's work was neglected for a long time, it found at last a worthy interpreter in Pt. Jugalkishoreji whose study of this work extends over a number of years and is completed at his ripe age of eightyfive.

Panditaji has added a lengthy Introduction which is divided into ten sections and is full of details. In the First, it is pointed out that the name of the work is Dhyānasāstra or Dhyānagrantha, besides the Tattvānusāsanam. In the Second, the various Mss. are described. Sections Three to Five are devoted to the author's name, individuality and date. Section Six, discussed about the Teachers of the author. Section Seven gleans from traditional sources some details about Rāmasena Section Eight presents a running summary of the Tattvānus'āsana, Section Nine takes a critical review of the earlier editions and translations. Lastly, Section

Ten is an Upasaṁhārā with personal touches.

Rāmasena, the author of the Tattvānusāsana, was initiated into the ascetic order by Nāgsena; and he recieved instructions in scriptural knowledge from Vīracandra, S'ubhadeva, Mahendradeva and Vijiyadeva. There might have been many teachers bearing the name Nāgasena: at least five of them of distinct personality, so far known, have been listed (Intro. pp. 14-5).

Rāmasena shows in his Tattvānus'āsana the influence of the works of earlier authors like Kundakunda, Umāsvāti, Samantabhadra, Pūjyapāda, Akalanka and Jinasena. This Tattvānus'āsana is specifically quoted by As'ādhara who completed his commentary on the Iṣṭopades'a some time before A. D. 1228. So Rāmasena must have flourished some time between Jinasena and As'ādhara.

Some of the expressions of Rāmasena remind us of similar contexts in the Uttarapurāṇa and Ātmānus'āsana of Guṇabhadra whose former work was completed some time before 897 A. D. Jayasena in his commentary on the Pancāstikāya and Brahmadeva in his commentary on the Dravyasaṁgraha specifically mention this Tattvānus'āsana. Further, some of the expressions of Hemacandra in his Yogas'āstra, of Nemichandra Siddhāntadeva in his Dravyasaṁgraha, of the other Jayasena in his Dharmaratnākara (1055 Vikrama saṁvat), of Amitagatis (I and II) in their Upāsakācāra and Yogasāra, and of Devasena in his Ālāpa-paddhati remind us of similar contexts in the Tattvānus'āsanam. It also appears that the Tattvānus'āsana shows the influence of the Tattvārthasāra of of Amṛta-

candra. Taking all these points into account, Pt. Jugalkishore assigns Rāmasena circa probably to the last quarter of the tenth century of the Vikrama era.

After thus assigning Rāmasena to the 10th century of the vikrama era, Pt. Jugalkishore proposes identification of his teacher Mahendradea with one of that name who is mentioned by Somadeva in his Nītivākyāmṛta. This identification he takes as *suniścita*, i. e., definite and certain. If any one had reached a conclusion like this, Pt. Jugalkishore Mukhtar would have perhaps argued with his usual pleader's zest like this: i) we do not possess the census of all the Mahendradevas in the tenth century of the vikrama era, and it cannot be ruled out that there was some other Mahendradeva also at that time than the one mentioned by Somadeva; ii) it is well-known that very often teachers having the same name flourihsed at one and the same time; iii) Somadeva has not indicated that Mahendradeva had a pupil by name Rāmasena; lastly, iv) Rāmasena has not described his teacher Mahendradeva with the titles, *bhaṭṭarraka* and *vādindra-kālānala.* So this proposed identity is based primarily on the similarity of name and nothing more; thus it is a matter of probablity and not certainty.

Pt. Jugalkishore has taken S'rīvijaya and Vijayadeva as identical names. He identifies, therefore, Vijayadeva with one S'rivijaya (after ruling out other known S'rīvijayas) who is mentioned by Padmanandi in his Jambūdvīpannatti and who belongs approximately to the period to which Rāmasena is assigned (Intro. p. 48.)

About Vīracandra and S'ubhadeva no additional information is available. About Nāgsena, the Dīkṣā-guru, he has ruled out other teachers of that name known to us; and he suggests that the corrupt reading Noyaguru stands for Nāgaguru in one of the Gurvāvalīs of the Kāṣṭhā Saṁgha, Nanditaṭa Gaccha. (See Intro. p. 15, 49 f.). As Rāmasena has not mentioned his Saṁgaha or Gaccha, this proposed identity also is a matter of probability.

The Introduction is more than exhaustive; and it contains otherwise useful details even to show that they are not relevant to the point at issue. They would, however, be useful to other workers in kindered fields of study.

In course of his discussions, Pt. Jugalkishore has reached or assumed certain conclusions which merit special attention. i) Nemicandra-Gaṇi, - Muni or Siddhāntadeva and Nemicandra Siddhānta-Cakravarti are two distinct individuals. The former is the author of the Dravyasaṁgraha and the latter, of the Gommaṭasāra; and these two works, of different authorship, show some difference in doctrinal enumeration. It is a matter of futher investigation whether the evidence adduced justifies the conclusion arrived at. One fact may be noted here that one Padmanandi is called both Siddhāntadeva and Siddhāntacakravarti in an inscription (E. C., VIII, Sorab, No. 26X). ii) Brahmadeva, the author of the Sanskrit commentary on the (Bṛhat) Dravyasaṁgraha is put as a contemporary of the Paramāra ruler Bhojadeva, Mhāmaṇḍales'vara S'rīpāla, the banker Soma & Nemicandra Siddhāntdeva, the author of the Dravyasaṃgraha. iii)

Jayasena's reference to the Dravyasamgraha and Soma-s'resthin is taken as his acquaintence of Brahmadeva's commentary. What is obvious from Jayasena's remark is that he knew that one Dravyasamgraha was composed for Soma, and that could be the text which has been lately brought to light. iv) Here and there negative evidedence is used, and this can be easily questioned as a methodological defect. If an author does not show acquaintance with a work, it should not necessarily mean that he was earlier in time: in a big country like that of ours with meagre communications of the middle ages, other alternatives are equally admissible.

All research is a progressive study. Authentic facts are more valuable than ingenious arguments, interpretations and construings which often melt away in course of time. We should, therefore, always have some regard for our predecessors who have brought relevant facts to light in the march of study. We are highly gratful to Pt. Jugalkishore Mukthar for giving us in this volume his solid and mature study of the Tattvānus'āsana along with a learned Introduction rich in details.

Dhavlā
Kolhapur : 4-7-63 A. N. Upadhye

प्राक्कथन

आचार्य पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' संस्थापक 'वीर-सेवामन्दिरका नाम अपनी गम्भीर विद्वत्ता, अनुसन्धान और विचार-सरणिके लिए न केवल जैनसमाजमें ही, अपितु उसके बाहर भी प्रसिद्ध है। पण्डितजी उन विरले विद्वानोंमेंसे हैं, जो शास्त्रोंके महान् उपदेशोंको वस्तुतः अपने जीवनमें उतारना चाहते हैं।

प्रकृत 'तत्त्वानुशासन' नामक ध्यानशास्त्रका उनके द्वारा प्रस्तुत सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्य देखकर उनकी असाधारण विद्वत्ता और साधनामय जीवनका चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। श्रीनागसेनसूरिके शिष्य श्रीरामसेनाचार्य-द्वारा विक्रम सं० की १० वीं शताब्दीमें प्रणीत यह ग्रन्थरत्न अपने विषयका एक अद्वितीय प्रतिपादन है, ऐसा नि सन्देश कहा जा सकता है। ग्रन्थ निश्चय ही अत्यन्त सरल भाषामें लिखा गया है, तथापि उसका विषय ऐसा है कि उसकी व्याख्या वही विद्वान् कर सकता है जो स्वयं आध्यात्मिक मार्गका पथिक है और सब प्रकारसे अनुभवके आधारपर उस मार्गकी कठिनताओं और अन्तरायोंसे तथा उनके प्रतीकारके उपायोंसे परिचित है। उक्त भाष्यको देखते ही स्पष्ट हा जाता है कि सौभाग्यसे इस अमूल्य ग्रन्थके उद्धार-कार्यको ऐसे ही व्यक्तिने अपने हाथमें लिया है।

कठोपनिषद्की सुप्रसिद्ध श्रुति है :—

> पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
> स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
> दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

अर्थात् मनुष्य स्वभावसे ही बहिर्मुख होता है और आत्मदर्शनमें प्रवृत्त नहीं होता। कोई धीर-वीर मनुष्य ही ऐसा होता है जो इन्द्रियोंके बाह्य विषयोंसे उपरत होकर अन्तरात्माके दर्शनमें दत्तचित्त होता है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्यजीवनका सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि वह वास्तवमें अपनेको पहचाने। मैं कौन हूँ? मेरे जीवनका परम लक्ष्य क्या है? यही प्रश्न है, जिसके समाधानके लिए ससारके सब धर्म और सम्प्रादाय प्रयत्नशील रहे हैं।

सब धर्मोंमें निश्चय ही अध्यात्मका विशेष स्थान है, परन्तु जैनधर्मकी प्रारम्भसे ही बड़ी भारी विशेषता यह रही है कि उसका नेतृत्व लौकिक स्वार्थसिद्धिसे असम्पृक्त तथा विश्वकल्याणको चाहनेवाले, वास्तमें

"आन्तराणामरातीनां विजयव्रत-धारिणाम्।
भवबन्धविनाशार्थं मुनीनां धर्मचारिणाम्॥" (रश्मिमाला)

ऐसे मुनिजोंके हाथमें रहा है। यह बात सब धर्मोंमें देखनेमें नहीं आती। यही कारण है कि अन्तर्दृष्टि और आत्मसमीक्षणका जितना अधिक विचार जैनधर्मके अध्यात्म-ग्रन्थोंमें मिलता है उतनी मात्रामें कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

प्रकृत पुस्तक ऐसी ही कृति है। वास्तवमें अध्यात्ममार्ग वह स्थिति है जहां विभिन्न धर्मों की समस्त पारिभाषिकताएँ समाप्त हो जाती हैं। वहाँ पहुँचकर 'प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च' इस तरहके विचारोंके लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। उस अवस्थामें साम्प्रदायिक धरातलसे ऊपर उठकर साधक

भाषा सीमामतिक्रम्य ज्ञानगम्यं कथञ्चन।
स्वयम्भु वस्तुतो नाम्ना रहितं तद्धि वर्तते॥ (रश्मिमाला)

ऐसा अनुभव करने लगता है

प्रस्तुत पुस्तक वास्तवमें इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर लिखी गई है। इसमें ग्रन्थकारने अपने अनुभवके साथ-साथ ध्यानके सम्बन्धमें जहाँ भी जो उपयोगी विचार पाये हैं उनका उदार-

दृष्टिसे सन्निवेश किया है। इसलिए पुस्तकमें यत्र-तत्र पातञ्जलि-योगदर्शन तथा तान्त्रिक वाङ्मय आदिसे भी ध्यानके विषयमें आवश्यक संकेतोंको आत्मसात् कर लिया गया है। विद्वान् भाष्य-कर्त्ताने अपनी टिप्पणियोंमें यत्र-तत्र इस बातको स्पष्ट कर दिया है।

वास्तवमें आधुनिक युगकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि ज्ञान और विज्ञानके क्षेत्रमें हमारे विद्वान् साम्प्रदायिकताकी पारि-भाषिकता तथा संकीर्णताके धरातलसे ऊँचे उठकर उदारदृष्टिसे अपने-अपने विषयके विवेचनमें प्रवृत्त हों। मानवका कल्याण इसी उदारदृष्टिमें निहित है।

यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अपने विषयमें अत्यन्त उपादेय होनेके साथ-साथ उक्त दिशामें भी एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करेगा, ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

अन्तमें आध्यात्म-विषयक अपने निम्न पद्योंसे, प्रकृत ग्रन्थकी पुष्पाञ्जलिके रूपमें, हम इस प्राक्कथन को समाप्त करते हैं :—

सद्भावना-प्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरं ।
सर्वलोकसमाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥
प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च ।
पृथ्वी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥
मोहेन तमसा हीनमानन्द-रस-निर्भरम् ।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥

(जीवनज्योति)

वाराणसी
दिनाङ्क १४-४-६३

(डा०) मङ्गलदेव शास्त्री
एम० ए०, डी० फिल०
(पूर्व उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय)

प्रस्तावनाका संशोधन

प्रस्तावनाके छपनेमें प्रेसकी असावधानीसे कुछ अशुद्धियां हुई हैं, जिनमें बिन्दुमात्रादिकी साधारण अशुद्धियोंको छोड़कर शेषका संशोधन इस प्रकार है :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	४	१४३	१४६
,,	७	यथा	तथा
७	३	सवित्व	सचिवत्व
,,	१०	दो पत्रों	दो पद्यों
१०	५	१२	१४
११	१७	हैं।	हैं।"
१३	१३	पट्टप्रस्थायक	पट्टप्रस्थापक
२०	२६	१२७	१३७
२५	१५	१२वीं	१३वीं
२७	५	११०७	१११७
३४	१३,१४	प्रायः, प्रायः	प्रायः[१] प्रायः[२]
,,	२४	१ २	१, २
३६	१६	मद्दारका—	भट्टारका-
,,	१०	(दाग्रपत्र)	(दानपत्र)
४०	१४	सुनिश्चित	प्रायः सुनिश्चित
४१	२३	किया है[१]।	किया है[२]।

नोट—इस पृष्ठ ४१ का फुटनोट नं० २ अगले पृष्ठ पर नं० १ के रूपमें छपा है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३, ४५	८, २५	Slighty earliar	Slightly earlier
५५	२	'विबोधपतिराट्'	'विबोधयतिराट्'
६६	१५	(७९)	(७८)

प्रस्तावना

१. ग्रन्थका नाम

इस ग्रन्थका मूल नाम 'तत्त्वानुशासन' है; जैसा कि ग्रन्थके 'वक्ष्ये तत्त्वानुशासनम्' इस प्रतिज्ञावाक्य (१) और 'तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटार्थम्' इस उपसंहार-वाक्य (२५७) से प्रकट है। और यह ठीक ही है; क्योंकि ग्रन्थका विषयारम्भ ही हेय तथा उपादेय ऐसे दो मूल तत्त्वोंकी प्ररूपणाको लेकर हुआ है, जिसमें बन्ध-मोक्षादि सारे तत्त्वोंके कथनको समाविष्ट किया गया है। वस्तुके याथात्म्यको—चेतन या अचेतन जो भी वस्तु जिस प्रकारसे व्यवस्थित है उसके उसी प्रकारके भावको—'तत्त्व' बतलाया है (१११), और इसलिए इस ग्रन्थका जो भी कथन है वह सब वस्तुके याथात्म्यकी दृष्टिको लिये हुए होनेसे तात्त्विक है और ग्रन्थके 'तत्त्वानुशासन' नामको सार्थक करता है।

तत्त्वानुशासनके रूपमें इस ग्रन्थका प्रधान विषय 'ध्यान' है। प्रारम्भके ३२ पद्योंको छोड़कर शेष सारा ग्रन्थ प्रायः ध्यानसे ही सम्बन्ध रखता है। ध्यान-द्वारा व्यवहार तथा निश्चय दोनों प्रकार-का मोक्षमार्ग सिद्ध होता है, इस विषयकी सूचना करते हुए ३३वें पद्यमें सुधीजनोंको ध्यानके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है और उसके बादसे ही ध्यान-विषयक कथनका प्रारम्भ हुआ है, जो उपसंहार-पर्यन्त चला गया है; जैसा कि उपसंहारके निम्न पद्यसे भी जाना जाता है.—

> सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन् मोक्षः स ध्यान-पूर्वकः
> इति मत्वा मया किंचिद् ध्यानमेव प्रपंचितम् ॥ २५२ ॥

ध्यानके ही प्रपंचन अथवा विस्तृत कथनको लिए हुए होनेसे, इस ग्रन्थको 'ध्यान-शास्त्र' भी कहते हैं। इसीसे कुछ ग्रन्थकारोंने 'ध्यानशास्त्र' अथवा 'ध्यानग्रन्थ'के रूपमें इसका उल्लेख किया है, जैसा कि पंचास्तिकाय (गा० १४३) की तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यके 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासन-ध्यानग्रन्थे' इस वाक्यसे प्रकट है, जिसके साथ ग्रन्थका 'चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य सम्प्रति' इत्यादि पद्य (८६) उद्धृत किया है। परमात्मप्रकाश-टीकामें ब्रह्मदेवने भी 'यथा चोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे' इस वाक्यके साथ 'यत्पुनर्वज्रकायस्य' इत्यादि पद्य(८४) उद्धृत किया है। ध्यानग्रन्थकी अपेक्षा 'ध्यानशास्त्र' नाम अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। भगवज्जिनसेनाचार्यने भी अपने ध्यानतत्त्वानुवर्णन (आर्ष पर्व २१) को 'ध्यानशास्त्रके नामसे उल्लेखित किया है[१]। इस तरह 'तत्त्वानुशासन' और 'ध्यानशास्त्र' ये दोनों ही इस ग्रन्थके सार्थक नाम हैं।

२. ग्रन्थकी प्रतियोंका परिचय

यह ग्रन्थ आजसे कोई ४४ वर्ष पूर्व (विक्रमाब्द १९७५) सबसे पहिले माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके 'तत्त्वानुशासनादि-संग्रह' नामक त्रयोदशवें ग्रन्थमें मूलरूपसे प्रकाशित हुआ है। जिस हस्तलिखित प्रतिपरसे यह प्रकाशित हुआ है वह बम्बई-दिगम्बरजैन-मन्दिर-पुस्तकालयके एक जीर्ण-शीर्ण गुटकेमें संगृहीत है। 'उसीपरसे इस ग्रन्थकी प्रेस-कापी कराई जाकर और दूसरी प्रतिके कहींसे न मिलनेके कारण, उसी एक प्रतिके आधारसे संशोधन कराया जाकर यह ग्रन्थ मुद्रित हुआ है,' ऐसा ग्रन्थमालाके मंत्री पं० नाथूरामजी प्रेमी अपने 'संक्षिप्त परिचय' में सूचित करते हैं। बम्बई दिगम्बर जैन-मन्दिरकी वह मूल प्रति अपने देखनेमें नहीं आई, इससे उसका कोई

---

१. तदस्य ध्यानशास्त्रस्य यास्ता विप्रतिपत्तयः।
निराकुरुष्व तां देव भास्वानिव तमस्ततीः॥ आर्ष २१-२१६।

विशेष परिचय यहाँ नहीं दिया जा सका। उसके आधारपर मुद्रित हुई प्रति जब बहुत कुछ अशुद्ध है, जैसा कि तुलनात्मक फुटनोटों (पाद-टिप्पणियों) से जाना जाता है, तब उस बम्बई (मुम्बई) प्रतिका अशुद्ध होना भी स्वतः सिद्ध है। उक्त मुद्रित प्रतिको यहाँ 'मु' संज्ञा दी गई है, जिसमें मुम्बईकी वह हस्तलिखित प्रति भी शामिल है।

मुद्रित प्रतिके अशुद्ध पाये जानेपर मेरे हृदयमें, ग्रन्थके महत्त्वको देखते हुए, उसी समयसे दूसरी शुद्ध प्रतियोंको प्राप्त करनेकी इच्छा जागृत हो उठी और प्रयत्नके फलस्वरूप मुझे एक अच्छी प्रति सन् १६२० में जयपुरसे प्राप्त हो गई, जो प्रायः शुद्ध जान पड़ी और इसलिये मैंने अपनी मुद्रित प्रतिमें उसके पाठान्तरोंको नोट कर लिया और मुद्रित प्रति पर सुर्खीसे लिख दिया—"जयपुरकी प्रतिपरसे संशोधन किया गया।" इसके सिवाय मैंने उस प्रतिका और कोई परिचय उस समय नोट नहीं किया। दो तीन वर्षसे मैंने उस प्रतिको परिचयके लिए, फिरसे प्राप्त करनेका प्रयत्न किया और पं० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एम०ए० को कितने ही प्रेरणात्मक पत्र लिखे, परन्तु उत्तर यही मिलता रहा कि तलाश करनेपर भी जयपुरके किसी भंडारमें वह प्रति अभी तक मिल नहीं रही है। स्वर्गीय मास्टर मोतीलालजी सिंघीका शास्त्रभंडार बन्द पड़ा है, वह खुल नहीं पाया, जिसमें उक्त प्रतिके मिलनेकी बड़ी संभावना थी; क्योंकि सिंघी मास्टर जी एक बड़े ही उद्योगशील एवं परोपकारी पुरुष थे, वे एक-एक ग्रन्थकी कई-कई प्रतियाँ अपने संग्रहमें रखते थे, लोगोंको उनके घर तक जाकर ग्रन्थ-प्रति स्वाध्यायके लिये दिया करते थे और स्वाध्याय हो जाने पर प्रायः स्वयं ही जाकर उसे ले आया करते थे। बहुत संभव है कि उन्हींके द्वारा तत्त्वानुशासनकी वह प्रति मुझे भेजी गई हो। अस्तु, ग्रन्थके न मिलनेसे उसका कोई विशेष परिचय नहीं दिया जा सका। उस प्रतिको मैंने आदर्श प्रति माना है, और इसलिये उसको 'आ'

संज्ञा दी गई है। ग्रन्थका अधिकांश संशोधन-कार्य उसीके आधारपर हुआ है।

उक्त आदर्श जयपुर-प्रतिकी प्राप्तिके आस-पास ही (कुछ आगे पीछे) मुझे इस ग्रन्थकी एक दूसरी प्रति स्व० बाबू देवेन्द्रकुमारजीने जैनसिद्धान्त-भवनकी प्रतिपरसे नकल कराकर भेजी थी, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ, और जो इस समय भी मेरे पास मौजूद है। यह प्रति शास्त्राकार खुले पत्रोंपर है, जिनकी संख्या ११ और लम्बाई १२½ इंच तथा चौड़ाई ७½ इंच है। पहले और अन्तके दोनों पत्रोंकी पीठ खाली है। पहले पत्रपर १२ और अन्तके पत्रपर कुल दो पंक्तियाँ हैं, शेष पत्रोंके प्रत्येक पृष्ठपर ११-११ पंक्तियाँ हैं, जिनमें अक्षर-संख्या प्रति-पंक्ति प्रायः ३८ से ४१ तक पाई जाती है। यह प्रति बहुत कुछ अशुद्ध है और इसे 'जु' संज्ञा दी गई है। लेखनकाल इसपर अंकित नहीं है। लेखकने अपना नाम 'बापूराव जैन' दिया है और अपनेको साँगली-निवासी तथा पांगलगोत्रीय व्यक्त किया है; जैसा कि ग्रन्थप्रति-की निम्न अन्तिम पंक्तिसे जाना जाता है :—

"लिखितमिदं सांगलीनिवासीपांगलगोत्रीयबापूरावजैनेन।"

इस प्रतिके कुछ अंशों पर सन्देह होने और उन्हें आराके जैन सिद्धान्त-भवनकी मूल प्रतिसे जाँचनेके लिये मैंने हालमें (कोई डेढ़ वर्ष हुआ) सिद्धान्तभवनकी उक्त प्रतिको मँगाया था और वह मुझे बा० सुबोधकुमारजीके सौजन्यसे सहज ही प्राप्त हो गई थी, जिस-के लिये मैं उनका आभारी हूँ। इस प्रतिकी शास्त्राकार पत्रसंख्या १५ है। अन्तिम पत्रका द्वितीय पृष्ठ खाली है। पत्रके प्रत्येक पृष्ठ पर १० पंक्तियाँ और पंक्तियोंमें अक्षरोंका औसत प्रायः प्रति-पंक्ति ३० का जान पड़ता है। पत्रकी लम्बाई ११½ इंच और चौड़ाई ६ इंच की है। लिखाई साधारण और कागज फुलस्केप-जैसा है। यह प्रति कहीं-कहीं संशोधनको भी लिये हुए है, जो लिखनेके बाद उसी लेखक-द्वारा

मिलान करने पर किया गया मालूम होता है। दंडों आदिके रूपमें कहीं सुर्खी नहीं लगी। लिपिकाल और लिपिकारके नामादिकका उल्लेख, ग्रन्थ-समाप्तिके अनन्तर एक पंक्तिमें २५ संख्या-प्रमाण 'श्री' अक्षरको देकर, निम्न प्रकारसे किया गया है :—

"इदं पुस्तकं परिधाविसंवत्सरे उत्तरायणे अधिकआषाढमासे कृष्ण-पक्षे एकादश्यायां सौम्यवासरे द्वाविंशघटिकायां दिवा च बेणूपुरस्त (स्थ) पन्नेचारिस्ति(स्थि)त विद्वत्वामनशर्मणा पंचमपुत्र सदृगीति-केशवशर्मणेन लिखितं समाप्तमित्यर्थः श्रीजिनाय नमः ॥"

यह प्रति भी बहुत अशुद्ध है। लिपिकारको उस प्रतिके अक्षरोंका ठीक ज्ञान मालूम नहीं होता जिसपरसे प्रतिलिपि की गई है। इसीसे इसमें अ-आ, इ-ई, उ-ऊ जैसे मात्रादि के मोटे अशुद्ध पाठ भी पाये जाते हैं, जिन्हें तुलनामें प्रायः छोड़ दिया गया है। द-ध तथा द-थ का भेद भी कहीं-कहीं नहीं रक्खा गया, कही 'द्ध' को 'घ' के रूपमें ही लिखा है। कहीं द्वित्व अक्षरको द्वित्व न रखकर अकेला रक्खा है, कहीं अकेले अक्षरको द्वित्व बना दिया है और कहीं 'म्न' जैसे द्वित्व अक्षर को 'न्म' का रूप दे दिया है। यह सब कुछ होते हुए भी मुद्रित (मु) प्रति की अपेक्षा कई महत्वके पाठ भी इसमें उपलब्ध हुए हैं। सिद्धान्तभवनकी इस प्रतिको तुलनाके अवसर पर 'सि' संज्ञा दी गई है। 'मु' प्रति में इस प्रतिकी कुछ बहुत मोटी अशुद्धियोंको कहीं-कहीं सुधारा गया है और कहीं-कहीं नई अशुद्धियाँ भी की गई हैं।

जयपुरके शास्त्रभंडारोंकी छान-बीन करने पर, पं० कस्तूरचन्द-जी कासलीवालको दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तेरहपन्थीसे तत्त्वा-नुशासनकी एक प्रति मिली, जिसे उन्होंने मिलते ही मेरे पास भेजनेकी कृपा की। इसके बाद दो प्रतियाँ जयपुर-स्थित आमेरके भंडारसे भी प्राप्त हुई, जिनमेंसे उन्होंने एक जीर्ण-शीर्ण प्रतिको मेरे पास भेज दिया, दूसरीको अशुद्धप्रायः समझ कर नहीं भेजा। इस कृपाके लिये

मैं उनका बहुत आभारी हूँ। जयपुरकी उक्त प्रतिको 'ज' और आमेर-की प्रतिको 'मे' संज्ञा दी गई है। 'ज' प्रतिकी पत्र संख्या १४ है। प्रथम पत्रका पूर्व पृष्ठ खाली है। अन्तिम पृष्ठके द्वितीय पृष्ठ पर केवल दो पंक्तियाँ हैं—शेष भाग खाली है। वे दोनों पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(प्र० पं०) यायास्तु नः ॥ ५६ इति तत्त्वानुशासनं समाप्तमिति ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ संवतु १५६० (द्वि० पं०) वर्षे आषाढ वदि ७

पत्रकी लम्बाई १०$\frac{1}{2}$ इंच और चौड़ाई ४$\frac{3}{4}$ इंचके करीब है। पंक्तियोंका प्रति-पृष्ठ कोई एक क्रम नहीं है। प्रथम पत्रके द्वितीय पृष्ठ पर १२, दूसरे पत्रके दोनों पृष्ठों पर १०-१० पंक्तियाँ हैं। शेष पत्रों-के पृष्ठों पर ११-११ तथा १२-१२ और कुछ पर १३ पंक्तियाँ भी हैं। प्रति जीर्ण तथा पतले कागज पर है, जिससे एक तरफके अक्षर दूसरी तरफ़ कुछ छनेसे मालूम होते हैं। पंक्तियोंका एक समान क्रम न रहने-से ऊपर-नीचेका हाशिया भी छोटा-बड़ा हो गया है। लिपि साधारण है। लिपि-काल अन्तकी दोनों पंक्तियोंके अनुसार आषाढ वदि ७ संवत् १५६० है। अन्तका पत्र कुछ टूट गया—फट गया तथा अतीव जीर्ण-शीर्ण स्थितिमें है। इस प्रतिका मुद्रित (मु) प्रतिसे मिलान करनेपर जो महत्व-अमहत्वके पाठ-भेद उपलब्ध हुए हैं, उन्हें नोट कर लिया गया है। साधारण व-ब, स-श तथा मात्रा आदिके मोटे अशुद्ध पाठ-भेदों-को प्राय: छोड़ दिया है, जो बहुत हैं। यह प्रति साधारण तथा अशुद्ध होते हुए भी, इसमें भी उक्त बम्बईकी मुद्रित (मु) प्रतिके अशुद्ध पाठों-के स्थान पर कितने ही महत्वके शुद्ध पाठ उपलब्ध होते हैं, और इस लिये ग्रन्थके संशोधनमें इससे भी अच्छी मदद मिली है।

आमेर भण्डारकी उक्त 'मे' प्रतिकी पत्र-संख्या १३ है, जिनमेंसे पहला और तीसरा पत्र नहीं है। पत्रकी लम्बाई १०$\frac{1}{8}$ इंच और चौड़ाई प्राय: ४$\frac{9}{12}$ इंच है। उपलब्ध प्रत्येक पृष्ठ पर यद्यपि १०-१० पंक्तियाँ हैं परन्तु १२वें पत्रके द्वितीय पृष्ठ पर ११ पंक्तियाँ हैं। प्रति अति जीर्ण-शीर्ण है, नीचेकी ओरका हाशिया प्राय: टूट-फट गया है, ऊपरका

हाशिया भी खराब हालतमें है और दीमक-भक्षणका भी सब पत्रों पर प्रभाव है। जिन अक्षरोंके ऊपर रकार है वे ह्रिस्व हैं। लिखावट अच्छी है। दूसरे पत्रका प्रारम्भ "मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सविस्त्वमशिथियत् ॥१२॥" इस १२वें पद्यके उत्तरार्धसे होता है और समाप्ति 'आर्त्त रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्ज्यं–" इस ३४वें पद्यके प्रारंभिक अंशसे होती है। चौथे पत्रका प्रारम्भ "चिंतां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैव वर्त्तन ॥५७" इस पद्यांशके साथ और समाप्ति "संचिंतयन्ननुप्रे" इस ७९वें पद्यके प्रारम्भिक अंशके साथ होती है। इससे पहला और तीसरा पत्र जो गुम हैं, उनके ऊपरके ग्रन्थ-भागका सहज बोध हो जाता है। इस प्रतिमें दो पत्रों पर ७० का अंक पड़ जानेसे ७९वें पद्यको ७८वाँ लिखा है, और इसीसे ग्रन्थके अन्तमें पद्य-संख्या २५८ दी है, जब कि वह २५९ दी जानी चाहिए थी। अन्त में "इति तत्त्वानुशासनं समाप्त-मिति ॥छ॥" ऐसा लिख कर नीचे 'तत्त्वानुशासनं' के अनन्तर टूट देकर "श्रीनागसेनविरचितं" लिखा है, जो गलत है। यह प्रति ग्रन्थ-कर्त्ताके नामादिकी गलतियोंके रूपमें प्रायः मुद्रित (मु) प्रतिके समान है। कहीं-कहीं गलतियोंका जो सुधार है वह प्रायः जयपुरकी उस आदर्श प्रतिसे मिलता-जुलता है जिस परसे सर्वप्रथम मैंने अपनी मुद्रित प्रति पर सुधार-संशोधनका कार्य किया था।

इन परिचित और सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंसे भिन्न दूसरी भी कुछ ऐसी हस्तलिखित प्रतियाँ इस तत्त्वानुशासनकी कतिपय शास्त्र-भंडारोंमें उपलब्ध जान पड़ी हैं, जो अभी तक अपने देखनेमें नहीं आईं; जैसे (१) आमेरके शास्त्रभंडारकी दूसरी प्रति, (२) ब्यावरके ऐलक पन्नालाल-सरस्वती-भवनकी गुटकान्तर्गत प्रति, जिसका ६९वें पद्यकी व्याख्यामें कुछ उल्लेख भी किया गया है; (३) बम्बई-भूलेश्वरके ऐलक-पन्नालाल-सरस्वतीभवनकी प्रति नं० १६४३; (४) दिगम्बर भण्डार ईडरकी गुटका नं० ८४ के अन्तर्गत प्रति, और (५) मूडबिद्रीके

चारुकीर्ति-भट्टारक-ज्ञानभंडार (जैन मठ) की तीन प्रतियाँ नं० ६५, ३८६, ५७५[1]। पिछली ५ प्रतियों का डा० वेलणकर जिनरत्नकोश-से पता चला है। खोज करने पर दूसरे भी कुछ शास्त्रभडारोंमें इस ग्रन्थकी अन्य प्रतियोंके मिलनेकी संभावना है।

३. ग्रन्थकार : रामसेनाचार्य

इस तत्त्वानुशासन ग्रन्थके कर्ता रामसेन नामके विद्वान (आचार्य) हैं; जैसा कि ग्रन्थ-प्रशस्तिके निम्न पद्यसे जाना जाता है:—

तेन प्रबुद्धधिषणेन गुरूपदेशमासाद्य सिद्धिसुख-सम्पदुपायभूतम् ।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटा-र्थम् ॥२५७॥

ये, गुरूपदेशको पाकर बुद्धिके विकासको प्राप्त हुए, रामसेन नाम-के विद्वान कौन हैं, इसका अतिसंक्षिप्त परिचय ग्रन्थकारमहोदयने स्वयं प्रशस्तिके पूर्व पद्यमें अपने गुरुवोंके नामोंका उल्लेख-पूर्वक दिया है, जो इस प्रकार है:—

श्रीवीरचन्द्र-शुभदेव-महेन्द्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयाऽमरश्च ।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेनमुनिरुद्ध-चरित्र-कीर्तिः ॥२५६॥

इस पद्यके पूर्वार्धमें शास्त्र-गुरुवों (विद्यागुरुवों) का उल्लेख है, जिनके नाम हैं वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव। उत्तरार्ध-में दीक्षा-गुरुका उल्लेख है, जिनका नाम है 'नागसेन' मुनि और जिनके 'पुण्यमूर्तिः' तथा 'उद्धचरित्रकीर्तिः' ये दो विशेषण दिये गए हैं। 'यस्य'

---

१. श्री पं० के० भुजबली शास्त्री-द्वारा संकलित और सम्पादित 'कन्नड-प्रान्तीय ताडपत्र-ग्रन्थ-सूची' में मूडबिद्रीके जैन मठकी इन प्रतियोंके नम्बर ३२०, ७०६. ७५५ दिये हैं और इनकी पत्रसंख्या क्रमशः ११, १४,५ बतलाई है। साथ ही पत्रोंके साइज तथा पंक्तियों आदिकी भी सूचना की है।

पदके प्रयोगद्वारा, जिसका उत्तरवर्ती पद्य में प्रयुक्त हुए 'तेन' पदके साथ गाढ सम्बन्ध है, ग्रंथकारमहोदयने इन पांचोंको अपना गुरु सूचित किया है अर्थात् यह व्यक्त किया है कि 'जिसके अमुक-अमुक नामके चार विद्यागुरु और 'नागसेन' नामक मुनि दीक्षागुरु हैं उस रामसेनके द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया है।'

प्रथमतः प्रकाशित 'मु' प्रतिमें 'रामसेन' के स्थानपर फिरसे 'नागसेन' का नामोल्लेख है, जिससे ग्रन्थकारका वास्तविक नाम गड़बड़में पड़ गया। इतना ही नहीं, किन्तु दीक्षागुरुका नाम भी गड़बड़ा गया और ग्रन्थकारके वास्तविक दीक्षागुरु ही इस ग्रंथके कर्ता समझ लिये गये ! माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमालाके मंत्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'संक्षिप्त ग्रंथपरिचय'में लिख दिया:—

"इस (तत्त्वानुशासन) ग्रंथके कर्ता आचार्य नागसेन हैं। ग्रंथके अन्तमें वे अपने दीक्षागुरुका नाम **विजयदेव** और विद्या-गुरुओंका नाम **वीरचन्द्रदेव**, **शुभचन्द्रदेव** तथा **महेन्द्रदेव** बतलाते हैं।"

इस परिचयमें 'शुभदेव' के स्थान पर 'शुभचन्द्रदेव' नामकी कल्पना तो कर ली गई; परन्तु 'महेन्द्रदेव' के स्थानपर 'महेन्द्रचन्द्रदेव' नामकी कल्पना नहीं की गई ! साथ ही 'यस्य' पद का 'तेन' पदके साथ जो गाढ संबंध है उसका विचार छूट गया; जब तक इस गाढ सम्बन्धको हटाकर कोई दूसरा सम्बन्ध किसी अन्य पदके द्वारा बीचमें स्थापित नहीं किया जाता तब तक 'नागसेन' को दीक्षागुरुके पदसे अलग नहीं किया जा सकता। नागसेनको ही ग्रन्थकार मान लेनेसे दीक्षागुरुके लिये जो 'पुण्यमूर्तिः' और 'उद्यच्चरित्रकीर्तिः' ये दो विशेषण प्रयुक्त हुए थे वे स्वयं ग्रंथकारके लिये लागू हो जाते हैं। ग्रंथकार स्वयं गुरुको गौणकर अपने लिये उन विशेषणोंका प्रयोग करे, यह कुछ संगत मालूम नहीं होता। यह सब सोचकर मुझे इस ग्रन्थके घोषित कर्ताके नामके सम्बन्धमें सन्देह हो गया और इसलिये ग्रन्थकी दूसरी प्रतियोंको प्राप्त करनेकी इच्छा और भी बलवती हो उठी।

जब 'आ' और 'ज' संज्ञक प्रतियाँ मुझे मिल गईं और उनसे यह स्पष्ट जान पड़ा कि ग्रंथकारका नाम 'रामसेन' है—'नागसेन' नहीं। साथ ही पं० आशाधरजीके एक नाम-पूर्वक उद्धरणसे उसकी पुष्टि भी हो गई; तब मैंने सन् १९२० में 'तत्त्वानुशासनके कर्ता' नामसे एक लेख लिखा, जो जैनहितैषी भाग १२ के संयुक्ताङ्क १०-११ में पृ० ३१३ पर प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें दोनों प्रतियोंके पाठको स्पष्ट करते हुए लिखा था:—

"इस पाठके अनुसार दोनों (प्रशस्ति) पद्योंका अर्थ यह होता है कि—श्रीवीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव ये चारों जिसके शास्त्रगुरु अर्थात् विद्यागुरु थे और फिर पुण्यमूर्ति तथा उद्यचरित्रकीर्ति ऐसे श्रीनागसेनमुनि जिसके दीक्षागुरु हुए उस प्रबुद्धबुद्धि श्रीरामसेन नामके विद्वान्ने, गुरूपदेशको पाकर, यह सिद्धि-सुख-संपदाका उपाय-भूत और स्फुट अर्थको लिये हुए 'तत्त्वानुशासन' नामका ग्रंथ जगतके हितके लिये रचा है।' जहाँ तक हम समझते हैं यह अर्थ दोनों पद्यों-की शब्द-रचना-परसे बहुत कुछ सीधा, सुसंगत और प्राकृतिक मालूम होता है। विपरीत इसके, छपे हुए पाठको ज्यों-का-त्यों रखनेकी हालत-में, 'नागसेन' की पुनरावृत्ति बहुत खटकती है। 'सः' आदि शब्दोंको ऊपरसे लगाकर पहले पद्य (२५६) का अर्थ करना होता है और विजय-देवको खींच-खाँचकर नागसेन-मुनिका दीक्षागुरु बनाना पड़ता है। इसलिये हमारी रायमें जयपुरादि प्रतियोंका उपर्युक्त पाठ बहुत कुछ ठीक मालूम होता है और उसके अनुसार यह ग्रन्थ श्रीनागसेनमुनिका बनाया हुआ न होकर उनके दीक्षित-शिष्य श्रीरामसेन विद्वानका बनाया हुआ जान पड़ता है। पं० आशाधरजी भी अपने अनगारधर्मामृतके ९ वें अध्याय में, इस ग्रंथका एक पद्य 'रामसेन' के नामसे उद्धृत करते हैं। वह उद्धरण इस प्रकार है :—

'तथा श्रीमद्रामसेनपूज्यैरप्यवाचि—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-संपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥" (८१)

इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि यह ग्रन्थ 'नागसेन'का नहीं, किन्तु 'रामसेन' का बनाया हुआ है। 'नाग' और 'राम' ये दोनों शब्द लिखनेमें बहुत कुछ मिलते-जुलतेसे मालूम होते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थोंके पत्र वर्षा आदिके कारण अक्सर चिपट जाया करते हैं और उनको छुड़ानेमें किसी-किसी अक्षरका कुछ भाग उड़कर उसकी आकृति बदल जाया करती है। ऐसी हालतमें यदि किसी लेखकने 'राम' के स्थानपर 'नाग' पढ़कर वैसा लिख दिया हो तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। और यह भी संभव है कि पहले पद्यमें जो नागसेन लिखा था उसीके खयाल तथा संस्कारसे दूसरे पद्यमें भी नागसेन लिखा गया हो और इस तरहपर लेखकसे भूल हुई हो। तत्त्वानुशासनकी इस छपी हुई प्रतिमें वैसे भी पचासों अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। यदि बम्बईके मन्दिरकी वह प्रति बिल्कुल इसीके मुताबिक है तो कहना होगा कि वह प्रति बहुत कुछ अशुद्ध है और उसमें ऐसी भूलका हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।"

इसके सिवाय, यह भी लिखा था कि "पं० आशाधारजीने इन (रामसेन) के लिये बहुवचनान्त 'पूज्य' शब्दका प्रयोग किया है, जिससे ये कोई बड़े आचार्य मालूम होते हैं। अब यह बात और भी स्पष्ट हो गई है। पं० आशाधरजीने भगवती आराधना (मूलाराधना) की टीका-में, इस ग्रन्थके कितने ही पद्योंको उद्धृत करते हुए, एक स्थानपर (गा० १७०७ की टीका में) "तत्र भवन्तो भगवद्रामसेनपादाः" इस वाक्यके साथ तत्त्वानुशासनके 'यथोक्तलक्षणो ध्याता' से लेकर 'स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये' तक सात पद्य उद्धृत किये हैं, जो ग्रंथमें नं० ८९ से ९५ तक पाये जाते हैं, और इस तरह ग्रंथकार रामसेनके वचनोंको भगवान रामसेनके वचन सूचित करके उन्हें भगवज्जिन-सेनाचार्य-जैसा गौरव प्रदान किया है। अतः वे एक बहुत ही बड़े आचार्य थे, इस कथनमें अब कोई सन्देह नहीं रहता। प्रस्तुत कृति भी उनके

इसी महत्त्वको सूचित करती है। अनेकानेक प्रतियोंके सामने आ जाने और उनमें ग्रंथकारका नाम रामसेन मिलनेसे ग्रन्थके रामसेन-कृत होनेमें भी अब विवाद के लिये कोई स्थान नहीं रहता। खेदका विषय है कि पं० नाथूरामजी प्रेमीने मेरे उक्त लेख-परसे ग्रन्थकर्ताके नामकी गलतीको मान तो लिया था, परन्तु वे उसके सुधारकी कोई सूचना मुद्रित प्रतियोंमें न लगा सके। इसलिये गलती बराबर रूढ होती चली गई—किसी भी अनुवादके अवसर पर उसका सुधार नहीं हुआ—और उसने कितने ही पाठकोंको भ्रमके चक्करमें डाला तथा गलत उल्लेखोंको अवसर दिया है!! हालमें एक गलत उल्लेखकी सूचना पाकर श्री डा० ए० एन० उपाध्यायने अपने ५ मई १९६१ के पत्रमें ठीक ही लिखा है कि 'जब तक मुद्रित मूल ग्रंथ पर नागसेनका नाम (ग्रंथकारके रूपमें) चल रहा है तब तक ऐसी गलतियाँ (गलत उल्लेख) अनिवार्य (inevitable) हैं।

४. रामसेनाचार्यका परिचय और समय

ग्रन्थकारमहोदय श्रीरामसेनाचार्यने, ग्रन्थ-प्रशस्तिमें, अपना जो संक्षिप्त परिचय पाँच गुरुओंके नामों और अपने दो साधारण विशेषणोंके उल्लेख-रूपमें दिया है उससे अधिक दूसरा कोई विशेष एवं स्पष्ट परिचय अभी तक ऐसा उपलब्ध नहीं हो सका जिससे यह मालूम होता कि वे किस संघ, गण या गच्छके आचार्य थे, कौन-कौन उनके शिष्य-प्रशिष्य हुए है और उन्होंने किन दूसरे ग्रन्थोंका निर्माण तथा कार्योंका सम्पादन किया है। रामसेन नामके अनेक आचार्य, भट्टारक तथा विद्वान हो गये हैं, उनमेंसे किसके साथ इस ग्रन्थके कर्तृत्वका सम्बन्ध जोड़ा जाय अथवा किसको इसका कर्ता माना जाय, यह कार्य सहज नहीं है; क्योंकि किसी भी ग्रन्थ, प्रशस्ति, पट्टावली या शिलालेखमें अभी तक ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख देखनेमें नहीं आया जिसमें

नागसेनके शिष्यरूपसे रामसेनका उल्लेख करके रामसेनकी शिष्य-परम्पराका उल्लेख किया गया हो। पट्टावलियोंमें प्रायः पट्ट-शिष्यों-का उल्लेख रहता है। हो सकता है कि रामसेन नागसेनके पट्टशिष्य न हों, उन्होंने नागसेनको अपना 'पट्टगुरु' लिखा भी नहीं—साफ़ तौर पर 'दीक्षागुरु' लिखा है। एक दीक्षागुरुके अनेक दीक्षित-शिष्य हो सकते हैं और हुए हैं; परन्तु पट्ट-शिष्य एक ही होता है। इसीसे पट्टा-वलियोंमें एक दीक्षागुरुके सब शिष्योंका नाम प्रायः नहीं रहता, पट्टशिष्यको छोड़कर दूसरे शिष्योंकी परम्पराएँ अलगसे चला करती हैं, और इस तरह एक पट्टरूपी वटवृक्षकी कुछ शाखाएँ वृक्षसे अलग होकर अन्यत्रारोपित हुई अलगसे ही फलने-फूलने लगती है—उनके मूलका पता चलना तब बहुधा कठिन हो जाता है। संभवतः यही स्थिति रामसेनकी जान पड़ती है, वे किसीके पट्टशिष्य न होकर स्वयं पट्टप्रस्थायक तथा अन्वयकारक हुए हों एसा मालूम होता है और शायद इसी लिये अनेकोंने अपनेको उनके (रामसेनके) अन्वय (वंश) में होना तो लिखा है परन्तु उनके दीक्षागुरुका नाम साथमें नहीं दिया। इससे वे ये ही ग्रन्थकार रामसेन हैं या कोई दूसरे रामसेन, इसको पह-चाननेमें बड़ी कठिनाई उपस्थित हो रही है। अस्तु।

ऐसी स्थितिमें हमें सबसे पहले ग्रन्थके निर्माणकालका पता चलानेकी जरूरत है, जिससे उस समयके समीप जो कोई रामसेन नामके महान् विद्वान् हुए हों उनके साथ इस ग्रन्थके कर्तृत्वका सम्बन्ध जोड़ा जा सके। इसके लिये ग्रन्थके अन्तः परीक्षण और बहिः-परीक्षण दोनोंकी ज़रूरत है। अन्तःपरीक्षणके द्वारा यह मालूम किया जाना चाहिये कि इस ग्रन्थमें पूर्ववर्ती किस-किस ग्रन्थ या ग्रन्थकारादिका नामोल्लेख है और किस ग्रन्थके किन वाक्योंको अपनाया गया है अथवा ग्रन्थमें कहाँ उनका प्रभाव लक्षित है। और बहिःपरीक्षणके द्वारा यह खोजनेकी ज़रूरत है कि उत्तरवर्ती किस-किस ग्रन्थमें इस

ग्रन्थके वाक्यादिको ग्रन्थ-नाम-सहित या विना नामके ही अपनाया गया अथवा उद्धृत किया गया है।

उक्त परीक्षणसे पहिले मैं यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि ग्रन्थमें ग्रन्थकारने अपने चार विद्या-गुरुओं-के जो नाम वीरचन्द, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयामर (विजयदेव)-के रूपमें दिये हैं उनका कोई परिचय साथमें नहीं दिया —किसी खास विशेषणका भी उनके साथमें प्रयोग नहीं किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व तथा समयका कुछ पता चलकर उनके समयका निर्धार होता और उससे ग्रन्थकारके समयको निश्चित किया जाता; क्योंकि इन नामोंके भी दूसरे विद्वान हुए हैं, और इसलिए नाम-मात्रके उल्लेखसे उनमेंसे किसीका ग्रन्थकारके विद्यागुरुके रूप-में सहज ही ग्रहण नहीं किया जा सकता। दीक्षागुरु नागसेनके नाम-के साथ दो विशेषण 'पुण्यमूर्ति' और 'उद्धचरित्रकीर्ति' जरूर दिये हैं; इन विशेषणोंपरसे उनके महान् व्यक्तित्वका पता तो चलता है, परन्तु उन्हें पूरी तौरसे पहचाना नहीं जा सकता; क्योंकि नागसेन नामके भी कई विद्वान् आचार्य हो गए हैं, जिनमेंसे कुछका परिचय इस प्रकार है:—

(१) वे नागसेन जो दश-पूर्वके पाठी थे और जिनका समय विक्रमसवत्से कोई २५० वर्ष पूर्वका है।

(२) वे नागसेन गुरु जो ऋषभसेनगुरुके शिष्य थे, जिन्होंने संन्यासविधिसे श्रवणबेलगोलमें चन्द्रगिरिपर्वत पर देह-त्याग किया था, जिसका श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १४ (३४) में उल्लेख है और उसमें उनकी महत्त्वके सात विशेषणों-द्वारा स्तुतिको लिए हुए निम्न श्लोक भी दिया हुआ है:—

नागसेनमनघं गुणाधिकं नागनायकजितारिमंडलं।
राजपूज्यममलश्रियास्पदं कामदं हतमदं नमाम्यहं॥

इस शिलालेखका समय शक सं० ६२२ (वि० सं० ७५७) के लगभग अनुमान किया गया है। परन्तु किस आधार पर, यह कुछ बताया नहीं गया।

(३) वे नागसेन जो चामुण्डरायके साक्षात् गुरु अजितसेनके प्रगुरु थे अर्थात् अजितसेनके गुरु आर्यसेन(आर्यनन्दी)के गुरु थे और जिनका चामुण्डराय-पुराणमें आचार्य कुमारसेनके बाद उल्लेख है। चामुण्डरायपुराण का निर्माण शक सं० ९०० (वि० सं० १०३५) में हुआ है, और इसलिये इन नागसेनका समय वि० सं० १००० से कुछ पहलेका समझना चाहिये[१]।

(४) वे नागसेन जिन्हें राणी अक्कादेवीने 'गोणदबेडगि-जिनालयके लिये ई० सन् १०४७ (वि० सं० ११०४) में भूमिका दान दिया था और जो मूलसंघ. सेनगण तथा होमरि (पोगरि) गच्छके विद्वान् आचार्य थे[२]।

(५) वे नागसेन जो नन्दीतट-गच्छकी गुर्वावली[३] के अनुसार गंगसेनके उत्तरवर्ती और सिद्धान्तसेन तथा गोपसेनके पूर्ववर्ती हुए हैं। जिनका समय भी १०वीं शताब्दीका मध्य काल जान पड़ता है। अथवा वे नागसेन जो उक्त गुर्वावलीके अनुसार गोपसेनके उत्तरवर्ती जान पड़ते हैं और जिनके नामका पाठ कुछ अशुद्ध हो रहा है। अतः ग्रन्थकारके गुरुओंका परिचयादि भी ग्रन्थके समय-निर्णय पर अवलम्बित है।

---

१. देखो पी० बी देसाईका 'जैनिज्म इन साउथ इंडिया' पृ० १३४-३७ तथा डा० ए० एन० उपाध्येका 'चामुंडराय ऐंड हिज् लिटरेरी प्रिडिसेसर्स' नामक अंग्रेजी निबन्ध।

२. देखो, 'जैनिज्म इन साउथ इंडिया' पृ० १०६।

३. यह गुर्वावली 'अनेकान्त' वर्ष १५ की गत ५वीं किरणमें प्रकाशित हो चुकी है।

५. समयकी पूर्वोत्तर-सीमाएँ और उसका निश्चय

ग्रन्तःपरीक्षणसे मालूम होता है कि इस ग्रन्थपर श्रीकुन्दकुन्दचार्य-के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार तथा मोक्षप्राभृत-जैसे ग्रन्थोंका; उमास्वामी(ति)के तत्त्वार्थसूत्रका; स्वामी समन्तभद्र-के रत्नकरण्ड, स्वयंभूस्तोत्र, देवागम तथा युक्त्यनुशासनका; श्रीपूज्य-पादाचार्यकी सर्वार्थसिद्धि, समाधितंत्र, इष्टोपदेश तथा सिद्धभक्ति आदि-का; अकलंकदेवके तत्त्वार्थराजवार्त्तिकका और भगवज्जिनसेनके आर्ष-ग्रन्थ (महापुराण) का प्रभाव है। इन ग्रन्थोंके वाक्योंको कहीं शब्दशः कहीं अर्थशः कहीं उभयरूपसे और कहीं कुछ परिवर्तनके साथ अप-नाया गया है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न पद्यों और उनकी तुलनात्मक-टिप्पणियों तथा व्याख्याओंसे जाना जाता है:—

पद्य नं० १८, १६, ३०, ३१ (पंच स्तिकाय); ३०, ५२ (समयसार-प्रवचनसार; ८२ (मोक्षप्राभृत); १४७ (नियमसार)। ५५, ५६, ६८, १०० तत्त्वार्थसूत्र)। ५१ (रत्नकरण्ड); १५४ (देवागम); २४८ (स्वयं-भू०); २४६ (देवागम, युक्त्यनु०)। ५१, ५६, ५६, १११, २२२ (सर्वार्थसिद्धि); २३३, २३४ (सिद्धभक्ति)। ५७, ५६, ६२-६४, ६६ ६७, ७०, ७२ (तत्त्वार्थवा०)। २, ३६, ५०, ५४, ६१, ७०, ७२, ८३, ८४, ६०, ६२-६४, ६८, १०१, १२६, १८०, २२२, २३३, २४७ (आर्ष)।

जिन ग्रन्थोंके प्रभावकी ऊपर सूचना की गई है उनमें 'आर्ष' नामका महापुराण सबके बादकी कृति है और वह दो भागोंमें विभक्त है—प्रथम भागका नाम 'आदिपुराण' और द्वितीय भागका नाम 'उत्तर-पुराण' है। प्रथमभागके ४७ पर्वोंमेंसे ४२ पर्वोंकी रचना भगवज्जिन-सेनने और शेष पर्वोंकी उत्तरपुराण-सहित रचना उनके प्रधान शिष्य गुणभद्राचार्यने की है। इस आर्ष ग्रन्थका २१वाँ पर्व एकमात्र ध्यान-विषयसे ही सम्बन्ध रखता है और उसका इस ग्रन्थ पर सबसे अधिक

प्रभाव है। एक स्थान पर (पद्य ५४) 'धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः' इस वाक्यके द्वारा 'आर्ष' नामका स्पष्ट उल्लेख भी किया गया है, और कहीं-कहीं 'आगम'के नामसे ही इसके वाक्योंको उल्लेखित किया गया है;जैसा कि ८४वें पद्यमें प्रयुक्त 'वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः' इस वाक्यकी व्याख्यासे प्रकट है। जिनसेनाचार्यने 'जयधवला' टीकाको, जिसे उनके गुरु वीरसेनाचार्य अधूरी छोड़ गए थे, शक संवत् ७५९ में पूरा किया है। संभवतः उसके बाद ही उन्होंने महापुराणके कार्यको अपने हाथमें लिया था, जिसे वे अधूरा छोड़कर स्वर्गवासी हो गए। महापुराणके जिनसेन-रचित भागकी श्लोक-संख्या १०३८० है, जिनकी रचनामें वृद्धावस्थाके कारण ५-६ वर्षसे कमका समय न लगा होगा, ऐसा पं० नाथूरामजी प्रेमीने, अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' में, जो अनुमान किया है वह प्रायः ठीक जान पड़ता है, और इस तरह जिनसेनका स्वर्गवास-समय शक सं० ७६५ (वि० सं० ९००) के लगभग ठहरता है। यही समय विक्रमकी ९वीं शताब्दीका अन्तिम भाग प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माणकी पूर्व-सीमा है। इससे पहले इसका निर्माण नहीं बनता।

पं० आशाधर विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान हैं, उन्होंने इष्टोपदेश आदि टीकाओंमें तत्त्वानुशासनके कितने ही पद्योंको ग्रन्थके नाम-सहित भी उद्धृत किया है, किसी-किसी टीकामें उद्धृत पद्योंके साथ रामसेनाचार्यका नाम भी दिया है। इष्टोपदेशकी टीकाके अपने द्वारा रचे जानेका उल्लेख उन्होंने 'जिनयज्ञकल्प'की प्रशस्तिमें किया है, जो विक्रम सं० १२८५में लिखी गई है। इससे तत्त्वानुशासन वि० सं० १२८५ से पूर्व विद्यमान था, उसके बादकी वह रचना नहीं है, इतना सुनिश्चित हो जाता है। और यही उसके निर्माण-समयकी उत्तर-सीमा है।

अब देखना यह है कि पूर्व-सीमाके समय सं० ९०० और उत्तर-सीमा-समय सं० १२८५ के मध्यवर्ती इस ३८४ वर्षके लम्बे समयको

किधरसे कितना संकुचित कर उसे ग्रन्थके वस्तुतः निर्माण-कालके समीप लाया जा सकता है। इसके लिये सबसे पहले उत्तरपुराणको लिया जाता है, जो आर्षमहापुराणका ही एक अंग है और जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्राचार्य-द्वारा रचित है। इस पुराण (पर्व ६४) में, कुन्थुनाथचरित्रको समाप्त करते हुए, एक पद्य निम्न प्रकारसे दिया हुआ है :—

> देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेऽपि मग्नाः सुराः
> ज्ञानज्योतिषि पंचतत्त्वसहितं मग्नं नमश्चाऽखिलम् ।
> लक्ष्मीधामदधद्विधूतविततध्वान्तः स धामद्वय-
> पंथानं कथयत्वनन्तगुणभृत्कुन्थुर्भवान्तस्य वः ॥५५॥

इस पद्यके साथ तत्त्वानुशासनके अन्तिम पद्यको अवलोकन कीजिये, जो इस प्रकार है :—

> देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगत् दुग्धाम्बुराशाविव
> ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवः स्वस्त्रयी।
> शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी
> स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायाऽस्तु नः ॥२५६॥

इस पद्यमें उत्तरपुराणके पद्यसे जहाँ महत्वकी विशेषताका दर्शन होता है वहाँ उसके आंशिक अनुसरणका भी पता चलता है और यह साफ मालूम होता है कि तत्त्वानुशासनकारके सामने अथवा उसकी स्मृतिमें इस पद्यको रचते समय, उत्तरपुराणका उक्त पद्य रहा है। इसी प्रकार एक अनुसरण ग्रन्थके १४८ वें पद्यमें गुणभद्राचार्य-प्रणीत आत्मानुशासनके २४३ वें पद्यका भी दृष्टिगोचर होता है। दोनों पद्य इस प्रकार हैं :—

> मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
> नान्योऽहमहमेवाऽहमन्योन्योन्योऽहमस्ति न ॥ (आत्मानु०)
> नाऽन्योऽस्मि नाऽहमस्त्यन्यो नाऽन्यस्याऽहं न मे परः।
> अन्यस्त्वन्योऽहमेवाऽहमन्योऽन्यस्याऽहमेव मे ॥ (तत्त्वानु०)

इससे गुणभद्राचार्यका आत्मानुशासन भी ग्रन्थकारके सामने रहा है, यह स्पष्ट जाना जाता है। गुणभद्राचार्यका समय विक्रमकी १० वीं शताब्दीके पूर्वार्ध तक पाया जाता है; क्योंकि उत्तरपुराणके अन्तमें जो प्रशस्ति पद्य २८से ३७ तक गुणभद्राचार्यके प्रमुख शिष्य लोकसेनकृत लगी हुई है, उसमें उसका समय शक सं० ८२० (वि० सं० ९५५) दिया है। यह समय ग्रन्थका रचना-काल न होकर उसके पूजोत्सवका काल है, जैसा कि प्रशस्तिके **'भव्यवर्यैः प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम्** (३६)' इस वाक्यसे जाना जाता है। और यह पूजा-महोत्सव-काल ग्रन्थकी रचनासे अधिक बादका मालूम नहीं होता, जिसकी प्रेरणा स्वयं ग्रन्थकार अपनी प्रशस्तिके २७ वें पद्यमें कर गए थे।[1] प्रायः होता भी यही है कि यदि किसी महान् ग्रन्थकी रचनापर उसका पूजा-महोत्सव मनाया जाता है तो वह उसकी सुन्दर लिपि आदि-के कालको निकालकर अधिक समय बादका नहीं होता। यदि इस रचनाकालको पूजोत्सवके समयसे अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष पूर्व-का मान लिया जाय, जिसमें लिपिकालके साथ ग्रन्थकारका कुछ जीवन-काल भी शामिल हो सकता है, तो उक्त पुराणका यह रचनाकाल शक सं० ८१५ (विक्रम सं ९५०) के लगभग बैठता है। और इस तरह तत्त्वानुशासनके निर्माण-समयकी पूर्व-सीमा विक्रम सं० ९०० के स्थान पर ९५० तक स्थिर हो जाती है—इससे पूर्वकी वह रचना नहीं है।

अब देखना यह है कि उत्तर-सीमा जो वि० सं० १२८५ है उसे पीछे-की ओर कहाँ तक ले जाया जा सकता है। बाह्य-परीक्षणसे पं० आशा-धरजीके पूर्ववर्ती कुछ ग्रन्थ ऐसे मालूम पड़े हैं जिनमें तत्त्वानुशासन-के पद्योंको ग्रन्थके नामसहित भी उद्धृत किया गया है, कुछ ग्रन्थोंमें ग्रन्थनामके विना ही तत्त्वानुशासनके पद्य-वाक्योंको अपनाया गया है और कुछ ग्रन्थ ऐसे भी जान पड़े हैं जिनमें तत्त्वानुशासनके पद्य-

---

१. तदेतदेव व्याख्येयं श्रव्यं भव्यैर्निरन्तरम्।
चिन्त्यं पूज्यं मुदा लेख्यं लेखनीयं च भाक्तिकैः ॥२७॥

वाक्योंको थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके या अनुवादित करके रक्खा गया है अथवा जिनपर तत्त्वानुशासनका प्रभाव लक्षित होता है। यहाँ उन सबके कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं—(१) पंचास्तिकाय गाथा १४६ की तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने "तथा चोक्तं तत्त्वानुशासन-ध्यानग्रन्थे" इस वाक्यके साथ "चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य सम्प्रति" इत्यादि पद्य नं० ८६, और "तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने" इस वाक्यके साथ 'यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः' इत्यादि पद्य नं० ८४ उद्धृत किया है। तृतीय महाधिकारकी समाप्तिके बादकी वृत्तिमें भी 'ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं' तथा 'गुप्तेन्द्रियमना ध्याता' इन पद्योंको उद्धृत करने के अनन्तर लिखा है—"इत्यादि तत्त्वानुशासन-ध्यानग्रन्थादौ कथितमार्गेण जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिधा ध्यातारो ध्यानानि च भवन्ति।"

(२) परमात्मप्रकाशके द्वितीय अधिकारके ३६ वें पद्यकी टीकामें ब्रह्मदेवने "तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे" इस वाक्यके साथ 'यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः' इत्यादि पद्य नं० ८४ और 'तथा चोक्तं तत्रैवम' इस वाक्यके साथ 'चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य साम्प्रतम्' इत्यादि पद्य नं० ८६ उद्धृत किया है। द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ की टीकामें भी ब्रह्मदेवने 'तथैव तत्त्वानुशासनग्रन्थे चोक्तं' इस वाक्यके साथ 'अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः' इत्यादि पद्य नं०८३ और 'तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ 'यत्पुनर्वज्रकायस्य' इत्यादि पद्य नं ८४ उद्धृत किया है।

(३) हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रमें कुछ पद्य ऐसे हैं जिनमें तत्त्वानुशासनका अर्थसे ही नहीं किन्तु शब्दसे भी अनुसरण पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं :—

> सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
> एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वय-फल-प्रदः॥ (तत्त्वानु० १२७)

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ (योगशा० १०-४०)
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।

तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ (तत्त्वानु० १९१)
येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहकः[१] ।

तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ (योगशा० ९-१४)

योगशास्त्रके जिन पद्योंके साथ यहाँ तुलना की गई है, वे ज्ञानार्णवमें भी प्रायः ज्यो-के-त्यों पाये जाते हैं, और भी कुछ पद्य ज्ञानार्णवमें ऐसे पाये जाते हैं जो पूर्णतः या आंशिक रूपमें तत्त्वानुशासनसे उद्धृत अथवा तदनुकरणको लिए हुए जान पड़ते हैं और जिनकी सूचना यथास्थान पादटिप्पणियोंमें की गई है। योगशास्त्र तथा ज्ञानार्णवके वर्तमान संस्करणोंमें बहुतसे पद्य ऐसे उपलब्ध होते हैं, जो दोनोंमें समान हैं या कुछ मिलते-जुलते हैं, और इसलिये एक ग्रन्थकारने दूसरेकी कृतिको अपनाया है इस बातको सूचित करते हैं। अनेक विद्वान दोनोंमें ज्ञानार्णवको पूर्ववर्ती और कुछ योगशास्त्रको पूर्ववर्ती बतलाते हैं। अभी तक इस विवादका ठीक निर्णय नहीं हो पाया, और ज्ञानार्णवकी अनेक हस्तलिखित प्रतियोंकी ऐसी स्थिति जान पड़ी कि उनमें कितने ही पद्य बादको 'उक्तं च' आदि रूपसे शामिल होते रहे हैं, और इसलिए उनके आधारपर ग्रन्थके पूर्ववर्तित्वका या उत्तरवर्तित्वका कोई ठीक निर्णय उस वक्त तक नहीं किया जा सकता जब तक प्राचीन प्रतियों की खोज-द्वारा तुलनात्मक अध्ययनका कार्य होकर उसका मूलरूप स्थिर नहीं हो पाता। ऐसी स्थितिमें मैंने यहाँ ज्ञानार्णवके साथ तत्त्वानुशासनके तुलना-कार्यको जानबूझ कर छोड़ दिया है। और भी कुछ ग्रन्थोंके साथ तुलना-कार्यको छोड़ दिया है, जिनका समय सुनिर्णीत नहीं है

१. 'योगशास्त्रनुं गुजराती भाषान्तर' सन् १८९९ के निर्णयसागरीय संस्करणमें 'यंत्रव्यूहकः' पाठ दिया हुआ है।

और जिनपर बहुत स्पष्ट रूपसे तत्त्वानुशासनका प्रभाव पाया जाता है, जैसे भास्करनन्दिका 'ध्यानस्तव', जो तत्त्वानुशासनके अनुकरणसे भरपूर है।

(४) नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवके द्रव्यसंग्रह पर भी तत्त्वानुशासनका प्रभाव लक्षित होता है। द्रव्यसंग्रहकी ४७ वीं गाथा तो तत्त्वानुशासनके ३३ वें पद्यके प्रायः अनुवादरूपमें ही जान पड़ती है। दोनों पद्य और गाथा इस प्रकार हैं :—

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाऽप्यपास्याऽऽलस्यम् ॥३३॥
दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्त चित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

धर्मरत्नाकर (सं० १०५५) के 'सामायिक-प्रतिमा-प्रपंचन' नामक १५वें अवसरमें निम्न पद्यको ग्रन्थका अंग बनाया गया है, जो तत्त्वानुशासनका १०७ वां पद्य है :—

अकारादि-हकारान्ता मंत्राः परमशक्तयः।
स्वमंडलगताः ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥

इसके आगे '**मंडलार्चनं प्रसिद्ध**' ऐसा लिख दिया है, जो कि पद्यमें प्रयुक्त हुये '**स्वमंडलगताः**' पदसे सम्बन्धित सूचनाको लिये हुए है।

(६) अमितगति (द्वितीय) के उपासकाचारमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम्।
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तुकामः।"
१०-१११

ध्यान-विषयके अभ्यासकी प्रेरणाकरनेवाला यह पद्य तत्त्वानुशासनके निम्न पद्यसे प्रभावित और उसके अनुसरणको लिये हुए जान पड़ता है :—

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥८८॥

(६) पूर्वोक्त अमितगतिके दादागुरु अमितगति(प्रथम)-विरचित योगसारप्राभृतके ९वें अधिकारमें एक पद्य निम्न प्रकारसे उपलब्ध होता है :—

येन येनैव भावेन युज्यते यंत्रवाहकः ।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥५१॥

यह पद्य तत्त्वानुशासनके उसी पद्य नं० १९१ के साथ सादृश्य रखता और उसके अनुसरणको लिये हुए जान पड़ता है, जिसे ऊपर नं० ३ में योगशास्त्रके पद्यके साथ तुलना करते हुए उद्धृत किया गया है। हो सकता है कि हेमचन्द्राचार्यके सामने यह पद्य भी रहा हो और इसीपरसे उन्होंने 'सोपाधिः स्फटिको यथा' के स्थानपर 'विश्वरूपो मणिर्यथा' इस वाक्यको अपनाया हो और यह उनका स्वतः का परिवर्तन न हो। एक ही आशयके इन तीनों पद्योंकी स्थितिपर जब विचार किया जाता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि तत्त्वानुशासनका पद्य पहले, योगसारका तदनन्तर और योगशास्त्रका उसके भी बाद रचा गया अथवा अवतरित हुआ है।

तत्त्वानुशासनका एक पद्य इस प्रकार है :—

स्वरूपाऽवस्थिति पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाऽभावो नाऽप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥२३४॥

यह पद्य भी योगसार-कारके सामने रहा जान पड़ता है और उन्होंने इसके उत्तरार्धमें प्रयुक्त 'नाऽभावः,' 'नाप्यचैतन्यं' 'न चैतन्यमनर्थकं' इन तीन पदोंको लेकर उनका कुछ स्पष्टीकरण अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है और वह ९ वें अधिकारके आठ पद्योंमें है, जो इस प्रकार हैं :—

दृष्टि-ज्ञानस्वभावस्तु सदाऽऽनन्दोऽस्ति निर्वृतः ।
न चैतन्य-स्वभावस्य नाशो नाशप्रसंगतः ॥१०॥

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकम् ।
स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचाराऽनुपपत्तितः ॥२॥
निरर्थकस्वभावत्वे ज्ञानभावानुषंगतः ।
न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्चेतनत्वाऽनुषंगतः ॥३॥
प्रकृतेश्चेतनत्वं स्यादात्मत्वं दुर्निवारणम् ।
ज्ञानात्मके न चैतन्यं नैरर्थक्यं न युज्यते ॥ ॥
नाऽभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः ।
विद्यमानस्य भावस्य नाऽभावो युज्यते यतः ॥५॥
यथा चन्द्रे स्थिता कान्तिर्निर्मले निर्मला सदा ।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनिताऽऽवृतिः ॥६॥
तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा ।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृताऽऽवृतिः ॥७॥
जीमूतापगमे चन्द्रे यथा स्फुटति चन्द्रिका ।
दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि ॥८॥

(८) निम्न पद्य देवसेनकी आलापपद्धतिके पर्यायाधिकारका अंग बना हुआ है :—

अनाद्यनिधने[1] द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥

यह पद्य तत्त्वानुशासनका ११२ वाँ पद्य है, जिसे आलापपद्धतिकारने अपने ग्रंथमें अपनाया है ।

इस सब बाह्यपरीक्षणमें जिन ग्रन्थोंका उपयोग हुआ है उनके समय-सम्बन्धको भी यहाँ सूचित कर देना आवश्यक जान पड़ता है, जिससे प्रस्तुत ग्रन्थके समयका ठीक प्रतिभास हो सके, और वह संक्षेपमें इस प्रकार है :—

पंचास्तिकायके टीकाकार जयसेन विक्रमकी १३वीं शताब्दी-पूर्वार्धके विद्वान् हैं । उन्होंने पंचास्तिकाय-द्वितीय-गाथाकी टीकामें

१. 'तत्त्वानुशासनमें 'अनादिनिधने' पाठ है ।

आचारसारके 'गंभीरं मधुरं मनोहरतरं' तथा 'येनाज्ञानतमस्तति-विघटते' नामके दो पद्य उद्धृत किये हैं। आचारसार आचार्य वीर-नन्दीकी कृति है, जिसपर उन्होंने कनडीमें स्वोपज्ञ टीका लिखी है और वह वि० सं १२१० में लिख कर समाप्त हुई है। मूलग्रंथको उससे कुछ ही वर्ष पहलेकी रचना समझना चाहिये। प्रवचनसारकी जयसेन-टीका पंचास्तिकायकी टीकासे बाद बनी है; जैसा कि उसके 'पूर्वं पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन सप्तभंगी व्याख्याता' इस वाक्यसे प्रकट है। जयसेनकी इन प्रवचनसारादिकी टीकाओंका बालचंदकी कनडी टीकाओं पर प्रभाव है। जैसा कि डा० ए० एन० उपाध्यायने प्रवचनसार की प्रस्तावना (Introduction) पृ० १०४-६ में व्यक्त किया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि नयकीर्तिके शिष्य इन बालचन्द्रका समय मोटेरूपसे ईस्वी सन् ११७६ (सं० १२२३) से १२३१ (सं० १२८८) तक है, जिनमें पहला नयकीर्तिका मृत्युसंवत् और दूसरा बालचन्दकी प्रेरणासे दिये गए एक दानशासनका लेखन-काल है। इससे जयसेनकी पंचास्तिकाय:-टीकाका समय विक्रम की १ं वीं शताब्दीका पूर्वार्ध निश्चित है।

योगशास्त्रको हेमचन्द्राचार्यने चौलुक्य राजा कुमारपालकी प्रार्थनासे रचा है और वह वि० सं० १२०७ से १२२९ के मध्यवर्ती समयमें रचा गया है। सं० १२२९ हेमचन्द्र और कुमारपाल दोनोंके जीवनका अन्तिम काल है।

द्रव्यसग्रह-टीकाके प्रारम्भमें ब्रह्मदेवने, मूलग्रंथके निर्माणादिका सम्बन्ध व्यक्त करते हुए, उत्थानिकादिके रूपमें जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है:—

"अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराज-भोजदेवाभिधान-कलिकालचक्रवर्ति-सम्बन्धिनः श्रीपाल-महामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्या-श्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रत-तीर्थंकर-चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्य-संवित्ति-

समुत्पन्न-सुखामृतरसा-स्वाद-विपरीत-नारकादिदु:खभयभीतस्य परमात्म-भावनोत्पन्न–सुखसुधारसंपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्य-वरपुण्डरीकस्य भाण्डागा-राद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्-द्रव्यसंग्रहस्याधिकार-शुद्धि-पूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते ।''

इन पंक्तियोंमें यह बतलाया गया है कि 'द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ पहले २६ गाथाके लघुरूपमें नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवके द्वारा 'सोम' नामक राज-श्रेष्ठिके निमित्त आश्रम नामक नगरके मुनिसुव्रतचैत्यालयमें रचा गया था, बादको विशेष तत्त्वके परिज्ञानार्थ उन्हीं नेमिचन्द्रके द्वारा बृहद्द्रव्यसंग्रहकी रचना हुई हैं, उस बृहद्द्रव्यसंग्रहकी अधिकारोंके विभाजन-पूर्वक यह व्याख्या-वृत्ति (टीका) प्रारम्भ की जाती है।' साथ ही यह भी प्रकट किया है कि 'आश्रम नामका वह नगर उस समय धारा-धिपति भोजदेव नामक कलिकालचक्रवर्तिके सम्बन्धी श्रीपाल नामक महामण्डलेश्वर (राज्यके किसी प्रान्त-शासक) के अधिकारमें था। और वह 'सोम' नामका सेठ भोजदेवका राजश्रेष्ठि था, भाण्डागार (कोष) आदि अनेक नियोगोंका अधिकारी होनेके साथ-साथ शुद्धात्मद्रव्यकी संवित्तिसे उत्पन्न होनेवाले सुखामृत स्वादके विपरीत जो नारकादि दुःख हैं उनसे भयभीत तथा परमात्माकी भावनासे उत्पन्न होनेवाले सुधारसका पिपासु था और भेद-अभेदरूप रत्नत्रय (व्यवहार तथा निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) की भावनाका प्रेमी भव्यजन-श्रेष्ठ था।'

ब्रह्मदेवके उक्त घटना-निर्देश और उसकी लेखन-शैलीसे ऐसा मालूम पड़ता है कि ये सब घटनाएँ साक्षात् उनकी आँखोंके सामने घटी हुई हैं—परमार राजा 'भोजदेव', उनके महामण्लेश्वर 'श्रीपाल' और उनके राजश्रेष्ठी सोम' तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव उनके समयमें मौजूद थे, और उनके समयमें ही लघु तथा बृहद् दोनों द्रव्यसंग्रहोंकी नेमिचन्द्र-

द्वारा रचना हुई है। ब्रह्मदेवने अपनी टीकामें भी दो-एक स्थानोंपर "अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी" जैसे वाक्योंके द्वारा यह सूचित किया है कि 'सोम', नामका सेठ उनकी टीकाके समय भी मौजूद था और टीकाका कुछ अंश उसके प्रश्न-विशेषसे सम्बन्ध रखता है। भोजदेवका राज्य-काल वि० सं० १०७५ से ११०७ तक रहा है। और इसलिये ब्रह्मदेव-द्वारा अपने दोनों ही टीका-ग्रन्थोंमें उल्लेखित तत्त्वानुशासनकी रचना इस भोजकाल अथवा विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके प्रथम चरण-से पूर्व हुई है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि श्री डा० ए० एन० उपाध्येजीने परमात्मप्रकाश ग्रन्थपर जो अंग्रेजी प्रस्तावना ई० सन् १९३७ में लिखी है, और जिसका हिन्दी-सार पं० कैलाशचन्द्र-जी शास्त्रीके द्वारा लिखा जाकर उसके साथ प्रकाशित हुआ है, उसमें ब्रह्मदेवके उक्त घटना-निर्देशको समकालीन प्रमाणके रूपमें स्वीकार न करके नेमिचन्द्रका भोजदेवके समकालीन होना और द्रव्यसंग्रहको सोमश्रेष्ठीके लिये पहले लघुरूपमें रचा जाना इन दोनोंको माननेसे इनकार किया है। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ उनके इस अस्वीकार तथा इनकारके उस समय तीन कारण रहे हैं—एक तो द्रव्यसंग्रहको गोम्मट-सारके कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्यकी कृति मानना, दूसरा ब्रह्मदेवको पंचा-स्तिकायके टीकाकार जयसेनका उत्तरवर्ती तथा उनकी टीकासे प्रभावित मान लेना और तीसरा लघुद्रव्यसंग्रहका उपलब्ध न होना। लघुद्रव्यसंग्रह श्रीमहावीरजीके शास्त्रभंडारसे जुलाई १९५३ में उपलब्ध हो चुका है और उसे मैंने अपने वक्तव्यके साथ अनेकान्त वर्ष १२ की ५वीं किरण (अक्तूबर १९५३) में प्रकाशित कर दिया है। और वह अलगसे भी बृहद्द्रव्यसंग्रहके साथ सानुवाद छप गया है। उसकी अन्तिम गाथामें[1] श्रीनेमिचन्द्रगणीने 'सोमच्छलेण रइया' इस

१ वह गाथा इस प्रकार है :—

"सोमच्छलेण रइया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचन्देण ॥ २५ ॥

वाक्यके द्वारा उसका स्पष्टरूपसे 'सोम' के निमित्त रचा जाना सूचित किया है। इससे अब सोमश्रेष्ठीके निमित्त लघुद्रव्यसंग्रहका रचा जाना सन्देहका कोई विषय नहीं रहता। सोमका विशेष परिचय क्या है और उसके लिये किस नगर तथा स्थानमें इस ग्रन्थकी रचना हुई है यह सब ब्रह्मदेवके उक्त घटना-निर्देशसे सम्बन्ध रखता है। मूल घटना-के निःसन्देह हो जानेपर उत्तर-घटनाओंपर सन्देहका कोई कारण-विशेष नहीं रहता। पंचास्तिकाय प्रथम गाथाकी टीकामें जयसेनने ग्रन्थके निमित्तकी व्याख्या करते हुए स्वयं उदाहरणके रूपमें द्रव्यसग्रह-टीका-के इस निमित्त-कथनकी बातको अपनाया है और लिखा है कि अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादिकमें सोमश्रेष्ठि आदि को निमित्त जानना चाहिये :—

"अथ प्राभृतग्रन्थे शिवकुमारमहाराजो निमित्तं अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादौ सोमश्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यं।"

इससे जयसेनका ब्रह्मदेवकी उक्त निमित्त-कथनकी बातसे परिचित होना पाया जाता है और इससे जयसेन ब्रह्मदेवके उत्तरवर्ती ठहरते हैं, न कि पूर्ववर्ती। दोनोंकी टीकाओंमें कुछ वाक्यों तथा उद्धरणोंके समान होने मात्रसे बिना किसी हेतुके एकको पूर्ववर्ती और दूसरेको उत्तरवर्ती नहीं कहा जा सकता।

अब रही प्रथम कारणकी बात, द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता वे नेमिचन्द्राचार्य नहीं है जो कि गोम्मटसारके कर्ता हैं। गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहलाते हैं और कर्मकाण्डकी एक गाथा (नं० ३९७) में उन्होंने स्वयं अपनेको 'चक्रवर्ती' प्रकट किया भी है; जब कि बृहद्-द्रव्यसंग्रहके कर्ता अपनेको 'मुनि' और 'तनुसुत्तधर' (अल्पश्रुतधर) सूचित करते हैं[1]। टीकाकार ब्रह्मदेवने भी उन्हें 'सिद्धान्तदेव' के रूपमें तो उल्लिखित किया है, 'सिद्धान्तचक्रवर्तीके रूपमें नहीं। इसके सिवाय,

---

१. दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं॥

द्रव्यसंग्रहके कर्ताने भावास्रवके भेदोंमें 'प्रमाद'का भी वर्णन किया है और अविरतिके पांच तथा कषायके चार भेद ग्रहण किये हैं; परन्तु गोम्मटसारके कर्ताने 'प्रमाद' को भावास्रवके भेदोमें नहीं माना और अविरतिके (दूसरे ही प्रकारके) बारह तथा कषायके पच्चीस भेद स्वीकार किये हैं; जैसा कि दोनों ग्रन्थोंके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

मिच्छत्ताऽविरदि-पमाद-जोग-कोहादओऽथ विण्णेया ।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥
—द्रव्यसं० गा० ३०

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
पण बारस पणवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥
—गोम्मटसार, कर्मकांड गा० ७८६

एक ही विषयपर दोनों ग्रन्थोंके इन विभिन्न कथनोंसे ग्रन्थ-कर्त्ताओंकी विभिन्नताका बहुत कुछ बोध होता है। ऐसी स्थितिमें द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता गोम्मटसारके कर्त्तासे भिन्न कोई दूसरे ही नेमिचन्द्र होने चाहियें। जैनसमाजमें 'नेमिचन्द्र' नामके धारक अनेक विद्वान आचार्य हो गए हैं। एक नेमिचन्द्र ईसाकी ११ वीं शताब्दीमें भी हुए हैं, जो वसुनन्दि सैद्धान्तिकके गुरु थे और जिन्हें वसुनन्दि-श्रावकाचारमें 'जिनागमरूपी वेला-तरंगोंसे धूयमान और सम्पूर्ण जगतमें विख्यात' लिखा है। बहुत संभव है कि ये ही नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता हों। दोनों ग्रन्थोंके भिन्न कर्तृत्वके सम्बन्धमें ये सब बातें मैंने आजसे कोई ४५ वर्ष पहले ३ जनवरी १९१८ को, प्रोफेसर शरच्चन्द्र घोशाल एम० ए० बी० एल० सरस्वती-द्वारा सम्पादित द्रव्यसंग्रहके अंग्रेजी संस्करणकी समालोचनामें, प्रकट की थीं; क्योंकि उस वक्त सबसे पहले प्रो० घोशालने ही अपनी प्रस्तावना (Introduction) में बिना किसी प्रबल आधार अथवा प्रमाणके गोम्मटसारके कर्त्ता नेमिचन्द्रको ही द्रव्यसंग्रहका कर्ता मान कर ब्रह्मदेवके उक्त कथनको अस्वीकार किया था। मेरी यह समालोचना

उस समय जैनहितैषी (बड़ा साइज) भाग १३ के अंक १२ में पृ० ५४१ से ५५० तक प्रकाशित हुई थी, जिसके विरोधमें उक्त प्रो० घोशाल अथवा दूसरे किसी विद्वानका कोई लेख मुझे आज तक देखनेको नहीं मिला। जान पड़ता है डा० ए० एन० उपाध्येजीके सामने परमात्मप्रकाश-की प्रस्तावना लिखते समय मेरी उक्त समालोचना नहीं रही है, रहती तो वे उस पर अपना विचार जरूर व्यक्त करते। अस्तु।

इस सब प्रासंगिक कथनके बाद अब मैं फिरसे अपने प्रस्तुत विषय-को लेता हूँ।

'धर्मरत्नाकर' का रचनाकाल संवत् १०५५ है, जिसे पं० परमानंद जी शास्त्रीने वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह प्रथम-भागकी प्रस्तावनामें, बादको ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवन ब्यावरकी प्रतिसे मालूम करके प्रकट किया है और जो ग्रन्थकी प्रशस्तिके अन्तिम पद्यके रूपमें इस प्रकार है :—

बाणेन्द्रियव्योमसोम-मिते संवत्सरे शुभे (१०५५)।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सबलीकरहाटके ॥

धर्मरत्नाकर एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकारने अपने तथा दूसरे अनेक ग्रन्थोंके पद्य-वाक्यरूप कुसुमोंका संग्रह करके मालाकी तरह रचा है और इसकी सूचना भी उन्होंने ग्रन्थके अन्तिम २०वें अवसर (पद्य ६०) में "इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि । मूलोदद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः।" इस वाक्यके द्वारा की है। इसमें तत्त्वानु-शासनके उक्त पद्यको अपनाये जानेसे तत्त्वानुशासन वि० सं० १०५५ से बादकी कृति न होकर पूर्वकी ही कृति ठहरता है।

अमितगति-द्वितीयके उपासकाचारमें यद्यपि उसके निर्माणका समय नहीं दिया, परन्तु उनके दूसरे ग्रन्थों सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा और पंचसंग्रहमें वह क्रमशः वि० सं० १०५०, १०७०, १०७३ दिया हुआ है, इससे वे विक्रमकी प्रायः ११वीं शतीके तृतीय चरणके विद्वान्

हैं। उनके उपासकाचारमें तत्त्वानुशासनका अनुसरण होनेसे तत्त्वानुशासन वि० सं० १०५० से पूर्वकी रचना है। इन अमितगतिके गुरु माधवसेन, माधवसेनके गुरु नेमिषेण और नेमिषेणके गुरु अमितगति प्रथम थे, जो कि देवसेन के शिष्य थे, ऐसा अमितगति (द्वितीय) ने अपने सुभाषितरत्नसन्दोह आदि ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें प्रकट किया है। इससे वे अमितगति द्वितीयसे दो पीढ़ी पहलेके विद्वान हैं। उनका समय यदि ४०-५० वर्ष पहले तकका मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है, तो वे विक्रमकी ११वीं शतीके प्रथम चरणके विद्वान् ठहरते हैं। उन के योगसारमें तत्त्वानुशासनका उपयोग होनेसे तत्त्वानुशासन विक्रमकी ११वीं शताब्दीके प्रथम चरणसे बादकी रचना नहीं, ऐसा स्थिर होता है।

आलापपद्धति प्रायः उन देवसेनकी कृति कही जाती है जिन्होंने वि० सं० ९९० में 'दर्शनसार' को संकलित किया है। यदि यह कथन वस्तुतः ठीक हो तो तत्त्वानुशासनकी रचना, जिसके '**अनादिनिधने द्रव्ये**' पद्यको अपनाया गया है; उससे पहलेकी होनी चाहिये। परन्तु यह बात अभी सन्दिग्ध कोटिमें स्थित है; क्योंकि यह ग्रन्थ न तो उक्त देवसेनके दर्शनसार, तत्त्वसार, आराधनासार जैसे दूसरे ग्रन्थोंकी तरह प्राकृतमें है, न सारान्त है और न इसमें ग्रन्थकारने अपना नाम ही मूलके किसी पद्यमें दिया है। ग्रन्थके प्रारम्भमें "**आलापपद्धतिर्वचनरचनाऽनुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते**" इस वाक्य के द्वारा जिस नयचक्रके ऊपर इस ग्रन्थके रचनेका उल्लेख किया गया है वह कौन-सा नयचक्र है, इसका भी अभी तक कोई ठीक निर्णय नहीं हो सका। नयचक्रादिसंग्रहमें प्राकृतका जो लघुनयचक्र प्रकाशित हुआ है, जिसे दर्शनसारके कर्ताका कहा जाता है, उसके मूलमें भी ग्रन्थकारका नाम नहीं है। प्रत्युत इसके, एक दूसरा गद्य-पद्यात्मक नयचक्र भी है, जो ग्रन्थकारके नामसहित संस्कृत-भाषामें है और क्षुल्लक श्रीसिद्धसागरजीके द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित होकर सन् १९४९ में प्रकाशित हो चुका है, जिसे

दूसरे देवसेनाचार्यने व्योम पंडितके प्रतिबोधार्थ संस्कृतमें रचा है।

ये सब तथा और भी कुछ बातें पंडित श्रीमिलापचन्दजी कटारियाने 'देवसेनका नयचक्र' नामक अपने लेखमें प्रकट की हैं, जो १४ नवम्बर १९५७के जैनसन्देशमें प्रकाशित हुआ है। साथ ही उसी नयचक्रपर आलापपद्धतिके बननेकी अधिक संभावना व्यक्त की है, जो संस्कृतमें व्योम पंडितके लिये रचा गया है। संभावना अच्छी है; उक्त नयचक्रके 'नानास्वभावसंयुक्तं' और 'दुर्नयैकान्तमारूढा:' जैसे पद्य भी आलापपद्धतिमें उद्धृत पाये जाते हैं; परन्तु उक्त संस्कृत नयचक्रमें भी रचना-काल दिया हुआ नहीं है और न दूसरे प्रमाणोंसे उसे सिद्ध करके बतलाया गया है। ऐसी स्थितिमें आलापपद्धतिपर कर्तृत्व-विषयक सन्देहको छोड़कर प्रकृत-विषयमें उससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। और आलापपद्धतिका कर्तृत्व संदिग्ध होने पर उसमें पाया जाने वाला तत्त्वानुशासनका उक्त पद्य अपने समय-निर्णयमें कोई सहायक नहीं होता। अत: तत्त्वानुशासनके समयकी जो उत्तर-सीमा ११वीं शताब्दीका प्रथम चरण ऊपर स्थिर की गई है वही स्थिर रहती है।

बाह्य-परीक्षणका उपसंहार

इस सारे बाह्य-परीक्षण-द्वारा तत्त्वानुशासनके समयकी उत्तर-सीमा पं० आशाधरजीके समय विक्रमकी १३वीं शताब्दीके उत्तरार्ध (सं० १२८५) से पीछे हटती-हटती ११वीं शताब्दीके प्राय: प्रारम्भ तक पहुँच जाती है और इस तरह पूर्व तथा उत्तर सीमाओंके मध्यमें कोई ५०-६० वर्षका ही अन्तराल अवशिष्ट रह जाता है। इस अन्तराल पर विचार-के लिये जब फिरसे अन्त:परीक्षणकी ओर ध्यान दिया जाता है तो मालूम होता है कि तत्त्वानुशासनपर अमृतचन्द्राचार्यके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादिकी टीकाओंका भी प्रभाव है, उनकी युक्तिपुरस्सरकथ-नशैलीको अपनाया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि निश्चय और व्यव-

हार दोनोंनयोंकी दृष्टिको उनके समान ही साथ लेकर चला गया है। इन दोनों अध्यात्मनयोंकी दृष्टि यद्यपि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके समयसारादि ग्रन्थोंमें पहलेसे सुरक्षित चली आती है परन्तु अमृतचन्द्राचार्यने उसे खूब उजाला है। अमृतचन्द्राचार्यकी इस कथनशैली एवं दृष्टिके अतिरिक्त तत्त्वानुशासनमें तात्त्विक तथा कुछ साहित्यिक अनुसरण भी पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं :—

(१) सप्त तत्त्वोंका हेयोपादेय रूपमें विभागीकरण—

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनाऽऽस्रवः स्मृतः ॥७॥
संवरो निर्जरा हेय-हान-हेतु-तयोदितौ।
हेय-प्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः ॥८॥ (तत्त्वार्थसार)

बन्धो निबन्धनं चाऽस्य हेयमित्युपदर्शितम्।
हेयस्याऽशेषदुःखस्य यस्माद्बीजमिदं द्वयम् ॥४॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम्।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥ (तत्त्वानुशासन)

(२) निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्गके दो भेद और उनमें साध्य-साधनता—

निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्मृतः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (तत्त्वार्थसार)

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (तत्त्वानुशासन)

ये दोनों नमूने अपने-अपने विषयमें स्पष्ट हैं और उनके लिए विशेष कुछ कहनेकी जरूरत नहीं रहती।

अमृतचन्द्राचार्यका समय विक्रमकी १० वीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। पट्टावलीमें उनके पट्टारोहणका समय जो वि० सं० ९६२ दिया है वह ठीक जान पड़ता है; क्योंकि सं० १०५५ में बनकर समाप्त हुए 'धर्मरत्नाकर' ग्रन्थमें अमृतचन्द्राचार्यके 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' से कोई ६०

पद्य उद्धृत पाये जाते हैं, जिसकी सूचना पं० परमानन्दजी शास्त्री-ने अनेकान्त वर्ष ९ की संयुक्त किरण ४-५ में की है। इससे अमृतचन्द्र उक्त संवत् १०.५ से पूर्वकालिक विद्वान हैं यह सुनिश्चत है। उपासकाचारके कर्त्ता अमितगति (सं० १०५०) से भी वे पूर्वके विद्वान् हैं, जिनके उपासकाचारमें पुरुषार्थसिद्ध्युपायका कितना ही अनुसरण पाया जाता है, जिसे पं० कैलाशचन्दजी शास्त्रीने जैनसन्देशके शोधाङ्क नं० ५ में प्रकट किया है। इन अमितगति (द्वितीय) से दो पीढ़ी पूर्वके विद्वान् अमितगति प्रथमके योगसार प्राभृत पर भी अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादिटीकाओंका प्रभाव लक्षित होता है, जिनका समय अमितगति द्वितीयसे कोई ४०-५० वर्ष पूर्वका जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें अमृतचन्द्रसूरिका समय विक्रमकी १०वीं शताब्दीका प्राय: तृतीयचरण और तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेनाचार्यका समय १०वीं शतीका प्राय: चतुर्थचरण निश्चित होता है तथा अमितगति प्रथम विक्रम की ११ वीं शताब्दीके प्राय:[१] प्रथमचरणके विद्वान ठहरते है। ये तीनों ही अध्यात्म-विषयके प्राय: सम-सामयिक प्रौढ़ विद्वान हुए हैं और तीनोकी कथनशैली एक दूसरेसे मिलती-जुलती है, जिनमें वृद्धताका श्रय अमृतचन्द्राचार्यको प्राप्त जान पड़ता है।

६. रामसेनके गुरु

इस तरह अन्तरंग और बहिरंग दोनो परीक्षणोसे जब तत्त्वानुशासनकार रामसेनाचार्यका समय विक्रमकी १०वीं शताब्दीका प्राय: २ अन्तिमचरण निर्धारित होता है तब उनके तथा उनके गुरुवोंके परिचय-विषयम विशेष कुछ खोजने-कहने आदिका अवसर प्राप्त होता है। अत: अब उसीका प्रयत्न किया जाता है :—

---

१ २. 'प्राय:' शब्दका प्रयोग इसलिए किया गया है कि वह समय कुछ वर्ष पूर्वका तथा कुछ बादका भी हो सकता है।

श्रीसोमदेवसूरिका 'यशस्तिलक' ग्रन्थ शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ है, जो कि एक बड़ा ही महत्वपूर्ण गद्य-पद्यात्मक चम्पू ग्रन्थ है। इसके बहुतसे पद्योंको जयसेनसूरिने अपने उक्त 'धर्मरत्नाकर' में उद्घृत करके उन्हें ग्रन्थका अंग बनाया है।

"दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान् पुंसि करोति किम्।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः॥"

इस पद्यको तो उन्होंने 'तथा चोक्तं कलिकालसर्वज्ञैः' इस वाक्यके साथ उद्घृत किया है, और इस तरह सोमदेवसूरिको 'कलिकालसर्वज्ञ' सूचित किया है, जिससे यह भी पता चलता है कि हेमचन्द्राचार्यको श्वेताम्बरसमाजमें जो 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा जाता है उससे कोई २००वर्ष पहले दिगम्बरसमाजमें सोमदेवसूरिको 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा जाता था। और इसका प्रधान श्रेय उनकी यशस्तिलक-जैसी असाधारण रचनाओंको ही प्राप्त जान पड़ता है। इस ग्रन्थमें आठवें आश्वासके अन्तर्गत 'ध्यानविधि' नामका एक कल्प (३९) है, जो निर्णयसागरीयसंस्करणके उत्तरखण्डमें पृ० ३९१ से ४०० तक मुद्रित हुआ है। इस 'ध्यानविधि' कल्पका तत्त्वानुशासन पर कोई प्रभाव मालूम नहीं होता, और इससे यह जाना जाता है कि तत्त्वानुशासनके अवतार-समय यशस्तिलक बनकर समाप्त नहीं हुआ था—उसका निर्माण हो रहा था। अन्यथा उसका कुछ न कुछ प्रभाव जरूर पड़ता—कमसे कम धर्म्मध्यानके स्वरूप-कथनमें अन्यरूपोंके साथ धर्मका वह रूप भी ग्रहण किया जाता जिसे सोमदेवने यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतमें 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'के रूपमें प्रतिपादित किया है।

इससे तत्त्वानुशासनका जो समय विक्रमकी १० वीं शताब्दीका अन्तिमचरण ऊपर निश्चित किया गया है वह और पुष्ट होता है। साथ ही यह भी मालूम पड़ता है कि सोमदेवने नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें जिन महेन्द्रदेव भट्टारकका अपनेको 'अनुज' (छोटा गुरुभाई) लिखा है और जिन्हें 'वादीन्द्रकालानल' बतलाया है वे उन महेन्द्र-

देवसे भिन्न नहीं है जिनका रामसेनने अपने शास्त्र-गुरुओंमें उल्लेख किया है[1]। सम-सामयिक होनेसे उनकी संगति ठीक बैठ जाती है। महेन्द्र-देव नामके कोई दूसरे महाविद्वान् विक्रमकी १०वीं शताब्दीमें ऐसे पाये भी नहीं जाते जो रामसेनके शास्त्रगुरुका स्थान ले सकें।

सोमदेवने यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत दोनों ग्रन्थोंमें अपने-को भगवन्नेमिदेवका शिष्य लिखा है, जो कि यशोदेवके शिष्य थे, और उन्हें सकल-तार्किकोंका चूडामणिरूप महावादी प्रकट किया है। इन भगवन्नेमिदेवके बहुत शिष्य थे, जिनमेंसे एकशतक शिष्योंके अवरज (अनुज) और एक शतकके पूर्वज सोमदेव थे। ऐसा परभनीके ताम्रशासन (दानपत्र) से मालूम होता है[2], जो यशस्तिलक (शक ८८१) से सात वर्ष बाद शक सं० ८८८ के गत होने पर वैशाखकी पूर्णिमाको लिखा गया है और जिसमें राष्ट्रकूट नरेश श्रीकृष्णराजदेवके महासामन्त

---

१. नीतिवाक्यामृतकी वह प्रशस्ति इस प्रकार है:—

"इति सकल-तार्किक-चक्र-चूडामणि-चुम्बित-चरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनी-पवित्रित-त्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण, वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवर्ति-वादीभपंचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि-कविकुलराज-प्रशस्ति-प्रशस्तालंकारेण, षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणिसूत्र-महेन्द्रमातलि-संजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति।"

२. ताम्रशासनका वह अंश इस प्रकार है:—

श्रीगौडसंघे मुनिमान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे।
बभूव यस्योग्रतपःप्रभावात्समागमः शासनदेवताभिः ॥१५॥
शिष्योऽभवत्तस्य महर्द्धिभाजः स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा।
श्रीनेमिदेवः परवादिदर्पद्रुमावलीच्छेद-कुठारनेमिः ॥१६॥
तस्मात्तपःश्रियो भर्त्ता (र्त्तु) ल्लो (र्लो) कानां हृदयंगमाः।
बभूवुर्बहवः शिष्या रत्नानीव रत्नाकरात् ॥१७॥
तेषां शतस्यावरजः शतस्य तथा (था) भवत्पूर्वज एव धीमान्।
श्रीसोमदेवस्तपसः श्रुतस्य स्थानं यशोधाम गुणोर्जितश्रीः ॥१८॥

चालुक्यवंशी अरिकेसरीने अपने पिता बद्दिगके द्वारा निर्मित शुभधाम-जिनालयके लिये एक ग्राम उक्त सोमदेवको दानमें दिया है[१]। नेमिदेवके शिष्योंमें जो १०० शिष्य सोमदेवके अग्रज (बड़े गुरुभाई) थे, उनमें महेन्द्रदेव प्रमुख विद्वान् तथा सोमदेवके साथ विशेष सम्पर्क एवं घनिष्टताको प्राप्त जान पड़ते हैं, इसीसे सोमदेवने नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें उन्हींका नाम खास तौरसे गुरुनेमिदेवके नामान्तर उल्लेखित किया है और उन्हें 'श्रीमद् वादीन्द्रकालानल' एवं 'भट्टारक' जैसे विशेषणोंसे विशिष्ट बतलाया है।

यशस्तिलकके प्रथम आश्वासका अन्तिम पद्य इस प्रकार है :—

सोऽयमाशार्पितयशः महेन्द्रामरमान्यधीः।
देयात्ते संततानन्दं वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः।

यह पद्य दो अर्थोंके श्लेषको लिये हुए है—एक अर्थ जिनाधिपके पक्षमें और दूसरा सोमदेवके पक्षमें घटित होता है। 'सोमदेवः' यह नाम पद्यके चारो चरणोंके आद्याक्षरोंको मिलाकर बनता है, ऐसा श्रुतसागरकी टीकामें सूचित किया गया है। सोमदेवके पक्षमें 'महेन्द्रामरमान्यधीः (महेन्द्रदेवके द्वारा जिसकी बुद्धि सराही गई है) यह विशेषणपद उसी महेन्द्रदेवके उल्लेखको लिये हुए जान पड़ता है जो सोमदेवका बड़ा गुरुभाई था और जिसका उल्लेख नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें उक्त विशेषणों के साथ किया गया है[2]।

कुछ विद्वान् यहाँ प्रयुक्त 'महेन्द्रदेव' का अभिप्राय कन्नौज (कान्यकुब्ज) के राजा महेन्द्रपाल प्रथम या द्वितीयका लेते हैं, और उसका

---

१. शकाब्देष्वाष्टाशीत्यधिकेष्वाष्टाशतेषु गतेषु (प्रव)र्तमानक्षय-संवत्सरे वैशाखयो(पौ)र्णमास्या(स्यां) बुधवारे तेन श्रीमदरिकेसरिणा अनन्तरोक्ताय तस्मै श्रीमत्सोमदेवसूरये······दत्तः। सोदकधारन्दत्तः।

1. A part from the fact that the commentator is not aware of any such word-play, Mahendramara might well refer to Mahendradeva, the elder brother of Somadeva, mentioned in the colophon to his Nitivakyamrit.
—K K. Handiqui, YasastiLaka and Indian culture.

कारण यह कि उन्होंने नीतिवाक्यामृतकी संस्कृत-टीकाका, जो कि किसी जैनेतर विद्वानकी बनाई हुई है और जिसमें कर्त्ताका नाम तथा रचनाका समय दिया हुआ नहीं है, यह कथन सत्य मान लिया है कि कान्यकुब्जके महाराज महेन्द्रदेव (महेन्द्रपाल) ने पूर्वाचार्योंके अर्थशास्त्रकी दुखबोधता और अर्थगुरुतासे खिन्नचित्त होकर ग्रन्थकारको इस सुबोध, ललित एवं लघु नीतिवाक्यामृतकी रचनाके लिये प्रेरित किया,' जो कि समसामयिक उल्लेख न होकर बादको परिकल्पित अथवा किसी किंवदन्तीके आधार पर अवलम्बित जान पड़ता है। क्योंकि उक्त टीकाकार ग्रन्थकार सोमदेवसे कुछ परिचित मालूम नहीं होता, इसीसे उसने उसी कथनके सिलसिलेमें, जो ग्रन्थ-मंगलचारण के प्रास्ताविक रूपमें है, यह भी लिख दिया है कि 'नीतिवाक्यामृतका कर्त्ता मुनिचन्द्र नामका क्षपणकव्रतधर्त्ता है, उसने अपने गुरु सोमदेवको नमस्कारपूर्वक यह निर्विघ्न सिद्धिकर आदि विशेषण-विशिष्ट एक (मंगल) श्लोक कहा है'[1]। टीकाकारके इस कथनका सोमदेवके उक्त दोनों ग्रन्थोंसे तथा परभनीके ताम्रशासनसे भी कोई समर्थन नहीं होता; प्रत्युत इसके नीतिवाक्यामृतके अन्तमें ग्रन्थकर्त्ताकी जो प्रशस्ति लगी है उसके विपरीत भी पड़ता है। यदि कन्नौजके राजा महेन्द्रपालकी प्रेरणासे इस नीति ग्रन्थके रचे जाने जैसी कोई महती घटना घटी होती तो सोमदेव ग्रन्थमें उसका उल्लेख किये बिना न रहते।

---

१. उक्त कथन-सूचक टीकाका वह प्रास्ताविक वाक्य इस प्रकार है :—

अथ तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावस्थायिपराक्रम पालित कृत्स्न कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्य-कृतार्थशास्त्र-दुरवबोध-ग्रन्थगौरव-खिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तितः, सकल-पारिषदत्वान्नीतिग्रन्थस्य नानादर्शनप्रतिबद्धश्रोतृणां तत्तदभीष्ट-श्रीकंठाच्युत-विरंच्यर्हतां वाचनिकनमस्कृति-सूचनं तथा स्वगुरोः सोमदेवस्य च प्रणामपूर्वकं शास्त्रस्य तत्कर्तृत्वं स्थापयितुं सकलसत्त्वकृताभयप्रदानं मुनिचन्द्राभिधानः क्षपणकव्रतधर्ता नीतिवाक्यामृत-कर्ता निर्विघ्नसिद्धिकरं सकलकल्मषहरं प्रकटार्थ-पचकप्रपंचकं श्लोकमेकं जगाद ---

श्री कृष्णकान्त हैंडिकि एम० ए०, वाइस चाँसलर गोहाटी यूनिवर्सिटी (आसाम) ने, अपने 'यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर' नामक अंग्रेजी ग्रन्थके परिशिष्ट (appendix) नं० १ में, सोमदेवके प्रतीहार राज्य कन्नोजके साथ प्रस्तावित सम्बन्ध-विषयमें विचार करते हुए उसे ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकार नहीं किया। साथ ही सोमदेवने यशस्तिलकमें स्वयं अपने संघको 'देवसंघ' के नामसे जो उल्लेखित किया है और परभनीके ताम्रशासनमें उनके दादा गुरु यशोदेवको 'गौडसंघ' का लिखा है, जिसे लेकर कुछ विद्वानोंने यह कल्पना की है कि 'सोमदेव गौड (बंगाल)से दक्षिणदेशको जाते हुए मार्गमें कुछ समयके लिये कन्नौज ठहरे होंगे, उसी समय वहाँके राजा महेन्द्रपाल प्रथमने, जिनका समय ई० सन् ८९३ से ९०७ है, या अधिकसंभाव्य महेन्द्रपाल द्वितीयने, जिनके समयका एक शिलालेख सं० १००३ का प्रतापगढ़ से उपलब्ध हुआ है, उन्हें नीतिवाक्यामृतकी रचनाके लिये प्रेरित किया होगा; इस पर विचार करते हुए दोनों संघ-नामोंपर भी कितना ही नया प्रकाश डाला है और गौड संघको बंगालके संघकी अपेक्षा दक्षिणके गौड़ोंसे संबद्ध सूचित किया है। और अन्तमें लिखा है, कि जहाँ तक सोमदेवका संबंध है उनके इस बंगालसे दक्षिकगमन (migration) का किसी भी बिश्वसनीय प्रमाणसे, जो अब तक प्रकाशमें आए हैं, समर्थन नहीं होता[१]।

परन्तु नीतिवाक्यामृतको सोमदेवने कन्नौजके राजा महेन्द्रपालकी प्रेरणासे लिखा हो या बिना उसकी प्रेरणाके ही रचा हो, इन दोनोंसे अपने मूलविषयपर कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि नीतिवाक्यामृत-

---

१ But the supposed connection of Somadeva with the Pratihar court of Kanauj can hardly be accepted as a historical fact; as, unlike his counection with the Deccan, it is mentioned neithier in the colophons to his works nor in the Prabhani inscniption.

की प्रशस्तिमें उल्लिखित महेन्द्रदेव श्रीनेमिदेवके शिष्य और सोमदेव-के बड़े गुरुभाई थे, इसमें किसीको भी विवाद नहीं है और न कोई यह कहता है कि कन्नौजके राजा महेन्द्रपाल प्रथम या द्वितीयने सोमदेवके गुरु नेमिदेवके पास जिनदीक्षा ग्रहण की थी अथवा सोमदेव महेन्द्रपाल राजाका कौटुम्बिक दृष्टिसे छोटा भाई था। यदि कोई ऐसा कहे भी तो वह कोरी कल्पना होगा, इतिहास उसका साथ नहीं दे सकता, महेन्द्रदेव का 'वादीन्द्रकालानल' विशेषण भी कोई राज-विशेषण नहीं है। प्रत्युत इसके, नीति वाक्यामृतके टीकाकारने टीकाके समय तक महेन्द्रपालको शिवभक्तके रूपमें उल्लेखित किया है और लिखा है कि 'उनकी शिव-पार्वती भक्तिकी तत्परताका विचार कर ग्रन्थके 'सोमं सोमसमाकारं' इत्यादि मंगल-पद्यकी प्रथमतः शिवपरक अर्थमें व्याख्या की जाती है[१]।

ऐसी स्थितिमें रामसेनके शास्त्रगुरुवोमें जिन महेन्द्रदेवका नामो-ल्लेख है वे श्रीनेमिदेवके शिष्य और सोमदेवके बड़े गुरुभाई थे, यह सुनिश्चित होता है।

रामसेनके शेष तीन शास्त्र-गुरुवोंमें वीरचन्द्र और शुभदेवका कहीं-से कोई परिचय प्राप्त नहीं हो सका। चौथे शास्त्रगुरु विजयदेवके विषय में छान-बीन करते हुए यह खयाल उत्पन्न होता है कि ये विजयदेव संभवतः वे ही जान पड़ते हैं, जो 'श्रीविजय' के नामसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हैं[२], जिन्होंने भगवती आराधना पर अपने नामानुरूप 'विजयो-दया' नामकी टीका लिखी है और जिनका दूसरा नाम अपराजित सूरि है, जो टीकाके साथ दिया हुआ है। अतः टीकामें दी हुई उनकी गुरु-परम्परा आदि पर ध्यान देते हुए श्रीविजयके सम्बन्धमें जो अनुसन्धान-कार्य किया गया है और उससे जो कुछ निष्कर्ष निकला है उसे यहाँ दे देना उचित जान पड़ता है और वह इस प्रकार है :—

१. अत्र तु श्रीमन्महेन्द्रपालदेवस्य परमेश्वरपार्वतीपतौ नितान्तभक्ति-तत्परतां विचिन्त्य प्रथमचराचरगुरुप्रमथनाथमुररीकृत्य व्याख्यायते।

२. देखो, अनेकान्तवर्ष १ कि० ४, वर्ष २ कि० ४, ६, ८,।

(क) भगवती आराधनाकी 'विजयोदया' टीकाकी प्रशस्तिमें टीकाकार अपराजितसूरि (श्रीविजय) ने अपनेको चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यका प्रशिष्य और बलदेवसूरिका शिष्य बतलाया है। साथ ही, नागनन्दीको अपना विद्यागुरु बतलाते हुए उन्हींकी प्रेरणासे टीकाका रचा जाना सूचित किया है[1], टीकाके रचे जानेका कोई समयादिक नहीं दिया। इससे प्रशस्तिगत नामोंको ठीकसे पहचानने की समस्या खड़ी हुई, क्योंकि एक नाम के अनेक विद्वान तथा एक विद्वान के अनेक शिष्य भी हुए है और उन सबके बहुधा व्यक्तिगत उल्लेख मिलते हैं—पूर्वापरगुरुशिष्यादिके सम्बन्धको व्यक्त करते हुए नहीं।

(ख) चन्द्रनन्दिनामके एक आचार्यका पुराना उल्लेख मर्कराके ताम्रशासन (दानपत्र) में मिलता है, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यकी वंशपरम्परामें होनेवाले छह आचार्योंका नाम गुरु-शिष्यके क्रमसे दिया है, उनमें छठे आचार्य चन्द्रनन्दि हैं, जिन्हें इस पत्रद्वारा शक सं० ३८८ (वि० सं० ४२३) में एक ग्राम दान दिया गया है। यदि उक्त श्रीविजय इन्हीं चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य हों तो उनका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्राय: अन्तिमचरण बैठता है।

दूसरे चन्द्रनन्दि नामक आचार्यका उल्लेख श्रीपुरुषके दानपत्र (नागमंगल ताम्रशासन) में मिलता है जो शक सं० ६९८ (वि० सं० ८३३) में उत्कीर्ण हुआ है, और जिसमें चन्द्रनन्दिकी शिष्यपरम्पराका—कुमारनन्दि, कीर्तिनन्दि, विमलचन्द्र, गोवर्पैयके क्रमसे उल्लेख करते हुए, गोवर्पैयको दानके दिये जानेका विधान है। इस दानपत्रमे चन्द्रनन्दिको मूल-मूलशर्णाभिनन्दित नन्दिसंघ, एरेगितु नामकगण और मूलिकलगच्छका गुरु (आचार्य) सूचित किया है१। 'महाकर्मप्रकृत्याचार्य' जैसा कोई

---

१. "चन्द्रनन्दि-महाकर्मप्रकृत्याचार्य-प्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवे न बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयश:प्रसरेणाऽपराजितसूरिणा श्रीनागनन्दिगणिविचोदितेन रचिता—

विशेषण उनके साथमें नहीं है और न उनकी शिष्य-परम्परामें बलदेव-सूरि, अपराजितसूरि या श्रीविजयका ही कोई नाम है। फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि चन्द्रनन्दिकी कुमारनन्दिसे भिन्न दूसरी शिष्य-परम्परा बलदेवसूरिसे प्रारम्भ हुई होगी और इसलिए उक्त श्रीविजय इन्हींके प्रशिष्य होंगे तो श्रीविजयका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दीका प्रायः उत्तरार्ध बनता है।

उक्त दोनों चन्द्रनन्दि आचार्योंके समयको देखते हुए हमारे विजयदेव उनमेंसे किसीके भी प्रशिष्य नहीं हो सकते; क्योंकि उनके साक्षात् शिष्य रामसेन अपने तत्त्वानुशासनमें बादको होने वाले विक्रमकी ९वीं-१०वीं शताब्दी तकके आचार्य भगवज्जिनसेन, गुणभद्र, और अमृतचन्द्रके ग्रन्थ-वाक्योंको अपना रहे अथवा उनका अनुसरण कर रहे हैं।

(ग) श्री डा० ए० एन० उपाध्येने बृहत्कथाकोशकी प्रस्तावना (Introduction) में अपराजितसूरिके समयादिका विचार करते हुए और उसके निर्णयमें उनकी विजयोदयाटीकाकी प्रशस्तिमें दिये हुए तथ्यों (facts) को बहुत कुछ अपर्याप्त (too meagre) बतलाते हुए लिखा है कि—

'यदि यह मान लिया जायकि चन्द्रनन्दि और चन्द्रकीर्ति परिवर्तनीय (interchangeable) नाम हैं तो उनकी दृष्टिमें एक समूह उत्कीर्ण लेखों (inscription)[1] का ऐसा है जो एक श्रीविजयका

---

१. अष्टानवत्युत्तरे षट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेष्वात्मनः प्रवर्द्धमानविजयवीर्य-संवत्सरे पंचशततमे प्रवर्द्धमाने मान्यपुरमधिवसति विजयस्कन्दावारे श्रीमूल-मूलशर्णाभनन्दित नन्दिसंघान्वये एरेगित्तूर्नाम्नि गणे मूलिकल्गच्छे स्वच्छतर-गुणकिरणततिप्रह्लादितसकललोकः चन्द्र इवापरः चन्द्रनाम गुरुरासीत्। तस्य शिष्यस्समस्तावबुधलोकपरीक्षण-क्षमाशक्ति। परमेश्वर-लालनीयमाहिमा कुमारवद् द्वितीयकुमारनन्दिनामामुनिपतिरभवत्। तस्यान्तेवासि······।

1. E. C. VIII, Nagar No. 35-37; Tirthhalli No. 12; IV, Nagmangal 100; V. Channarayapattan 149; BeLur 17; Arsiker 1; II. No. 54 (or N. 67, 2nd edit on's); VI, Kadur 69.

उल्लेख करते हैं, जिनका दूसरा नाम 'पंडित पारिजात' था और जो अपनी विद्या तथा तपश्चर्याकी दृष्टिसे हेमसेनके समकक्ष थे। उनके पूर्वज-चन्द्रकीर्ति और कर्मप्रकृति नामके थे। अपराजितसूरि पं० आशाधर से पूर्ववर्ति हैं, अनगारधर्मामृतकी टीका (सं० १३००) में उनका उल्लेख है। कर्मप्रकृति एक विरल नाम है, और जहाँ तक संभाव्य है श्रीविजय और उत्कीर्ण लेख उसी एक मुनि (कर्मप्रकृति) का उल्लेख करते हैं। इसका मतलब यह कि श्रीविजयका समय ईस्वी सन् १०७७ से, जोकि एक शिलालेखका समय है, स्वल्पतः पूर्व (Slightly earliar)—बहुत थोड़ा ही पूर्ववर्ती—है।'

इस लेखद्वारा डा० उपाध्यायजीने मुख्यतः चार कल्पनाएँ की हैं—एक चन्द्रनन्दि और चन्द्रकीर्तिके एक व्यक्तित्वकी, दूसरी चन्द्रनन्दि और कर्मप्रकृतिके भिन्न व्यक्तित्वकी, तीसरी श्रीविजयके अपराजितसूरिके स्थान पर या उसके अतिरिक्त 'पंडित पारिजात' नामकी, और चौथी अपराजितसूरिका समय ईस्वी सन् १०७७ से थोडा ही पूर्व होनेकी। इनमेंसे पहली-दूसरी कल्पनाएँ प्रायः संभाव्य जान पड़ती हैं, नामोंके उल्लेखमें कभी-कभी इस प्रकारकी तब्दीली हो जाया करती है और इन दोनोंकी पुष्टि मल्लिषेणप्रशस्ति नामके शिलालेख नं० ५४ (६७) से एक प्रकार हो जाती है, जिसमें बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंका उल्लेख करते हुए चन्द्रनन्दि नामसे किसीका उल्लेख न करके चन्द्र-कीर्तिका उल्लेख किया है और चन्द्रकीर्तिके अनन्तर पृथक् व्यक्तित्वके रूपमें कर्मप्रकृति मुनिका नाम दिया है। इन दोनों कल्पनाओंके आधार पर विजयोदया-टीका-प्रशस्तिके 'चन्द्रनन्दि-महाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण' इस अपराजितसूरिके विशेषण-पदका अर्थ प्रचलितअर्थके[1] विरुद्ध यह करना होगा कि वे चन्द्रनन्दि और महाकर्मप्रकृत्याचार्यके प्रशिष्य थे—उनके गुरु बलदेव इन दोनों के शिष्य रहे होंगे—और यही अर्थ उपा-

१. 'महाकर्मप्रत्याचार्य' विशेषणसे विशिष्ट चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य।

ध्यायजीने किया भी है। ये दोनों कल्पनाएँ उस वक्त तक माननीय हैं जब तक कोई स्पष्ट प्रमाण इनके विरुद्ध सामने न आजाय।

तीसरी और चौथी कल्पनाएँ बहुत कुछ विचारणीय हैं—उन्हें सहसा ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि अभी तक ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ जो अपराजितसूरिका दूसरा नाम श्रीविजय-से भिन्न या अतिरिक्त 'पंडित पारिजात' प्रकट करता हो। एक श्री-विजयका दूसरा नाम नगरतालुकके शिलालेख नं० ३५में पंडित 'पारिजात' जरूर दिया है। इन्हीं श्रीविजयका बेलूरतालकके शिलालेख नं० १७ में और श्रवण बेल्गोल-शिलालेख नं० ५४ (६७) में भी उल्लेख है; परन्तु वहाँ उनका दूसरा नाम 'पंडित पारिजात' नहीं दिया। हो सकता है इन्हीं श्रीविजयका जो उल्लेख दूसरे शिलालेखोंमें है उनमें उनका दूसरा नाम 'पंडित पारिजात' दिया हो। परन्तु ये श्रीविजय वे श्रीविजय नहीं हैं जो अपराजितसूरि कहलाते हैं। ये रक्कसगंग आदि राजाओंके गुरु-थे, उनकेद्वारा पूजित और श्रीमतिसागरशिष्य-वादिराजके द्वारा प्रशंसित थे। इनकी प्रशंसामें वादिराजने जो पद्य कहा है वह श्रवण-बेल्गोल और नगरतालुकके उक्त शिलालेखोंमें उद्धृत है। यहाँ उसे श्रवण-बेल्गोल-शिललेखसे चूर्णिवाक्यके साथ उद्धृत किया जाता है:—

[1]चूर्णि ॥ स्तुतो हि स भवानेष श्रीवादिराजदेवेन ॥
यद्विद्या-तपसोः प्रशस्तमुभयं श्रीहेमसेने मुनौ।
प्रागासीत्सुचिराभियोगबलतो नीतं परामुन्नतिं।
प्रायः श्रीविजये तदेतदखिलं तत्पीठिकायां स्थिते।
संक्रान्तं कथमन्यथानतिचराद्विद्या दृगीदृक् तपः ॥४६॥

---

१ यह चूर्णि शिलालेखके जिस स्तुतिपद्यसे सम्बन्ध रखती है वह इस प्रकार है:—

गंगावनीश्वर-शिरोमणि-बद्ध-संध्यारागोल्लसच्चरणचारुनखेन्दुलक्ष्मीः।
श्रीशब्द-पूर्व-विजयान्तविनूतनामा श्रीमानमानुषगुणोऽस्ततमः प्रमांशुः ॥४५॥

इस स्तुतिपद्यमें बतलाया है कि 'श्रीहेमसेनमुनिमें विद्या और तपका जो उत्कर्ष चिरकालीन योगबलसे परमोन्नतिको पहले प्राप्त था वह प्रायः सबका सब उनकी पीठिका (आसन-पट्ट) पर स्थित श्री-विजयमें संक्रमण कर गया है, अन्यथा इतनी शीघ्रतासे ऐसी विद्या और ऐसे तपका प्रादुर्भाव कैसे होता?'

इस स्तुतिसे जहाँ श्रीविजयके हेमसेन-जैसे महान् विद्वान और तपस्वी होनेका तथा शीघ्र ही विद्या और तपश्चर्यामें महती उन्नति करने का पता चलता है वहाँ यह भी ध्वनित होता है कि वे हेमसेनके पट्ट-शिष्य-जैसी स्थितिमें थे। और इस तरह अपराजित सूरिसे उनके व्यक्तित्वका और भी पृथकत्व हो जाता है; क्योंकि अपराजितसूरि बल-देव सूरिके शिष्य थे, हेमसेनके नहीं। और न उनमें हेमसेनकी विद्या-तपश्चर्याकी संक्रान्तिका कहीं कोई उल्लेख है। वे गंगराज-पूजित भी नहीं थे, जैसा कि इन श्रीविजयके सम्बन्धमें शिलालेखके पूर्ववर्ती पद्य पं० ४५में उल्लेख है और जहाँ इन्हें क्षमानुगगुणः, अस्ततमः और प्रमांशुः जैसे विशेषणोंके साथ भी उल्लेखित किया है, जो सब इनके असाधारण व्यक्तित्वके द्योतक हैं। श्रीविजयनामके और भी अनेक विद्वान हुए हैं और और यह बात डा० उपाध्यायजीको भी मान्य है[१]।

समय-सम्बन्धी कल्पनामें जिस शिलालेखके समयका उल्लेख किया गया है वह शक सं० ९९९ में उत्कीर्ण नगरताल्लुकका शिलालेख नं० ३५ है, जिसमें वादिराजके उत्तरवर्ती कमलभद्राचार्यको एक दान दिया गया है। इसमें पूर्ववर्ती गुरुवोंका उल्लेख करते हुए जहाँ वादिराजसूरिका खास तौर-से उल्लेख है वहाँ तदनन्तर दो पद्य श्रीविजयकी प्रशंसामें भी दिये गये हैं, जिनमें एक पद्य वही है जो वादिराजद्वारा उनकी प्रशंसामें कहा गया है। इससे श्रीविजयका समय इस शिलालेखके समय (ई० स० १०७७) से थोड़ा ही पूर्व (Slighly earliar) नहीं किन्तु ५०-६० वर्ष पूर्व भी

१.……even if we hesitate to accept Sri Vijay's identity with others of that name. (बृहत्कथाकोश-प्रस्तावना)

हो सकता है; क्योंकि इस शिलालेखके समय (शक सं० ९९९) वादिराजके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं है, उन्होंने इस समयसे ५२ वर्ष पूर्व शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२, ईस्वी सन् १०२२) में पार्श्वनाथचरितकी रचना की है, अतः उनके द्वारा प्रशंसित श्रीविजयका समय और भी पूर्वका होना चाहिये अथवा हो सकता है। वादिराज-द्वारा प्रशंसित श्रीविजय ही यदि अपराजितसूरि होते तो उनकी 'विजयोदया' टीकामें भगवज्जिनसेनके आर्ष महापुराण, तथा अमृताचन्द्राचार्यके ग्रन्थोंका कुछ न कुछ प्रभाव जरूर लक्षित होता, परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता[1]। डा० उपाध्यायजीने भी अपनी उक्त प्रस्तावनामें जटिल मुनिकृत वरांगचरितके उपयोगकी सूचना तो की है, जो आर्ष महापुराणसे पूर्ववर्ती है; परन्तु आर्ष महापुराण तथा उसके उत्तरवर्ती ग्रंथोंके उपयोगकी कोई सूचना नहीं की, जिससे मालूम होता कि उन्होंने भी अपने अन्तःपरीक्षणद्वारा महापुराणादिके प्रभावको उक्त टीकामें लक्षित नहीं किया।

(घ) एक श्रीविजय जंबूदीवपण्णत्तीके कर्त्ता पद्मनन्दिके शास्त्रगुरु थे, जिनके विषयमें पद्मनन्दिने लिखा है कि 'वे नाना नरपतियोंसे पूजित, विगतभय, संगभंगउन्मुक्त, सम्यग्दर्शन-शुद्ध, संयम-तप-शील-संपूर्ण, जिनवर-वचन-विनिर्गत-परमागमदेशक, महासत्त्व, श्रीनिलय, गुणोंसे युक्त और विशेषख्यातिप्राप्त गुरु थे। उन्हींके पाससे जिनवर-वचन-विनिर्गत अमृतभूत अर्थपदसंग्रह (आगम) को सुनकर तथा कुछ प्राप्तकर उन्होंने इस ग्रंथके उद्देशों को रचा है[2]। साथ ही, ग्रंथनिर्माणका कोई समय न

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष २ कि० ८।

२. णाणा-नरवइ-महिदो विगयभओ संग-भंग-उम्मुक्को।
सम्मंद्द सणसुद्धो संजम-तप-सीलसंपुण्णो ॥१४३॥
जिणवर-वयण-विनिग्गय-परमागदेसओ महासत्तो।
सिरिणिलओ गुणसहिओ सिरिविजयगुरु त्ति विक्खाओ ॥१४४॥
सोऊण तस्स पासे जिणवयण-विनिग्गयं अमदभूदं।
रइदं किंचिद्दुद्देसे अत्थपदं तहव लद्धूण ॥१४५॥
—जंबू० प० उद्देश १३

देते हुए यह सूचित किया है कि 'पारियात्र देशके अन्तर्गत वारां नगरमें रहते हुए, जिसका स्वामी उस समय शक्तिभूपाल था, यह जंबूद्वीपपण्णत्ती संक्षेपसे लिखी है।' अतः शक्तिभूपालके समयकी जो अवधि उसका मध्यवर्तीकाल इस जंबूद्वीपपण्णत्तीका निर्माणकाल और उससे प्रायः कितना ही पूर्ववर्ती काल इन श्रीविजयगुरुका अस्तित्वकाल समझना चाहिये; क्योंकि जंबूद्वीपपण्णत्तीके निर्माण-समय श्रीविजय मौजूद थे ऐसा ग्रन्थपरसे मालूम नहीं होता।

पद्मनन्दिने वारां नगरके स्वामी शक्तिभूपालको सम्यग्दर्शन-शुद्ध, कृत-व्रतकर्म, सुशीलसंपन्न, अनवरत-दानशील, जिनशासनवत्सल, धीर, नानागुणगणकलित, नरपतिसंपूजित (सम्मानित), कलाकुशल और नरोत्तम-विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। इससे वह जिनशासनभक्त कोई अच्छा जागीरदार मालूम होता है। हो सकता है कि 'भूपाल' उसके नामका ही अंशहो अथवा उसे टाइटिलके रूपमें प्राप्त हो और राजा या महाराजाकेद्वारा सम्मानित होनेके कारण ही उसे *'णरवइसंपूजिओ'* विशेषण दिया गया हो। इसके समयकी अवधिका यद्यपि अभीतक कोई पूरा पता नहीं चला परन्तु श्रीओझाजीके 'राजपूतानाका इतिहास' द्वितीय भागसे इतना जरूर मालूम पड़ा है कि बारांनगर जो वर्तमानमें कोटा राज्यके अन्तर्गत है वह पहले मेवाड़के अन्तर्गत था और इसलिये मेवाड़ भी पारियात्रदेशमें शामिल था, जिसे हेमचन्द्र-कोशमें **"उत्तरो-विन्ध्यात्पारियात्रः"** इस वाक्यके अनुसार विन्ध्याचलके उत्तरमें बतलाया है। इस मेवाड़का एक गुहिलवंशी राजा शक्तिकुमार हुआ है, जिसका एक शिलालेख वैशाखसुदि १ सं० १०३४ का 'आहाड'में (उदयपुरके समीप) मिला है। यदि इस समयके लगभग ही जंबूद्वीपपण्णत्तीका निर्माण-काल मान लिया जाय – जिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ओझाजी-के 'राजपूतानाका इतिहास' के अनुसार गुहिलोतवंशके राजा नरवाहनका पुत्र शालिवाहन वि० सं० १०३०-३५ के लगभग मेवाड़का शासक

था, जिसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र शक्तिकुमार हुआ है[1]—तो श्रीविजयका समय इस सं० १०३४ से ५०-६० वर्षपूर्व तक माना जाना बहुत कुछ संभाव्य जान पड़ता है—ऐसी विद्या और ख्यातिके सन्त प्रायः बहुत कुछ दीर्घजीवी हुआ करते हैं—और यह समय रामसेन तथा उनके शास्त्र-गुरु महेन्द्रदेवके समयके साथ संगत बैठता है; इससे ये श्रीविजय ही रामसेनके चौथे शास्त्रगुरु थे ऐसा प्रतीत होता है। इनके गुणगणका परिचय ऊपर दिया जा चुका है—गण-गच्छादिका परिचय उपलब्ध नहीं है। ये श्रीविजय पूर्वोल्लिखित उन श्रीविजयसे भिन्न हैं जो वादिराज-द्वारा स्तुत हुए हैं; क्योंकि उनका कार्यकाल हेमसेनाचार्यके बाद तथा वादिराज के जीवनमें ही प्रारम्भ हुआ है ऐसा स्तुति-पद्यसे मालूम होता है। वादिराजका जीवनकाल विक्रमकी ११ वीं शतीका प्रायः उत्तरार्ध है, जब कि इन श्रीविजयका जीवनकाल १० वीं शतीका प्रायः उत्तरार्ध जान पड़ता है।

अब यह विचारणीय है कि रामसेनके दीक्षागुरु कौनसे नागसेन हैं। जिन पाँच नागसेनका परिचय प्रस्तावना के प्रारम्भ (शीर्षक ४) में दिया गया है उनमेंसे प्रथम दो नागसेन तो, अपने समयकी दृष्टिसे-कई तथा एकाधिक शताब्दी पूर्व होनेके कारण-रामसेनके दीक्षागुरु नहीं हो सकते। चौथे नागसेन पंडित हैं, जिनका समय भी करीब एक शताब्दी पूर्वका बैठता है, वे भी दीक्षागुरु नहीं हो सकते। तीसरे नागसेन, जो कुमारसेनके उत्तरवर्ती और चामुण्डरायके साक्षात्गुरु अजितसेनके गुरु आर्यसेन (आर्यनन्दि) के पूर्ववर्ती एवं समकालीन थे और जिनका समय विक्रमकी दसवीं शताब्दीका प्रायः मध्यवर्ती जान पड़ता है, संभवतः ये अथवा गुर्वावलीवर्णित पाँचवें नागसेन ही रामसेनके दीक्षागुरु प्रतीत होते हैं—दोनोंके समयकी संगति रामसेनके पूर्व-निर्णीत समयके साथ ठीक बैठ जाती है।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृ० २५९।

७. रामसेनका विशेष परिचय

इस प्रकार ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारके समयका और रामसेनके दीक्षागुरु तथा दो शास्त्रगुरुवोंका निर्धार हो जानेपर यह तो स्वतः निर्धारित हो जाता है कि जिन रामसेनका गुरुनाम तथा समय भिन्न है वे तत्त्वानुशासन के कर्त्ता रामसेन नहीं—उनसे भिन्न कोई दूसरे रामसेन हैं। जैसे महासेन-व्रतीके शिष्य रामसेन, जिनका शिकारपुर (मैसूर) तालुकेसे प्राप्त शिला-लेखमें उल्लेख है, जिसके द्वारा उन्हें उक्त शक सं० ९९९ (वि० सं० ११३४ ई० १०७७) में एक ग्राम दान किया गया है और जिस शिला-लेखमें उन्हें व्याकरणमें पूज्यपाद, तर्कशास्त्रमें अकलंक, काव्यमें समन्त-भद्र बतलाते हुए मूलसंघ, सेनगण तथा पोगरिगच्छका विद्वान् गुरु (आचार्य) सूचित किया है, वे अपने रामसेनसे भिन्न हैं। सेनगणकी पट्टावलीमें जिन रामसेनका कनकसेन-बन्धुषेणादिके साथ स्मरणोल्लेख है[१] वे भी अपने 'व्याकरण-महेश्वराणां और तार्किकशिरोमणीनां' विशेषणोंपरसे उक्त शिलालेखोल्लिखित रामसेन ही जान पड़ते हैं, और इसलिए अपने रामसेनसे भिन्न हैं। सेनगणकी दूसरी पद्यावलीमें जिन रामसेनका **श्रीनेमिसेनाः खलु तत्र पट्टे श्रीरामसेनाः खलु तार्किकाद्याः**[२]' इस वाक्यके द्वारा उल्लेख है वे भी अपने रामसेनसे भिन्न हैं और संभवतः शिलालेखोल्लिखित ही जान पड़ते हैं;क्योंकि इसमें 'तत्र पट्टे' पदका संबन्ध नेमिसेनके पट्टगुरुसे है, रामसेनके पट्टगुरुसे नहीं। इन दोनों पट्टावलियोंमें दूसरे किसी रामसेनका उल्लेख नहीं है। और इससे प्रायः यह फलित होता है कि तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेन सेनगणके आचार्य नहीं थे, तबवे किस गण, गच्छ अथवा संघके आचार्य थे, यह बात विचारणीय हो जाती है। नन्दिसंघकी प्रसिद्ध पट्टावलीमें रामसेनका कोई नाम नहीं है—

---

१. जैन सिद्धान्तभास्कर प्रथमभागकी किरण १,२-३ में प्रकाशित सेनगण पट्टावली, गद्य ७।

२. जैन सि० भा० भा० १४ कि० २ में प्रकाशित सेनगणपटटावली, पद्य २३।

इस संघके आचार्य प्रायः नन्दि, चन्द्र, कीर्ति, भूषण नामान्त होते हैं। सिंह संघके नामान्त सिंह, कुंभ, आस्रव तथा सागर और देवसंघके नामान्त देव, दत्त, नाग तथा तुंग बतलाये गये हैं[१]। अतः इन दोनों संघोंमें भी इनका संभव नहीं है। काष्ठासंघ, माथुरसंघ और पुन्नाटसंघकी गुर्वावलियों-पट्टावलियों तथा ग्रन्थप्रशस्तियोंमें गुरुवोंके सेनान्त नाम जरूर पाये जाते हैं और रामसेन नामके गुरुवोंका भी उल्लेख है अतः उन पर विशेष विचार एवं जाँच पड़तालका कार्य आवश्यक हो जाता है।

इस विषयमे सबसे पहले उस माथुरसंघको लिया जाता है जिसके संस्थापकका नाम रामसेनाचार्य बहुत कुछ प्रसिद्धिको प्राप्त है—अनेकाऽनेकग्रन्थप्रशस्तियोंमें भी जिसका उल्लेख है[२]— और जिसकी उत्पत्तिका समय देवसेनने दर्शनसारमें वि० सं० ९५३ सूचित किया है। यह समय-अपने रामसेन-समयके निकट पड़नेके कारण इन्हीं माथुर संघ-संस्थापक रामसेनको तत्त्वानुशासनका कर्ता मानलेनेका सहसा मन होता है। परन्तु समय पर गंभीरताके साथ विचारपूर्ण दृष्टि डालनेसे वह ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि दर्शनसारमें उसे काष्ठासंघसे २०० दोसो वर्ष बाद उत्पन्न हुआ बतलाया है और काष्ठासंघकी उत्पत्ति उन कुमारसेनके द्वारा वि० सं० ७५३ में निर्दिष्ट की है जो वीरसेनके शिष्य एवं जिनसेनके गुरुभाई विनयसेनके दीक्षित-शिष्य थे। साथ ही यह भी सूचित किया है कि काष्ठासंघकी यह उत्पत्ति विनयसेन तथा जिनसेनशिष्य गुणभद्रकी मृत्युके बाद हुई है[३]। गुणभद्रकी मृत्युका समय वि०

१. णंदी चंदो कित्ती भूषण णामेहिं णंदिसंघस्स।
सेणो रज्जो वीरो भद्दो तहेव सेणसंघस्स ॥१॥
सिंहो कुंभो आसव सायरणामेहिं सिंहसंघस्स।
देवो दत्तो णागो तुंगो तहेव देवसंघस्स ॥२॥

२. देखो, जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग।

३. देखो, दर्शनसार गाथा नं० ३०-३२, ४०,

सं० ७५३ से पूर्व तो क्या शक सं० ७५३ के पूर्व भी नहीं बनता; क्योंकि शक सं० ७५६ में तो उनके गुरु जिनसेनने जयधवलाटीकाको पूरा किया था, उसके बाद महापुराणके कार्यको विशेषतः अपने हाथमें लिया था, जिसे वे अधूरा छोड़कर स्वर्गवासी होगए और उसको पूरा करनेका भार अपने प्रमुखशिष्य गुणभद्रपर रखगये। गुणभद्रने उसे शक संवत् ८०० के आस-पास किसी समय पूरा किया मालूम होता है; क्योंकि महापुराणके उत्तरार्धरूप उत्तरपुराणके अन्तमें जो पूजा-प्रशस्ति गुणभद्रके शिष्य लोकसेन-द्वारा लगाई गई है उसमें उसका समय शक-सं० ८२० दिया है। ऐसी स्थितिमें काष्ठासंघसे दोसौ वर्षबाद माथुर-संघकी उत्पत्तिका आशय यही निकलता है कि वह शककी १० वीं शताब्दीके प्रायः प्रथमचरणमें उत्पन्न हुआ है और इसलिये उसके संस्थापक रामसेनाचार्य तत्त्वानुशासनके कर्ता नहीं हो सकते। यह दूसरी बात है कि २०० वर्षका उक्त अन्तरालकाल ही गलत हो।

यहाँ इस माथुर-संघके सम्बन्धमें इतना और भी जानलेनेकी जरूरत है कि यह काष्ठासंघकी शाखारूप नन्दीतट आदि चार गच्छोंमेंसे एक गच्छ है जिसका गण तथा संघके रूपमें भी उल्लेख मिलता है, और उस माथुरसंघसे भिन्न जान पड़ता है जिसमें अमितगति आदि आचार्य हुए हैं; क्योंकि अमितगति अपने सुभाषितरत्नसन्दोह आदि ग्रन्थोंमें न तो काष्ठासंघसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं और न रामसेनको अपने गुरुवों-की श्रेणिमें ही स्थान प्रदान करते हैं—धर्मपरीक्षामें उनके गुरुवोंकी पूर्वसीमा देवसेनके गुरु जिनसेन तक पाई जाती है।

हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थोंकी खोज-विषयक पिटर्सन साहबकी ४ थी रिपोर्टपरसे बहुत वर्ष हुए मैंने यह नोट किया था कि 'रामसेनके शिष्य देवसेनका जन्म सं० ६५१ में हुआ है।' हालमें विशेष जानकारीके लिये उस रिपोर्टको प्राप्त करनेका प्रयत्न किया गया परन्तु वह दिल्लीसे बाहर चले जानेके कारण प्राप्त नहीं होसकी; तब मैंने डा० ए० एन० उपाध्याय और बाबू छोटेलालजीसे उसे देखकर उचित सूचना करनेकी

प्रार्थना की। तदनुसार दोनोंने ही उसे देखकर जो सूचना-पत्र दिये हैं उनसे ज्ञात हुआ कि पिटर्सन साहबकी ४ थी रिपोर्टमें देवसेनके नामके आगे यह सूचित किया गया है—'दर्शनसारकाकर्त्ता अपनेको रामसेनका शिष्य बतलाता है और कहता है कि उसने ६६० में दर्शनसारको लिखा है; प्रमाणमें तीसरी रिपोर्टके परिशिष्ट पृ० ३७४ को देखनेकी प्रेरणा की गई है।' साथ ही यह भी सूचित किया है कि 'एक टीकाकारके कथनानुसार देवसेनका जन्म संवत् ६५१ में हुआ था और उसने दर्शन-सारको ६६० में लिखा है' इत्यादि, और इसकेलिये तीसरी रिपोर्टके परिशिष्ट पृ० २२ को देखनेकी प्रेरणा की है। श्री डा० ए० एन० उपाध्यायने तीसरी रिपोर्टके परिशिष्ट पृ० ३७४ को देखकर यह सूचना की है कि वहाँ दर्शनसारका मूल पाठ छपा है, उसमें रामसेनका कोई उल्लेख नहीं है और इसलिये इस सूचनामें कुछ स्खलन हुआ जान पड़ता है जिसके कारण इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। परिशिष्ट पृ० २२ की सूचना मुझे प्राप्त नहीं होसकी, जिससे टीकाकार और उसके कथनका ठीक पता चलता।

परन्तु कुछ भी हो, टीकाकारने देवसेनके जन्म और दर्शनसारके निर्माणके जिनसंवतोंकी सूचना की है वे विक्रमसंवत् न होकर शकसंवत् होने चाहियें; तभी काष्ठासंघकी उत्पत्तिके समयोल्लेखमें जो भ्रान्ति हुई है, उसका सुधार हो सकेगा[१]।

अब रही काष्ठासंघ तथा पुन्नाटसंघकी गुर्वावलियों आदिकी बात। इस विषयकी कुछ अप्रकाशित सामग्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीसे प्राप्त हुई है, जिसकेलिए मैं उनका आभारी हूँ। उपलब्ध सब सामग्रीके अवलोकनसे मालूम होता है कि कुछ गुर्वावलियाँ तो ऐसी हैं जिनमें गुरुवोंका स्मरण कालक्रमसे नहीं पाया जाता—पहले होनेवाले अनेकगुरुवोंका स्मरण पीछे

१. पिटर्सन साहबकी उक्त रिपोर्ट-विषयक सूचनाओंके लिए मैं डा० ए० एन० उपाध्याय कोल्हापुर और बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता दोनोंका आभारी हूँ।

और पीछे होनेवाले अनेक गुरुओंका स्मरण पहले किया गया है—अथवा परस्पर गुरुशिष्यका कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं किया गया और न क्रमशः स्मरणादिकी कोई सूचना ही की गई है। ऐसी गुर्वावलियोंमें रामसेनका नाम होते हुए भी उससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, अतः उन्हें छोड़ा जाता है। यहाँ उन्हीं गुर्वावलियों आदिको लिया जाता है जिनमें प्रायः क्रमसे कथन हैं, क्रमशः कथनकी सूचना की गई है अथवा बहुधा गुरु-शिष्यका सम्बन्ध व्यक्त करते हुए गुरुवोंका स्मरण किया गया है। उनमें एक गुर्वावली काष्ठासंघ-नन्दीतटगच्छकी है[1], जिसमें काष्ठासंघके चार गच्छों—नन्दीतट, माथुर, बागड़, लाडबागड—के नामोंका उल्लेख करते हुए तथा नन्दीतटगच्छके कुछ मुनियोंके क्रमशः कथनकी सूचना करते हुए लिखा हैं :—

तत्र नन्दीतटगच्छे श्रीमताद्यनुसारतं (?)।
क्रमेण मुनिनो वक्ष्ये ये रत्नत्रयमंडिताः ॥२१॥
अर्हद्वल्लभसूरिश्च श्रीपंचगुरुसंज्ञिकः।
गंगसेनो ततो जातो नाग-सिद्धान्त- सेनकौ ॥२२॥
गोपसेनो गुणाम्भोधिः श्रीमन्नोयगुरुस्ततः।
तत्पदमंडने दक्षो ज्ञान-विज्ञान-भूषितः ॥२३॥
रामसेनोऽतिविविदितः प्रतिबोधनपंडितः।
स्थापिता येन सज्जातिर्नारसिंहाऽभिधा भुवि ॥२४॥

इस गुर्वावलीमें जिन आठगुरुवोंका क्रमशः उल्लेख किया गया है उनके नाम इस प्रकार हैं—१. अर्हद्वल्लभसूरि. २. पंचगुरु, ३. गंगसेन, ४. नागसेन, ५. सिद्धान्तसेन, ६. गोपसेन, ७. नोयगुरु (?) ८. रामसेन। इन गुरुवोंमें सातवें गुरुका नाम अस्पष्ट हो रहा है, जिनके पट्टका

१. यह गुर्वावली पं० परमानन्दजीको जयपुर-शास्त्रभंडारके एक गुटके परसे प्राप्त हुई थी, हालमें उनके द्वारा अनेकान्तवर्ष १५ की ५वीं किरणमें प्रकाशित की जा चुकी है।

मंडन रामसेनको बतलाया गया है। साथ ही, रामसेनके विषयमें यह भी सूचित किया है कि वे दक्ष थे, ज्ञान-विज्ञानसे भूषित थे, अतिप्रसिद्ध थे, दूसरोंके प्रतिबोधनमें पंडित थे और उन्होंने नारसिंह नामकी एक सज्जातिकी स्थापना की थी।' काष्ठासंघकी दूसरी लघुगुर्वावली[1] में भी, जिसके गुरुवोंका प्रारम्भ अर्हद्वल्लभसूरिसे न करके 'पंचगुरुसे' किया गया है तथा बीचमें सिद्धान्तसेनका नाम भी छोड़ दिया है, 'श्री मथोयगुरुः' पाठ ही दिया है। दोनों गुर्वावलियोंका यह पाठ साफ अशुद्ध जान पड़ता है। जहाँ तक मैंने इस पाठके शुद्धरूपका विचार किया है वह मुझे 'श्रीमन्नागगुरुः' मालूम होता है—दूसरा कोई पाठ यहाँ उपयुक्त नहीं बैठता। लेखकोंसे 'ग' के स्थान पर 'य' लिखा जाना अथवा पत्रोंके परस्पर चिपक जानेसे वैसा रूप बन जाना एक साधारणसी बात है। एक गुर्वावलीमें एक नामके दो गुरुवोंका होना भी कोई असाधारण बात नहीं है। अनेक गुर्वावलियोंमें ऐसा पाया जाता है; जैसे माथुरसंघी अमितगतिकी प्रशस्तियोंमें उसके पूर्व अमितगति (प्रथम) का होना तथा हरिवंशकार जिनसेनकी गुर्वावलीमें उनके पूर्व दूसरे जिनसेनगुरुका भी होना। ऐसी स्थितिमें रामसेन नागसेनके दीक्षित-शिष्य ही नहीं रहते, किन्तु पट्ट-शिष्य भी स्थिर होते हैं और साथ ही यह भी मालूम होजाता है कि वे काष्ठासंघके नन्दीतटगच्छ और विद्यागणके आचार्य थे—विद्या-

---

१. इस गुर्वावलीके प्रारंभिक दो पद्य इस प्रकार हैं:—

श्रीमन्नादिजिनोद्गणान् समुदितान्संनम्य तान् पूर्वतः
श्रीकाष्ठासंघसरोजहंससदृशान् रत्नत्रयालंकृतान्।
श्रीनन्दीतटगच्छभूषणमणीन् विद्यागणे यान्पीन्
जम्बूस्वामि-सुभद्रबाहुपुरतो वक्ष्ये गुरून् भक्तितः ॥१॥
पूर्वं पंचगुरुर्बभूव गुणवान् श्रीगंगसेनस्ततो
विद्वान्नागगुरुर्बभूव यतिपः श्रीगोपसेनो मुनिः
श्रीमन्नोयगुरुर्विबोधयतिराट् श्रीरामसेनो गुरु-।
स्तस्मात्कर्मगिरेः पविः समभवत् श्रीनेमिषेणस्तथा ॥२॥

गणकी सूचना दूसरी लघु गुर्वावलीमें स्पष्टतया की गई है। पहली गुर्वावलीमें जहाँ रामसेनको अनेक महत्त्वके विशेषणोंके साथ स्मरण किया गया है वहाँ लघु गुर्वावलीमें भी उन्हें 'विबोधपतिराट्' जैसा महत्वका विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ होता है 'विशेषज्ञानके धनी योगीश्वर'।

काष्ठासंघी आचार्यादिकी कृतिरूप अनेक ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें माथुर-संघके प्रवेशके पूर्व जहाँ रामसेनका स्मरण किया गया है वहाँ उन्हें नन्दीतटान्तर्गत-विद्यागणका आचार्य सूचित किया है और जहाँ माथुर-गच्छके साथ रामसेनका स्मरण किया गया है वहाँ उन्हें पुष्करगणका आचार्य सूचित किया गया है[1]। इससे मालूम होता है कि विद्यागणका सम्बन्ध नन्दीतटगच्छके साथ तथा पुष्करगणका माथुरगच्छके साथ रहा है और इसलिये इन दोनों गणोंके आचार्य रामसेन एक दूसरेसे भिन्न है, जिनमें विद्यागणके रामसेन पूर्ववर्ती और पुष्करगणके रामसेन उत्तर-वर्ती हैं। पुष्करगणके रामसेनको ही माथुर गच्छका संस्थापक समझना चाहिये। दोनोंके अन्वय (वंश) अलग अलग चले हैं।

श्रीचन्द्रकीर्तिने, पार्श्वपुराणकी प्रशस्तिमें, रामसेनको विद्यागणका अधीश्वरसूरि, विद्यऽनवद्य, स्याद्वादविद्याका निवास, विशदवृत्त और कीर्तिमान प्रकट किया है। भ० श्रीभूषणने, पाण्डवपुराणमें, उक्त रामसेन-को 'प्रतिबोधनपंडित, दिगम्बर, शुद्धचेतस्क, निमित्तज्ञानभास्कर' लिखा है तथा विद्यागणमें उन्हें 'पूज्याः, पुराः, और 'मान्याः' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है, जिससे वे संभवत: विद्यागणके संस्थापक जान पड़ते हैं। वृषभदेवपुराणमें उन्हें 'नरदेव-पूज्य' लिखा है, और शान्तिनाथपुराण-में 'नम्य(नमनेयोग्य), ज्ञानकोविद, पंचमकालमें अतुल्यज्ञानी तथा दुर्मत-ध्वान्तनाशक' बतलाया है। ब्रह्मकृष्णदास तथा केशवसेनादि दूसरे विद्वानोंने भी उन्हें 'मुनिपनुत (मुनीश्वरों-द्वारा नमस्कृत) भदन्त—भगवान,

---

१. देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रथमभाग।

दलितविकार' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। और इससे वे अपने समयके एक असाधारण-कोटिके महान् विद्वान्, प्रतिभावान्, शुद्ध-हृदय एवं सच्चरित्र साधु प्रतीत होते हैं। अतः श्रुतसागरसूरिने सुत्त-पाहुड (सूत्रप्राभृत) द्वितीयगाथाकी टीकामें जिन रामसेनको अर्हद्बल्यादि-सोलह महान् आचार्योंके नामोंके साथ—"प्रथमाङ्गपूर्वभागज्ञाः" पदके द्वारा आचाराङ्ग और पूर्वोंके एकदेशज्ञाता (श्रुतकेवलिदेशीय) लिखा है[१] वे ये ही रामसेन जान पड़ते हैं—इनसे अर्थात् तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेनसे भिन्न दूसरे कोई रामसेन प्रतीत नहीं होते—इतनी विद्वत्ताके दूसरे किसी रासेमनका उपलब्ध जैनसाहित्यमें कहीं कोई पता नहीं हैं।

अब मैं पुन्नाटश्संघके रामसेनको लेता हूँ, जिन्हें लाडबागडसंघकी एक 'विरुदावली'[२]में पुन्नाटगच्छीय वासवसेनाचार्यका पट्ट-शिष्य लिखा है। विरुदावलीका वह उल्लेख इस प्रकार है :—

"श्रीपुन्नाट-गच्छ-विपुलगगनोद्योतन-दिवाकरश्रीवासवसेनाचार्याणां, तत्पट्टालंकार-हार-निर्विकार-कर्मसिद्धान्तपारावार-बिगाहनरसिक-श्रीलाट-गच्छव्योमविभाकरश्रीरामसेनभट्टारकाणाम्।"

इसमें जिन रामसेनको पुन्नाटगच्छके सूर्य वासवसेनका पट्टालंकारहार सूचित किया है उनके तीन विशेषण दिये हैं—एक 'निर्विकार', दूसरा कर्मसिद्धान्तपारावरविगाहनरसिक' और तीसरा 'लाट-गच्छव्योम-प्रभाविभाकर'। पहला उनकी निर्दोषचरित्रताका, दूसरा कर्मसिद्धान्त-

१. "अर्हद्बली माघनन्दी धरसेनः पुपदन्तः भूतबलिः जिनचन्द्रः कुन्दकुन्दाचार्य उमास्वामी समन्तभद्रस्वामी शिवकोटिः शिवायनः पूज्यपादः एलाचार्यः वीरसेनः जिनसेनः नेमिचन्द्रः रामसेनश्चेति प्रथमाऽङ्ग-पूर्वभागज्ञाः।"

२. यह 'विरुदावली' दिल्लीके पंचायती जैन मन्दिरके एक बहुत बड़े गुटकेसे पं० परमानन्दजी शास्त्रीको प्राप्त हुई है, जो कुछ अशुद्ध जान पड़ती है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओंका बहुत बड़ा समावेश है, जिनकी पूरी जांच-पड़ताल होकर समयादिकके स्पष्टीकरणपूर्वक यह पट्टावली शीघ्र प्रकाशित की जानी चाहिये। इसकी दूसरी प्रति उदयपुरके शास्त्रभण्डारमें बताई जाती है।

सागरावगाहनरूप विद्यारसिकताका द्योतक है और तीसरा उन्हें लाट-गच्छरूप आकाशका चन्द्रमा प्रकट करता है। अन्तिम विशेषणसे यह ध्वनित होता है कि रामसेन वासवसेनके दीक्षित शिष्य नहीं थे। दीक्षा-का विषय उनका दूसरे गच्छ अथवा संघसे सम्बन्ध रखता है, जिसे लाट गच्छ कहो या काष्ठासंघ कहो। विरुदावलीके पूर्वकथनानुसार वासवसेन-ने जो कि हरिवंशकार जिनसेनके पट्टान्वयके एक बहुत बड़े विद्वान एवं ग्रंथकार थे, पुत्र-पौत्रके व्यामोहको छोड़कर वृद्धावस्थामें महाव्रतका भार ग्रहण किया था[१]। इससे ऐसा मालूम होता है कि वे संभवतः अपने अनुरूप कोई अच्छा प्रौढ़ शिष्य उत्पन्न नहीं कर सके और इसलिये उन्होंने काष्ठासंघी रामसेनकी विद्वत्ता, सच्चरिता और क्षमता आदि पर मुग्ध होकर उन्हें ही अपने पट्टका भी भार सुपुर्द किया है। इसीसे रामसेन यहाँ दो गच्छों अथवा संघोंके संगमरूपमें स्थित हैं और वे ही रामसेन जान पड़ते हैं जिनका ऊपर काष्ठासंघी नागसेनके शिष्यरूपमें उल्लेख किया गया है। रामसेनसे आगे दो पट्ट चले हैं। पहले पट्टमें नेमिसेनादिक हुए हैं। दूसरे पुन्नाटगच्छके पट्टपर रामसेनकी शिष्यपरम्परामें जयसेन सिद्धसेन, केशवसेन, महीन्द्रसेन, अनन्तकीर्ति, विजयसेन और चारित्रसेन हुए हैं; ऐसा उक्त विरुदावलीसे उनकी कुछ कृतियों-सहित जाना जाता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि चारित्रसेनके समयमें पुन्नाटगच्छ को भंडारमें स्थित-स्थापित कर वहाँ समाप्त कर दिया गया और लाट-वर्गट (लाडवागड) नामका प्रथितगच्छ पृथ्वीपर प्रकट हुआ[२]—प्रसिद्धि-को प्राप्त हुआ।

'काष्ठासंघके लाडबागडगणकी गुर्वावली' नामसे जो गुर्वावली अनेकान्तकी गतकिरण ३ में प्रकाशित हुई है। उसमें जिन रामसेनका उल्लेख है वे भी उक्त रामसे न ही हैं और उनका विरुदावलीके क्रमानु-

१. "ततश्च पुत्र-पौत्र-व्यामोहं विहाय येन वृद्धत्वे वृहद्व्रतभारमादाय ज्ञानाव-वरणकर्म विजित्य सरस्वती प्रत्यक्षी चकार।" (विरुदावली)

२. यैश्च (चारित्रसेनैः) लाटवर्गटदेशे प्रतिबोधं विधाय मिथ्यात्व-मलस्य निरसनं चक्रे ततः पुन्नाटगच्छ इति भाण्डागारे स्थिते लोके लाटवर्गटनामाभिधानं पृथिव्यां प्रथितं प्रकटीबभूव। (विरुदावली)

सार जिनसेन-वासवसेनके बाद ही अर्चन-स्मरण किया गया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

जिनसेनं यजे भक्त्या सेनं वासवपूर्वकम् ।
रामसेनमथाप्यन्यानश्रधार्चे सपर्ययया ॥१६॥

यहाँ इन गुर्वावलियोंके सम्बन्धमें एक बात खास तौरसे प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि कभी-कभी इनमें दूसरे संघ, गण-गच्छादिके आचार्यों को भी अपनी भक्ति आदिके वश शामिल कर लिया जाता है; जैसे कि उक्त लाडबागडगणकी गुर्वावलीमें सेनगणके आचार्य समन्तभद्रादि-को, देवसंघके आचार्य अकलंकादिको, पुन्नाटसंघके आचार्य अमितसेन-जिनसेनादिको अपने गणमें शामिल किया गया है। इससे वे लाडबागड़-गणकी उत्पत्तिके बाद उस गणमें उत्पन्न हुए अथवा उनका उन नामोंके पूर्वाचार्योंसे भिन्न व्यक्तित्व था ऐसा आशय नहीं है, बल्कि यह आशय है कि लाडबागडगणने उन पूर्वगुरुओंको भी अपने गणके गुरुरूपमें अपनाया है। और इसलिये काष्ठासंघेके सुप्रसिद्ध विद्वान रामसेनका यदि संघके नन्दीतट, लाट तथा लाडबागड जैसे गच्छोंमें अलग-अलग उल्लेख पाया जाता है तो इतने मात्रसे वे एक दूसरेसे भिन्न नहीं हो जाते, उनका व्यक्तित्व एक ही समझना चाहिये।

इस प्रकार तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेनका गण-गच्छादिकी, गुणादिकी और ख्यातिकी दृष्टिसे यह विशेष परिचय है, जो उपलब्ध सामग्रीपरसे अपनेको प्राप्त हो सका है। हो सकता है कि इसके अवधारण में कहीं कोई त्रुटि रही हो, जिसका सुधार अनुपलब्ध विशेष सामग्रीके प्रकाशमें आने पर ही हो सकेगा। ऐसे जटिल विषयोंके निर्णयमें साधन-सामग्रीकी विरलता बहुत ही खटकती है। समाजका ध्यान अपने लुप्तप्राय साहित्य को, जो विपुलमात्रामें उपेक्षित पड़ा हुआ है, खोज कर प्रकाशमें लानेकी ओर बहुत ही कम जान पड़ता है। इसीसे अनेक गुत्थियोंके सुलझानेमें बहुत कुछ परिश्रम उठाना पड़ता है और फिर भी वे पूरी तौरपर अथवा यथेष्टरूपमें सुलझ नहीं पातीं।

आशा है तत्त्वानुशासनकार रामसेनके समय और व्यक्तित्वादिके

निर्णयकी दिशामें यह जो अनुसंधान-कार्य किया गया है उससे बहुतोंका समाधान होगा और उनकी अनेक जिज्ञासाएँ शान्त तथा भूल-भ्रान्तियाँ दूर हो सकेंगी। साथ ही नये अनुसंधानकार्यको प्रोत्साहन मिलेगा और वह विशेष प्रगति कर सकेगा। ऐसा होनेपर ही मैं अपने इस परिश्रमको सफल समझूँगा।

८. ग्रन्थका संक्षिप्त विषय-परिचय

यह अध्यात्म-विषयका एक बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है—भाषा और विषय-प्रतिपादन दोनों दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है। ग्रन्थकी भाषा जहाँ सरल, प्रांजल तथा सहज-बोधगम्य है वहाँ विषय-प्रतिपादन इतनी अधिक कुशलताको लिये हुए है कि पढ़ते समय चित्त ज़रा भी नहीं ऊबता—रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है—और अध्यात्म-जैसा कठिन, दुर्बोध एवं नीरस विषय भी सरल सुबोध तथा सरस जान पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि शब्द ही नहीं बोल रहे, शब्दोंके भीतर ग्रन्थकारका हृदय (आत्मा) बोल रहा है और वह प्रतिपाद्य-विषयमें उनकी स्वतः की अनुभूतिको सूचित करता है। स्वानुभूतिसे अनुप्राणित हुई उनकी काव्यशक्ति चमक उठी है और युक्तिपुरस्सर-प्रतिपादन शैलीको चार चांद लग गए हैं। इसीसे यह ग्रन्थ अपने विषयकी एक बड़ी ही सुन्दर-सुव्यवस्थित कृति बन गया है, इस कहनेमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। जबसे मुझे इस ग्रन्थका परिचय प्राप्त हुआ तभीसे मेरी रुचि इसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और उसीने मुझे इसका प्रस्तुत भाष्य लिखनेके लिए प्रेरित किया है। इस ग्रन्थसे मुझे जो विशेष ज्ञानलाभ तथा आनन्द प्राप्त हुआ वह दूसरोंको भी प्राप्त होवे, इसी एकमात्र लोकसेवाकी दृष्टि एवं श्रुतसेवाकी भावनासे भाष्यका निर्माण हुआ है। ग्रन्थसे होनेवाले उपकारोंके लिए मैं आचार्यमहोदयका बहुत ऋणी हूँ, आभारी हूँ। और इसके लिए सबसे पहले उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करता हुआ ग्रन्थका संक्षिप्त विषय-परिचय पाठकोंके सामने उपस्थित करता हूँ।

संसारके सभी प्राणी नाना प्रकारके दु:खोंसे सन्तप्त हैं। दु:खोंसे छूटना चाहते हैं, परन्तु छूट नहीं पाते। क्योंकि उन्हें दु:खके कारणों तथा सुखकी प्राप्तिके साधनोंका ठीक परिज्ञान नहीं है, जिन्हें कुछ परिज्ञान है उनका उस पर श्रद्धान नहीं और जिन्हें श्रद्धान भी है उनका तदनुकूल आचरण नहीं—वे दु:खके कारणोंको दूर करने तथा सुखके कारणोंको मिलानेका कोई प्रयत्न नहीं करते। अत: यह ग्रन्थ प्राय: उन भव्य प्राणियोंके दु:खोंको दूर कर उन्हें सच्चासुख प्राप्त करानेके उद्देश्यसे लिखा गया है जो उपदेश-ग्रहणकी पात्रता और अपने स्वाभाविक गुणोंको विकसित करनेकी योग्यता (शक्ति) को अपनेमें लिये हुए होते हैं (३)।

ग्रन्थमें सबसे पहले—मंगलाचरण, ग्रन्थनिर्माण-प्रतिज्ञा, वास्तव-सर्वज्ञके अस्तित्व और लक्षण-निर्देशके भी अनन्तर—सर्वज्ञके कथनानुसार दु:खके कारण बन्ध और उसके हेतुओंको हेयतत्त्व तथा सुखके कारण मोक्ष (बन्धन-मुक्ति) और उसके हेतुओंको उपादेय तत्त्व बतलाकर बन्धके स्वरूपका निर्देश किया गया है और उसे जीव तथा पौद्गलिक कर्मके प्रदेशोंका परस्पर संश्लेष—सम्मिलन एवं एकक्षेत्रावगाहरूप अवस्थान—सूचित किया है। साथ ही यह भी सूचना की है कि वह बन्ध चार प्रकारका—प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-बन्धके भेदसे-प्रसिद्ध है। (४-६) बन्धतत्त्वका जैनवाङ्मयमें एक बहुत बड़ा विभाग है और उस पर षट्खण्डागम, कषायप्राभृत तथा गोम्मटसारादि अनेक कर्मग्रन्थों और लाखों श्लोक-परिमाण धवला-जयधवलादि टीकाओंकी रचना हुई है, विशेष जानकारीके लिए अपनी रुचि तथा आवश्यकताके अनुसार उन्हें देखलेनेकी प्रेरणा भी इस सूचनामें शामिल है।

बन्धका कार्य संसारको—एक भवसे दूसरा भव धारणरूप संसरण–परिभ्रमणको—बतलाया है और उसे ही सर्वदु:खोंका प्रदाता सूचित किया है। साथ ही द्रव्य-क्षेत्र-परिवर्तनादिके रूपमें उसके अनेक भेदोंकी सूचना भी की गई है (७), जिनका विशेष वर्णन भी उक्त ग्रन्थों

तथा अन्य जैन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। बन्धके मुख्यतः अथवा संक्षेपतः तीन हेतु बतलाये हैं—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचरित्र—तीनोंके लक्षण देकर उनमें मिथ्यादर्शनरूप मोहको चक्रवर्ती राजा, मिथ्याज्ञानको मोहका मंत्री और अहंकार-ममकारको, जो कि मोहके पुत्र हैं, मोहकी सेनाके नायक बताया है। साथ ही यह सूचित किया है कि इन दोनों के आधीन ही मोहकी सेनाका चक्रव्यूह दुर्भेद बना हुआ है (८-१३)—ममकार और अहंकार यदि न हों तो फिर मोहकी सेनाको जीतना अथवा उसके चक्करसे निकलना कुछ भी कठिन नहीं रहता[1]।

ममकार-अहंकारसे राग-द्वेषकी, राग-द्वेषसे क्रोधादि कषायों तथा हास्यादि नोकषायोंकी उत्पत्ति होकर किस प्रकार कर्मोंके बन्धनादिरूप संसारचक्र चलता है और यह जीव उसके चक्करमें पड़ा सदा भ्रमता ही रहता है, इसकी सूचना करते हुए (१६-१९) भव्यात्माको यह हित-कर उपदेश दिया है कि 'हे आत्मन्! तू इस दृष्टिविकाररूप मोहको, मिथ्याज्ञानको और ममकार तथा अहंकारको अपना शत्रु समझ और इनके विनाशका उद्यम कर। इन मुख्य बन्ध-हेतुओंका क्रमशः नाश हो जाने पर शेष राग द्वेषादि बन्ध-हेतुओंका भी विनाश हो जायगा और

---

१. एक अन्य ग्रन्थ के निम्न पद्य में, जिसे विद्यानन्दाचार्यने युक्त्यनुशासन (पद्य नं० २२) की टीकामें उद्धृत किया है और जो सम्भवतः स्वामी समन्तभद्र-के तत्वानुशासनका पद्य जान पड़ता है, ममकार-अहंकारको मोहराजा के सचिव (सहायक या मन्त्री) सूचित किया है और बतलाया है कि मोहराजा का राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप जितना भी परिकर--परिवार है उस सबको ये ममकार और अहंकार दोनों निरन्तर परिपुष्ट करनेमें तत्पर रहते हैं। और इस-लिये यदि इनको जीत लिया जाय या मार दिया जाय तो मोहका सारा परिवा-पोषण-विहीन होकर क्षीणता को प्राप्त हो जाय और तब मोहका जीतना कुछ भी दुष्कर न रहे—

ममकाराऽहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य।
रागादि-सकल परिकर-परिपोषण-तत्परौ सततम्॥

तब तू समस्त बन्ध-हेतुओंके विनाशसे मुक्त हुआ फिर संसार-परिभ्रमण नहीं करेगा' (२०-२२)। बन्धके हेतुओका विनाश तभी बनता है जब मोक्षके हेतुओंको अपनाया जाता है; क्योंकि दोनों शीत तथा उष्ण स्पर्शकी तरह एक दूसरेके विरुद्ध हैं—एकसे बचनेके लिए दूसरेका आश्रय लिया जाता है (२३)।

वह मोक्षहेतु अथवा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्ररूप त्रितयात्मक है, जो निर्जरा और संवररूप परिणमता हुआ मोक्षफलको फलता है, ऐसा जिनेन्द्रभगवानने कहा है (२४), इसकी सूचना करते हुए सम्यग्दर्शनादिका अलग-अलग लक्षणादि दिया है और फिर मोक्षमार्गको निश्चय तथा व्यवहार दो नयोंकी दृष्टिसे दो प्रकारका बतलाते हुए निश्चय मोक्षमार्गको साध्य और व्यवहार मोक्षमार्गको उसका साधन सूचित किया है (२८)। साथ ही निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंका सुन्दर एवं व्यापक स्वरूप देकर (२९) उनके अनुरूप दोनों प्रकारके मोक्षमार्गोंका अलग-अलग निर्देश किया है (३०-३२) और फिर दोनों प्रकारके मोक्षमार्गोंको ध्यान-द्वारा साध्य बतलाते हुए ध्यानके अभ्यासकी सुधीजनोंको खास तौरसे प्रेरणा की गई है (३३)।

इसके बादसे ही ग्रन्थमें ध्यानका मुख्य विषय प्रारंभ रोता है, जिसके आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ऐसे चार भेद बतलाकर प्रथम दोको दुर्ध्यान एवं मुमुक्षुओंद्वारा त्याज्य और अन्तके दो ध्यानोंको सद्ध्यान एवं बन्धनोंसे मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये उपादेय (ग्राह्य) सूचित किया है (३४)। अतीतकालमें जिन महानुभावोंने शुक्लध्यानको धारण किया है उनके निर्देश-द्वारा वज्रसंहनन, पूर्वश्रुतज्ञता और उपशम तथा क्षपकश्रेणि चढ़नेकी क्षमता जैसी उस सामग्रीका संसूचन किया गया है जो शुक्लध्यानके लिये परमावश्यक है (३५), और फिर लिखा है कि 'इस क्षेत्र-कालमें उस प्रकारकी वज्रसंहननादि-सामग्रीका अभाव होनेसे जो लोग शुक्लध्यानको ध्यानेमें असमर्थ हैं उन वर्तमानयुग

एवं क्षेत्रके साधकोंको लक्ष्यमें लेकर इस ग्रन्थमें धर्म्यध्यानका कथन किया जायगा (३६)। और इसलिये इस गुन्थका मुख्य लिषय धर्म्यध्यान है, ऐसा समझना चाहिये।

धर्म्यध्यानके इच्छुक योगीको ध्याता, ध्येय, ध्यान, ध्यानफल, ध्यान-स्वामी, ध्यानक्षेत्र, ध्यानकाल और ध्यानावस्था इन आठका स्वरूप जानना चाहिये (३७), जो कि योगके साधनरूप उसके आठ अंग हैं (४०)।[1] संक्षेपमें इन्द्रियों तथा मनका निग्रह करनेवाला 'ध्याता' कहलाता है, यथावस्थितवस्तु 'ध्येय' कही जाती है, एकाग्रचिन्तनको 'ध्यान' कहते हैं, निर्जरा तथा संवर ध्यानके फल हैं (३८) और जिस देश, काल तथा अवस्था (आसन-मुद्रादिक) में ध्यानकी निर्विघ्नसिद्धि होती है वही ध्यानके लिये ग्राह्य क्षेत्र, काल, तथा अवस्था है (३९), ऐसा निर्दिष्ट करते हुए ग्रन्थमें आगे इन अंगोंका कुछ विवरण देनेकी सूचना की गई है (४०)। तदनुसार सबसे पहले ध्याताका विशेष लक्षण दिया है, जिसके विशेषणोंमें यम-नियमादिरूप धर्माचरणकी अनेक कोटियोंको शामिल किया गया है (४१-४५)।

ध्यानके स्वामी अप्रमत्त, प्रमत्त, देशसंयत, (अविरत) सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानवर्ती जीवोंको बतलाया है (४६) और इसलिये प्रथमके तीन गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि आदि जीव धर्म्यध्यानके अधिकारी नहीं, यह समझना चाहिये। धर्मध्यानके मुख्य और उपचारके भेदसे दो भेद किये गये हैं, जिनमें मुख्य धर्मध्यान अप्रमत्त-गुणस्थानवर्तियोंके और औपचारिकधर्म्यध्यान शेष तीनके बनता है (४७), इस भेददृष्टिसे दोनों धर्म्यध्यानोंका स्वामिभेद भी स्पष्ट हो जाता है।

---

१. पातञ्जल-योगदर्शनमें योगके जो आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके रूपमें पसिद्ध हैं उनसे ये आठ अंग प्रायः भिन्न जान पड़ते हैं। परन्तु इनके स्वरूपमें उन सबका मुख्य-गौण-दृष्टि तथा स्वरूपभेदादिके साथ समावेश हो जाता है; जैसे यम-नियमका धर्म्यध्यान तथा संवरमें, ध्यान-समाधिका ध्यानमें, आसनादिका ध्यानकी अवस्था एवं पक्रियामें अन्तर्भाव होता है।

सामग्रीके भेदसे ध्याताओं और उनके ध्यानोंको तीन-तीन भेदोंमें विभक्त किया गया है—उत्तम, मध्यम, जघन्य। उत्तमसामग्रीके योगसे ध्यातामें उत्तमध्यान, जघन्यसामग्रीके योगसे जघन्य और मध्यमसामग्री-के योगसे मध्यम ध्यान बनता है (४८,४९)। ध्यानानुरूप ही ध्याताको उत्तम, मध्यम तथा जघन्य कहा गया है। साथ ही यह प्रतिपादित किया है कि विकल-श्रुतज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता होता है, यदि वह स्थिर-मनवाला हो (५०)। इससे ध्यानकी सामग्रीका कितना महत्त्व है यह स्पष्ट जाना जाता है।

इसके बाद धर्मके लक्षणादि-भेदसे धर्म्यध्यानकी प्ररूपणा कीगई है–धर्मका जो लक्षण या स्वरूप जिस समय चिन्तनमें उपस्थित हो उस समय ध्यानको उसी प्रकारका धर्म्यध्यान बतलाया गया है। सबसे पहले सम्य-ग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मको लिया गया है; दूसरे, मोह-क्षोभसे विहीन आत्माका जो परिणाम उसे धर्मरूपमें ग्रहण किया गया है;तीसरे, वस्तुके स्वरूप-स्वभाव अथवा याथात्म्यको धर्म बतलाया है, और चौथे; उत्तम क्षमादिरूप दशलक्षण-धर्मका उल्लेख किया गया हैं (५१-५५)।

ध्यानका लक्षण और फल बतलाते हुए,परिस्पन्द-रहित-एकाग्रचिन्ता-निरोध को ध्यानका लक्षण प्रतिपादित किया है और उस ध्यानको संचित कर्मोंकी निर्जरा तथा नये कर्मोंके आस्रव-द्वारको रोकनेरूप संवरका हेतु निर्दिष्ट कर निर्जरा तथा संवर दोनोंको ध्यानके फल सूचित किया है(५६)। तदनन्तर ध्यानके लक्षणमें प्रयुक्त हुए एक, अग्र,चिन्ता और निरोध शब्दोंके वाच्यार्थको अच्छे सुन्दर ढंगसे स्पष्ट किया है (५७-६५)। इस स्पष्टी-करणमें दो एक बातें खास महत्वकी कही गई हैं—एक तो यह कि ध्यान के लक्षणमें 'एकाग्र' का ग्रहण व्यग्रताकी निवृत्तिके लिये है। वस्तुतः ज्ञान ही व्यग्र—विविध अग्रों-मुखों अथवा आलम्बनोंको लिये हुए—होता है, ध्यान नहीं। ध्यान तो एकमुख तथा एक आलम्बनको लिये हुए एकाग्र ही होता है (५९)। दूसरी यह कि विशुद्धबुद्धिका धारक योगी

जिससमय नाना आलम्बनोंमें वर्तनेवाली चिन्ताको प्रत्याहृत करके—सब आलम्बनोंसे खींचकर—केवल एक ही आलम्बनमें स्थिर करता है—अन्यत्र जाने नहीं देता—उस समय उसके 'चिन्तैकाग्रनिरोध' नामका योग बनता है, जिसे प्रसंख्यान, समाधि तथा ध्यान भी कहते हैं, और जो इष्टफलका प्रदाता होता है (६०-६१)। तीसरी यह कि, निरोधका अर्थ जब 'अभाव' लिया जाता है तो वह चिन्तान्तरके—दूसरी चिन्ताओंके—अभावरूप होता है, न कि चिन्तामात्रके अभावरूप, और इसलिये एक चिन्तात्मक होता है, अथवा चिन्ताओंसे रहित स्वसंवेदनरूप कहा जाता है। शुद्ध-आत्मामें जो चिन्ताका नियंत्रण अथवा अन्य चिन्ताओंका अभाव है वह सब स्वसंवेदनरूप ध्यान है (६४-६५)।

जो श्रुतज्ञान उदासीन—राग-द्वेषसे रहित उपेक्षामय—यथार्थ और अतिनिश्चल (एकाग्र) होता है वह ध्यानकी कोटिमें आजाता है, उसे स्वर्ग तथा मोक्षफलका दाता लिखा है और उसका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त बतलाया है(६६),जो कि एक विषयमें उत्तमसंहननवालोंकी दृष्टि-से निर्दिष्ट हुआ है—हीनसंहननवालोंका एक ही विषयमें लगातार ध्यान इतने समय तक नहीं ठहर सकता और इसलिये वह और भी कम काल-की मर्यादाको लिये हुए होता है।

ध्यान शब्दके निरुक्तिपरक अर्थोंको उपस्थित करते हुए, जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है, जो ध्यान करता है, जिसमें ध्यान किया जाता है अथवा जो ध्याति है—ध्येय-वस्तुमें परम स्थिरबुद्धि है—उस सबको ध्यान बतलाया है (६७); फिर इनका युक्तिपुरस्सर स्पष्टीकरण करते (६८,७०,७१) एवं 'ध्याति'का लक्षण देते हुए (७२)उपसंहाररूपमें कहा गया है कि इस प्रकार निश्चयनयकी दृष्टिसे यह कर्ता, करण, कर्म, अधि-करण और फलरूप सब ध्यान ही है (७३)। निश्चयनयसे षट्कारकमयी आत्मा ही ध्यान है (७४)और यह ठीक है; क्योंकि निश्चयनयका स्वरूप ही 'अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नयः' इस ग्रंथवाक्य(२९)के अनु-

सार ध्यानके कर्ता करणादिको एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न नहीं करता और इसलिये 'ध्यान' शब्दकी निरुक्तियोंमें उन सबका समावेश हो जाता है।

इसके बाद ग्रन्थमें ध्यानकी उत्पत्ति-निष्पत्तिमें सहायभूत-सामग्रीका निर्देश किया गया है और वह है परिग्रहोंका त्याग, कषायोंका निग्रह, व्रतोंका धारण और इन्द्रियों तथा मनका जीतना (७५)। इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें चूंकि मन प्रभु (समर्थ) होता है अत: पहले मनको ही जीतना चाहिये, उसके जीते जानेपर मानव स्वतः जितेन्द्रिय हो जाता है (७६)। इन्द्रियोंको सदा उन्मार्गगामी घोड़ोंकी उपमा दी है और लिखा है कि जितचित्त मानव ही ज्ञान तथा वैराग्यरूपी दो रस्सियों (रासों) के द्वारा इन घोड़ोंको वश करनेमें समर्थ होता है (७७)। फिर यहाँ तक सुझाव दिया है कि जिस उपायसे भी चंचल मनको भले प्रकार नियंत्रणमें रक्खा जा सके उसे काममें लाना चाहिये, उससे उपेक्षा धारण कर कभी विरक्त नहीं होना चाहिये—अर्थात् जो भी उपाय बन पड़े उससे मनको सदा वशमें रखना चाहिये (७८)। साथ ही मनको जीतनेके दो प्रमुख उपाय बतलाये हैं—एक अनुप्रेक्षाओंका, जोकि वैराग्यकी जननी हैं, सम्यक् चिन्तन; दूसरा स्वाध्यायमें, जोकि ज्ञानका जनक है, नित्य उद्यत रहना (७९)। स्वाध्यायके दो रूप दिये हैं—एक पंचनमस्कृतिरूप-णमोकारमंत्रका चित्तकी एकाग्रताके साथ जपना और दूसरा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रको एकाग्रचित्तसे पढ़ना। पहलेको 'परम स्वाध्याय' लिखा है; क्योंकि पंचपरमेष्ठिके स्वरूप-चिन्तन एवं जपनमें सब कुछ (सारा ज्ञान-विज्ञान) आ जाता है (८०); परन्तु वह जप कोरा तोतारटन्तके रूपमें न होना चाहिये। साधकको चाहिये कि वह स्वाध्यायसे ध्यानको अभ्यासमें लावे और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करे। ध्यान और स्वाध्याय दोनोंकी सम्प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है—स्वानुभवमें लाया जाता है (८१)।

जो लोग यह कहते हैं कि आजकलका समय ध्यानका काल नहीं है उन्हें अर्हन्मतसे अनभिज्ञ बतलाते हुए यह निर्दिष्ट किया है कि 'जिनेन्द्र देवने इस (पंचम) कालमें यहाँ शुक्ल ध्यानका निषेध किया है—धर्म्य-ध्यानका नहीं—धर्म्यध्यानको तो उन्होंने दोनों श्रेणियों (उपशम-क्षपक)-के पूर्ववर्तियोंके बतलाया है (८२-८३)। आगममें जो 'वज्रकायस्य ध्यानम्' ऐसा वचन है वह दोनों श्रेणियोंके ध्यानको लक्ष्यमें लेकर कहा गया है, और इसलिये वह नीचेके गुणस्थानवर्तियोंके लिये ध्यानका निषेधक नहीं है (८४)। साथ ही वर्तमानमें ध्यानका युक्ति-पुरस्सर समाधान भी उप-स्थित किया है (८५-८६)।

जिन लोगोंका यह खयाल है कि ध्यानका कोई चमत्कार आजकल देखनेमें नहीं आता, इसलिये ध्यान करना निरर्थक है। उन्हें लक्ष्य करके आश्वासन देते हुए कहा गया है कि 'यथार्थगुरुके उपदेश-पूर्वक जो निर-न्तर ध्यानका अभ्यास करता है वह धारणाके सौष्टवसे—अपनी सम्यक् औरसुदृढ धारणाशक्तिके बलसे—ध्यानके प्रत्ययोंको भी देखता है—लोक-चमत्कारी ज्ञानादिकके अतिशयोंको भी प्राप्त होता है (८७)। अभ्यास-से जिस प्रकार महाशास्त्र भी स्थिर—सुनिश्चित हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यासियोंका ध्यान भी स्थिरताको—एकाग्रता एवं सिद्धिको—प्राप्त होता है (८८)। अतः ध्यानके अभ्यासमें तनिक भी शिथिल तथा हतोत्साह न होना चाहिये, श्रद्धाके साथ उसे बराबर आगे बढ़ाते रहना चाहिये।

ध्यानके इच्छुक यथोक्तलक्षण ध्याताके लिये आगे एक परिकर्मका निर्देश किया गया है, जिसे करके वह ध्यानमें प्रवृत्त होवे (८९)। इस परिकर्ममें ध्यानके योग्य देश, काल, आसन, अवस्था-प्रक्रिया तथा दूसरी कुछ साधन-सामग्रीका भी समावेश किया गया है,जिसके साथ अन्तर्विशुद्धि-के लिये स्वरूप तथा पररूपके ध्यानकी प्रेरणा की गई है (९०-९५)।

तदनन्तर निश्चय और व्यवहार इन दो नयोंकी दृष्टिसे ध्यानके आगमानुसार दो भेद बतलाये गए हैं, जिनमें निश्चयध्यान स्वरूपावल-म्बनरूप और व्यवहारध्यान परालम्बनरूप होता है (९६)। निश्चय-

नयाश्रित स्वरूपावलम्बी ध्यानको '**अभिन्नध्यान**' और व्यवहार-नयाश्रित परावलम्बी ध्यानको '**भिन्नध्यान**' कहते हैं। भिन्नध्यानमें जिसका अभ्यास परिपक्व हो जाता है वह निराकुलतापूर्वक अभिन्नध्यानमें प्रवृत्त होता है (९७)। इस पिछले वाक्यमें बड़े महत्वकी सूचना की गई है, जिससे ध्यानका राजमार्ग स्थिर होता है और वह यही है कि पहले व्यवहार-नयाश्रित भिन्नध्यानके अभ्यासको बढ़ाया जाय, तत्पश्चात् निश्चयनयाश्रित अभिन्नध्यानके द्वारा आत्माके स्वरूपमें लीन हुआ जाय। भिन्नध्यानमें परमात्माका ध्यान सर्वोपरि मुख्य है, जिसके सकल और निष्कल ऐसे दो भेद हैं—सकल परमात्मा अर्हन्त और निष्कल परमात्मा सिद्ध कहलाते हैं।

इसके बाद ग्रन्थमें योगके आठ अंगोंमेंसे '**ध्येय**' अंगका विषय विशेष-रूपसे प्रारम्भ होता है और उसमें पहले ही भिन्नध्यानके चार ध्येयोंकी सूचना की गई है, जिनके नाम हैं आज्ञा, अपाय विपाक और लोक-संस्थान। साथ ही इनके आगमानुसार एकाग्रचित्तसे चिन्तनकी प्रेरणा की गई है (९८)। आगमानुसार ये ध्येय-दृष्टिसे प्रकल्पित हुए धर्म्यध्यानके चार भेद हैं, जैसा कि "**आज्ञा-ऽपाय-विपाकसंस्थान विचायाय** (स्मृति समन्वाहार:) **धर्म्यम्**' इस तत्त्वार्थसूत्र (९-३६) से जाना जाता है, और इसलिये धर्म्यध्यानके जिन प्रकारोंका उल्लेख ग्रंथमें पद्य ५१ से ५५ तक किया गया है उनसे ये चार भेद भिन्न हैं, जो आगम-परम्पराके अनुसार कहे गये हैं, जिसे 'आम्नाय' भी कहते हैं[१]। और इसलिये इनका अनुष्ठान जैन आम्नायके अनुसार ही होना चाहिये। मूलमें इनका कोई स्वरूप नहीं दिया गया, व्याख्यामें आगमानुकूल इनके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है और विशेष जानकारीके लिये मूलाचार, आर्षादि आगम-ग्रंथों तथा तत्त्वार्थराजवार्तिकादि टीकाओंको देखनेकी प्रेरणा भी कर दी गई है।

१. तदाज्ञापाय-संस्थान-विपाक-विचयात्मकम ।
चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभि: ॥ (आर्ष २१,१३४)

ध्येयके दूसरे चार प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे बतलाये गये हैं और यह सूचना की गई है कि आत्मज्ञानी इन सबको अथवा इनमेंसे चाहे जिसको अपनी इच्छानुसार ध्यानका विषय (ध्येय) बना सकता है (९९)। वाच्यके वाचकको 'नाम,' प्रतिमाको 'स्थापना,' गुण-पर्यायवान्को द्रव्य,' और गुण तथा पर्याय दोनोंको 'भाव' ध्येय कहते हैं (१००), ऐसी इनके स्वरूपकी संक्षिप्त सूचना करने के अनन्तर नाम ध्येयके निरूपणमें अर्हं, अ सि आ उ सा, अ इ उ ए ओ, णमो अरिहंताणं नामक सप्ताक्षर महामंत्रके ध्यानकी विधि-व्यवस्था की गई है। हृदयमें ऐसे अष्ट दल-कमलको ध्यानेकी प्रेरणा की गई है जो पृथ्वीमंडलके मध्यमें स्थित है, जिसके दल क्रमशः आठ वर्गोंसे—स्वर, क, च, ट, त, प, य, श वर्गके अक्षरोंसे—पूरित हों, कर्णिकामें जिसकी 'अर्हं' नाम अधिष्ठित हो, जो गणधर वलयसे युक्त और 'ह्रीं' बीजाक्षरकी तीन परिक्रमाओंसे वेष्ठित हो। साथ ही अकारसे हकार-पर्यन्त अक्षरोंको भी, जो अपने-अपने मण्डलको प्राप्त हुए परमशक्तिशाली मंत्र हैं, ध्येय बतलाया गया है और उन्हें दोनों लोकोंके फलप्रदाता लिखा है (१०१-१०७)। अन्तमें नामध्येयके प्ररूपणका उपसंहार करते हुए लिखा है कि 'इन अर्हन्मंत्र-पुरस्सर मंत्रोंको आदि लेकर और भी मंत्र हैं जिन्हें मांत्रिक ध्याते हैं, उन सबको भी स्पष्टरूपसे नामध्येय समझना चाहिये(१०८)। ऐसे बहुत से मंत्र आर्ष, ज्ञानार्णव योगशास्त्र तथा विद्यानुशासनादि ग्रन्थोंसे जाने जा सकते हैं।

स्थापना-ध्येयके निरूपणमें केवल इतना ही कहा है कि जिनेन्द्रके प्रतिबिम्बोंको, चाहे वे कृत्रिम हों या अकृत्रिम, उस रूपमें ध्याना चाहिये जिसरूपमें उनका आगममें वर्णन है (१०९)।

द्रव्यध्येयका निरूपण करते हुए सबसे पहले द्रव्य-सामान्यको ध्यानका विषय बनानेकी प्रेरणा की गई है। द्रव्यका सामान्य स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह जैसे एक द्रव्यका स्वरूप है वैसे ही सब द्रव्योंका स्वरूप है और जैसे वह एक समयवर्ती है

वैसे ही सर्वसमयवर्ती है अर्थात् प्रत्येक द्रव्यका उक्त सामान्यस्वरूप प्रतिक्षण रहता है और उसीसे द्रव्यका द्रव्यत्व बना रहता है। इस तत्त्वको ध्यानका विषय बनानेकी प्रेरणा की गई है (११०)। साथ ही तत्त्वको 'याथात्म्य' के समकक्ष रखकर उसके स्वरूपका निर्देश किया गया है (१११)। द्रव्यको अनादिनिधन बतलाया है, इससे कोई द्रव्य कभी उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी नाशको प्राप्त होगा। हाँ, द्रव्यमें जो स्वपर्यायें हैं वे जलमें जल-कल्लोलोंकी तरह ऊपरको उठती तथा नीचेको बैठती रहती हैं (११२), यही द्रव्यका प्रतिक्षण स्वाश्रित उत्पाद-व्यय है, जो उसके लक्षणका अंग बना हुआ है। इसके बाद द्रव्यका अपने त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायोंके साथ और गुण-पर्यायोंका अपने सदा ध्रौव्य-रूपसे स्थित रहनेवाले द्रव्यके साथ अभेद प्रदर्शित किया गया है—कहा गया है कि जो वे हैं वही यह द्रव्य है और जो यह है वही वे गुण-पर्यायें हैं(११३)। द्रव्यमें गुण सहवर्ती और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। द्रव्य इन गुण पर्यायात्मक है और ये गुण-पर्यायें द्रव्यात्मक हैं—द्रव्यसे गुण-पर्याय जुदे नहीं और न गुण-पर्यायोंसे द्रव्य कोई जुदी वस्तु है (११४)। इस प्रकार यह 'द्रव्य' नामकी वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्यय-रूप है तथा अनादिनिधन है वह सब यथावस्थितरूपमें ध्येय है—ध्यान का विषय है (११५)।

भावध्येयके निरूपणमें केवल इतना ही कहा गया है कि जिस द्रव्यमें जो अर्थपर्यायें तथा व्यंजनपर्यायें और जो मूर्तिक तथा अमूर्तिक गुण जहाँ जैसे अवस्थित हैं उनका वहाँ उसी रूपमें ध्याता चिन्तन करे (११६)। अर्थपर्यायें सब द्रव्योंमें होती हैं, जब कि व्यंजनपर्यायें केवल जीव तथा पुद्गलद्रव्योंसे ही सम्बन्ध रखती हैं। ये व्यंजनपर्यायें स्थूल, वचनगोचर प्रतिक्षण-विनाशरहित तथा कालान्तरस्थायी होती हैं, जब कि अर्थपर्यायें सब सूक्ष्म तथा प्रतिक्षणक्षयी होती हैं।

द्रव्यके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे मूल

छह भेद जैनागममें प्रसिद्ध हैं। ग्रन्थमें उनका उल्लेख करते हुए 'जीव' के स्थानपर 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया गया है और उसे ध्येयतम बतलाया है (११८), जिसके दृष्टि-विशेषका स्पष्टीकरण व्याख्यामें किया गया है। साथ ही व्याख्यामें इन सबके लक्षण-स्वरूपादिका संक्षिप्त सार भी दे दिया है। इन सब द्रव्योंमें सबसे अधिक ध्यानके योग्य पुरुषात्माको बतलाया है, जो ज्ञानस्वरूप है; क्योंकि ज्ञाताके होने पर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है (११७,११८)। आत्माके ध्यानोंमें भी वस्तुतः (व्यवहारध्यानकी दृष्टिसे) पंचपरमेष्ठि ध्यान किये जानेके योग्य हैं, जिनमें चार—अर्हन्त-आचार्य-उपाध्याय-साधु—परमेष्ठी शरीरसहित होते हैं और सिद्धपरमेष्ठी शरीररहित(११९)। तदनन्तर सिद्धात्मध्येयका स्वरूप तीन पद्योंमें तथा अर्हदात्मक ध्येयका स्वरूप छह पद्योंमें दिया गया है और अर्हन्तदेवके ध्यानका फल बतलाते हुए लिखा है कि मुमुक्षुओंके द्वारा ध्यान किया गया यह अर्हन्तदेव वीतराग होते हुए भी उन्हें स्वर्ग तथा मोक्षफलका दाता है। उसकी वैसी शक्ति सुनिश्चित है (१२९)। आचार्यादि परमेष्ठियोंके ध्येयस्वरूप-विषयमें इतना ही कहा गया है कि जो सम्यग्ज्ञानादिसे सम्पन्न हैं, जिन्हें सात ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और जो आगमोक्त लक्षणोंसे युक्त हैं—क्रमशः ३६,२५ तथा २८ मूलगुणोंके धारक है—ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यानके योग्य हैं (१३०)।

इस प्रकार नाम आदिके भेदसे चार प्रकारके ध्येयका वर्णन समाप्त कर फिर प्रकारान्तरसे यह कहा गया है कि 'अथवा 'द्रव्य' और 'भाव' के भेदसे वह ध्येय दो प्रकारका अवस्थित है' (१३१)।

इस द्विविध-ध्येय-प्ररूपणमें स्वात्मासे भिन्न जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, चाहे वे चेतन हों या अचेतन, सब 'द्रव्यध्येय' की कोटिमें स्थित हैं और 'भावध्येय'में उन सब ध्यान-पर्यायोंका ग्रहण है जिनमें ध्याता ध्येय-सदृश परिणमन करता है (१३२)। जब द्रव्य ध्येयका रूप ध्यानमें पूरी तरह स्थिरताको प्राप्त होता है तब वह ध्येयके वहाँ मौजूद न

होते हुए भी ध्याता आत्मामें आलेखित—उत्कीर्ण अथवा प्रतिबिम्बित—जैसा प्रतिभासित होता है (१३३)। ध्येय पदार्थ चूंकि ध्याताके शरीरमें स्थित रूपसे ही ध्यानका विषय किया जाता है इसीसे कुछ आचार्योंने इस द्रव्यध्येयको 'पिण्डस्थध्येय' कहा है (१३४)।

भावध्येयका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिस समय ध्याता-ध्यानके बलसे शरीरको शून्य बनाकर ध्येय-स्वरूपमें आविष्ट होजानेसे अपनेको तत्सदृश बना लेता है उस समय उस प्रकारकी ध्यान-संवित्ति-से भेद-विकल्पको नष्ट करता हुआ वह ही परमात्मा, गरुड अथवा कामदेव होजाता है (१३५-१३६)—इनमेंसे चाहे जिस ध्येयका भी ध्यान हो ध्याता उसी रूप बन जाता तथा क्रिया करने लगता है। यही भावध्येयका सार है[1]। ध्येय और ध्याता दोनोंका जो यह एकी-करण है उसको 'समरसीभाव' कहते हैं। यही एकीकरण समाधिरूप ध्यान है, जो दोनों लोकके फलका प्रदाता है (१३७)। इस द्विविध ध्येयके कथनका उपसंहार करते हुए, एक बात बड़े ही महत्वकी कही गई है, जो प्रस्तुतध्येयके मौलिक सिद्धान्तका निरूपण करती है, और वह यह कि 'कोई भी बाह्य वस्तु इस ध्यानका विषय बनाई जा सकती है' बशर्ते कि उसके यथार्थस्वरूपके परिज्ञान और श्रद्धानके साथ राग-द्वेषादिकी निवृत्तिरूप मध्यस्थभाव जुड़ा हुआ हो (१३८)। मध्यस्थभावका स्पष्टीकरण समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, प्रशम और शान्ति जैसे शब्दों के द्वारा, उन्हें एकार्थक बतलाते हुए, किया गया है (१३९)।

इसके बाद व्यवहारनयकी दृष्टिसे ध्येय-विषयक जो संक्षिप्त कथन यहाँ किया गया है, उसे विस्ताररूपमें परमागमसे जाननेकी प्रेरणा करते हुए यह भी सूचित कर दिया गया है कि पंच परमेष्ठियोंके ध्यानमें

---

१ यहाँ परमात्मा, गरुड तथा कामदेव के ध्यानका उल्लेख उदाहरणके रूप-में है, इस विषयका दूसरा कितना ही वर्णन एवं संसूचन समरसीभावकी सफलताको प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थमें आगे पद्य १९७ से २१२ तक दिया है।

इस प्रकारके ध्यानका सब कुछ विषय आजाता है (१४०)। और यह ठीक ही है अर्हदादि पंचपरमेष्ठियोंके ध्यानके बाद ऐसा कोई विषय ध्यानके लिए शेष नहीं रहता जो आत्म-विकासमें विशेष सहायक हो।

परावलम्बनरूप व्यवहार-ध्यानको समाप्त कर स्वावलम्बनरूप निश्चयध्यानका निरूपण करते हुए कितनी ही आवश्यक एवं महत्त्वकी सूचनाएँ तथा प्रेरणाएँ की गई हैं, जिनमेंसे कुछका सार इस प्रकार है :—

(१) स्वावलम्बी ध्यानेच्छुकको चाहिए कि वह स्व तथा परको यथावस्थितरूपमें जानकर तथा श्रद्धानकर परको निरर्थक समझते हुए छोड़े और फिर स्वके ही जानने-देखनेमें प्रवृत्त रहे। इसके लिए पहले श्रुत(आगम)की भावनाओंसे आत्मामें आत्मसंस्कारोंको आरोपित करे; तदनन्तर उस संस्कारित स्वात्मामें एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करके और कुछ भी चिन्तन न करे (१४१-१४४)।

(२) जो ध्याता निर्विकल्प ध्यान न बननेके भयसे श्रौतीभावनाका अवलम्बन नहीं लेता वह अवश्य ही मोहको प्राप्त होता तथा बाह्य चिन्तामें पड़ता है। अतः मोहके विनाश, बाह्यचिन्ताकी निवृत्ति और एकाग्रताकी सिद्धिके लिए पहले श्रौती-भावनाका अवलम्बन लेना जरूरी है (१४५-१४६)।

(३) श्रौती-भावनाका रूप पद्य नं० १४७ से १५६ तक दिया है, जिसमें आत्माके अन्यसे भिन्न चिन्तनके प्रकारोंका बड़ा ही सुन्दर निर्देश है और वह इतना संक्षिप्त है कि उसका सार प्रायः नहीं बनता। अतः उसे मूलग्रन्थ तथा उसकी व्याख्यासे ही जानना चाहिए। यहाँ नमूनेके तौर पर तीन पद्योंका केवल अनुवाद दिया जाता है :—

"शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ; (क्योंकि) मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन है; यह शरीर अनेकरूप है, मैं एकरूप हूँ; यह क्षयी (नाशवान) है, मैं अक्षय (अविनाशी) हूँ" (१४६)।

"अचेतन (कभी) मैं (आत्मा) नहीं होता, न मैं अचेतन होता हूँ; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; मेरा कोई नहीं है, और न मैं किसी दूसरे का हूँ।" (१५०)

"इस संसारमें मेरा शरीरके साथ जो स्व-स्वामि-सम्बन्ध हुआ है—शरीर मेरा स्व और मैं उसका स्वामी बना हूँ—तथा दोनोंमें एकत्वका जो भ्रम है वह सब भी परके निमित्तसे है, स्वरूपसे नहीं।" (१५१)

(४) स्वसंवेदनका लक्षण देकर यह बतलाया है कि वह स्व-पर-ज्ञप्तिरूप होनेसे उसका स्वात्मासे भिन्न दूसरा कोई करण नहीं होता। (१६१,१६२) और फिर स्वसंवेद्य आत्माका स्वरूप तीन पद्यों (१६३-१६५)में देकर यह सहेतुक सूचित किया है कि वह इन्द्रियज्ञान तथा मनसे दिखाई देनेवाला नहीं और न तर्क करनेवाले उसे देख पाते हैं (१६६)। इन्द्रियों तथा मनका व्यापार रुकने पर अतीन्द्रिय ज्ञान स्पष्ट होता है। अतः अपने स्वसंवेद्य रूपको स्वसंवित्तिके द्वारा देखना चाहिये, जिसे स्वयं दिखाई देनेवाली ज्ञानरूपा चेतना बतलाया है (१६७,१६८)।

(५) समाधिमें स्थित हुआ योगी यदि आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता तो उसका वह ध्यान आत्मध्यान न होकर मूर्छाको लिये हुए मोह समझना चाहिये (१६९)।

(६) ज्ञानस्वरूप आत्माको अनुभव करता हुआ योगी निर्वातदेशस्थ दीपककी तरह परम एकाग्रताको तथा उस स्वात्माधीन आनन्दको प्राप्त होता है जो वचनके अगोचर है। उस समाधिकालमें परमएकाग्रताके कारण बाह्यपदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी योगीको अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता। अन्यसे शून्य होता हुआ भी वह स्वरूपसे शून्य कभी नहीं होता—आत्माका ज्ञानस्वरूप उसकी अनुभूतिमें बराबर बना रहता है (१७०-१७३)।

(७) मुक्तिके लिये नैरात्म्याद्वैतदर्शनकी उक्तिका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि 'यह अन्यके प्रतिभाससे रहित जो आत्माका सम्यक् अव-

लोकन है वही नैरात्म्याद्वैतदर्शन है।' अन्यात्मरूपके अभावका नाम 'नैरात्म्य' है और वह स्वात्माकी सत्ताको लिये हुए होता है अतः एकमात्र स्वात्माके दर्शनका नाम ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है। जो योगी स्वात्माको अन्यसे संयुक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो अन्य सब पदार्थोंसे, जो कथंचित परस्पर परावृत्त हैं, आत्माको विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है (१७४-१७७)।

(८) अहंकार-ममकारके भावसे रहित योगी, एकाग्रतासे आत्माको देखता हुआ, आत्मामें संचित हुए कर्ममलोंका जहाँ विनाश करता है वहाँ आने-वाले कर्ममलोंको भी रोकता है—और इस तरह बिना किसी विशेष प्रयत्नके संवर तथा निर्जरा दोनों रूप प्रवृत्त होता है(१७८)। इस प्रकार एकाग्रतासे आत्मदर्शनके ये दो फल हैं। ये दोनों फल एक ही शुद्धात्मभाव-की दो शक्तियोंके कारण उसी प्रकार घटित होते हैं जिस प्रकार सचिक्कणताका अभाव हो जाने पर पहलेसे चिपटी हुई धूलि स्वयं झड़ जाती है और नई धूलिको आकर चिपटनेका कोई अवसर नहीं रहता।

(९) इस नैरात्म्याद्वैत दर्शनको धर्म्य और शुक्ल दोनों ही ध्यानोंका ध्येय बतलाते हुए विशिष्ट ज्ञानियोंको स्थूल वितर्कका अवलम्बन लेकर इसके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है (१८०-१८२)। साथ ही अभ्यासके क्रमको अति संक्षिप्त सूचनामात्र विधि पांच पद्योंमें निर्दिष्ट की गई है, जिसमें आत्माको निर्दिष्टलक्षण अर्हन्तके रूपमें अथवा सिद्धके रूपमें ध्यानेका विधान है (१८३-१८७)।

(१०) जो वस्तु जिसरूपमें स्थित है उसे उसरूपमें ग्रहण न करके विपरीतरूपमें ग्रहण करना भ्रान्तिका सूचक होता है। अतः अपना आत्मा जो अर्हन्त नहीं उसे अर्हन्त-रूपमें ध्यानकरनेवाले आप जैसे सत्यपुरुषोंके क्या भ्रान्तिका होना नहीं कहा जायगा ? ऐसी शिष्यकी शंकाका उल्लेख करके (१८८) आगे अनेक पद्योंमें उसका सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया गया है, जिसमें सबसे पहले मुख्य बात यह कही

गई है कि हमारे उक्त ध्यान-कथनमें 'भाव अर्हन्त' विवक्षित है—द्रव्यअर्हन्त नहीं। जो आत्मा अर्हद्‌ध्यानाविष्ट होता है—अर्हन्तका ध्यान करते हुए उसमें पूर्णतः लीन होजाता है—वह उस समय भावसे अर्हन्त होता है, उस भाव-अर्हन्तमें ही अर्हन्तका ग्रहण है। अतः 'अतस्मिंस्तद्ग्रहः' का —जो जिसरूपमें नहीं उसे उसरूपमें ग्रहणका—दोष नहीं आता (१८९)। जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय होता है। अतः अर्हद्‌ध्यानसे व्याप्त आत्मा स्वयं भाव-अर्हन्त होता है (१९०)। आत्मज्ञानी आत्माको जिसभावसे जिसरूप ध्याता है उसके साथ वह उसी प्रकार तन्मय हो जाता है जिस प्रकार कि उपाधिके साथ स्फटिक (१९१)।

(११) अथवा सर्वद्रव्योंमें भूत और भावी स्वपर्यायें तदात्मक हुई द्रव्यरूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। अतः यह भावी अर्हत्पर्याय भव्यजीवोंमें सदा विद्यमान है, तब इस सत्‌रूपसे स्थित अर्हत्पर्यायके ध्यानमें विभ्रमका क्या काम ? (१९२, १९३)। यदि किसी तरह इस ध्यानको भ्रान्तरूप मान भी लिया जाय तो इससे फलका उदय नहीं बन सकेगा; क्योंकि मिथ्याजलसे कभी तृष्णाका नाश नहीं होता—प्यास नहीं बुझती। किन्तु इस ध्यानसे ध्यानवर्तियोंके धारणाके अनुसार शान्तरूप और क्रूररूप अनेक प्रकारके फल उदयको प्राप्त होते हैं—ऐसा देखनेमें आता है (१९४, १९५)।

(१२) उक्तध्यानके फलका स्पष्टीकरण करते हुए उसे मुक्ति तथा भुक्तिका प्रदाता लिखा है। चरमशरीरियोंके लिये वह मुक्तिका और दूसरोंके लिए भुक्तिका कारण बनता है, जो उस ध्यानसे विशिष्ट पुण्यका उपार्जन करते हैं। ज्ञान, श्री, आयु, आरोग्य, तोष, पोष, शरीर, धैर्य तथा और भी जो कुछ प्रशस्तरूप वस्तुएँ इस लोकमें हैं वे सब ध्याताको इस ध्यानके बलसे प्राप्त होती हैं। उस अर्हन्त अथवा सिद्धके ध्यानसे व्याप्त आत्माको देखकर महाग्रह—सूर्य-चन्द्रमादि—कप्रकम्पित होते हैं, भूत तथा

शाकिन्यां नाशको प्राप्त हो जाती हैं—अपना कोई प्रभाव जमाने नहीं पातीं—और क्रूरजीव क्षणमात्रमें क्रूरता छोड़कर शान्त बन जाते हैं (१९६–१९९)।

(१३) ध्यान-द्वारा कार्य-सिद्धिके व्यापक सिद्धान्तका निरूपण करते हुए बतलाया है कि जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमें समर्थ देवता है उसके ध्यानसे व्याप्तचित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपने वांछित कार्यको सिद्ध करता है (२००)। इसके बाद वैसे (तद्देवतामय) कुछ ध्यानों और उनके फलोंका निर्देश किया गया है, जिसमें पार्श्वनाथ, इन्द्र, गरुड़, कामदेव, वैश्वानर, अमृत और क्षीरोदधि-रूप ध्यानों तथा उनके फलोंका खास तौरसे उल्लेख है (२०१-२०८)। और उपसंहारमें यह सूचित किया गया है कि 'इस विषयमें बहुत कहने से क्या ? यह योगी जो भी काम करना चाहता है उस कर्मके देवतारूप स्वयं होकर उस-उस कार्यको सिद्ध करलेता है। शान्ति कर्मके करनेमें वह शान्तात्मा और क्रूरकर्मके करनेमें क्रूरात्मा होता हुआ दोनों प्रकार-के कार्योंको सिद्ध करता है (२०९, २१०)।

(१४) उक्त शंका-समाधानका उपसंहार करते हुये बतलाया है कि 'ध्यानका अनुष्ठान करनेवालोंके आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्रावण, निर्विषीकरण, शान्तिकरण, विद्वेषण, उच्चाटन-निग्रह इत्यादि कार्य दिखाई पड़ते हैं। अतः समरसीभावके सफल होनेसे विभ्रम (भ्रान्ति) की कोई बात नहीं है (२११, २१२)।

(१५) ध्यानके परिवार की सूचना करते हुए लिखा है कि पूरण कुम्भन, रेचन, दहन, प्लवन, सकलीकरण, मुद्रा, मंत्र, मंडल, धारणा, कर्मके अधिष्ठाता देवोंका संस्थान-लिङ्ग-आसन-प्रमाण-वाहन-वीर्य-जाति-नाम-ज्योति-दिशा-मुखसंख्या-नेत्रसंख्या-भुजासंख्या-क्रूरभाव-शान्तभाव -वर्ण-स्पर्श-अवस्था-वस्त्र-भूषण-आयुध इत्यादि और जो कुछ शान्त तथा क्रूरकर्मके लिये मंत्रवादादि ग्रन्थोंमें कहा गया है वह सब ध्यानका

परिकर है—यथाविवक्षित ध्यानकी सहायक सामग्री है (२१३-२१६)।

यह सूचना बड़ी महत्वपूर्ण है और उससे इस बातका पता चलता है कि ध्यानका विषय कितना गहन-गम्भीर है, कितना बड़ा उसका परिवार है और कितनी अधिक सतर्कता, सावधानी तथा जानकारीकी वह अपेक्षा रखता है। सब सामग्रीसे सुसज्जित होकर जब किसी सिद्धिके लिए ध्यान किया जाता है तभी उसमें यथेष्ट सफलताकी प्राप्ति होती है। जो अधूरे ज्ञान, अधूरे श्रद्धान और अधूरी सामग्रीके बलपर किसी प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त करना चाहता है तो यह उसकी भूल है, उसे ऐसी अवस्थामें यथेष्ट सिद्धिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

ग्रन्थमें आगे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी फल-सिद्धिका कारण ध्यानको बतलाकर (२१७) उस ध्यानकी सिद्धिका मुख्य हेतु गुरुउपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमन इस चतुष्टयको सूचित किया है (२१८)। साथ ही यह निर्देश किया है कि लौकिकफलके चाहनेवालोंके जो ध्यान होता है वह या तो आर्त्तध्यान है या रौद्रध्यान। अतः मुमुक्षुओंको इस आर्त्त तथा रौद्र ध्यानका परित्याग कर धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिए—धर्म्य तथा शुक्लध्यानके द्वारा लौकिक फलोंकी स्वतः प्राप्ति होती है, यह बात पहले प्रदर्शित की जा चुकी है।

इसके बाद उस तत्त्वज्ञानकी सूचना करते हुए जिसे शुक्लध्यान कहा गया है और शुक्लध्यानका निरुक्तिपरक स्वरूप बतलाते हुए मुमुक्षुको निरन्तर ध्यानाभ्यासकी प्रेरणाकी गई है(१२१-१२२)। साथ ही उत्कृष्ट ध्यानाभ्यासका फल चरमाङ्गके लिए तत्काल मुक्ति और दूसरोंके लिए क्रमशः मुक्तिको बतलाया है। क्रमशः मुक्तिकी प्राप्ति स्वर्गादिसुखोंके भोगानन्तर किस प्रकार होती है उसकी कुछ सूचना भी की गई है (२२५-२२९)। जीव और कर्मके प्रदेशोंका स्वहेतुसे—बन्धहेतुओंके

अभाव तथा निर्जरारूपनिर्जीकारणसे—जो आत्यन्तिक विश्लेष है—सदाके लिए एक दूसरेसे अतीव पृथकत्व है—उसे मुक्ति बतलाया है और उसका फल अनन्तज्ञानादिक क्षायिक (स्वाभाविक) गुणोंका प्रादुर्भूत होना प्रकट किया है (२३०)। मुक्तात्मा कर्मबन्धनका विध्वंस हो जानेसे और ऊर्ध्वगमन-स्वभावके कारण एक क्षणमें लोकशिखरके अग्रभागको प्राप्त हो जाता है। मुक्तिप्राप्त आत्मा तत्पूर्व छोड़े हुए अपने शरीरके प्रमाणसे कुछ ऊनजितना तदाकाररूपमें अपने गुणोंको लिये हुए रहता हैं, उसके उस आकारमें फिर कोई संकोच या विस्तार नहीं होता; क्योंकि संसारावस्थामें जो संकोच या विस्तार होता था वह सब कर्मनिर्मित था, उस कर्मके क्षय हो जानेसे वे दोनों फिर नहीं होते (२३२, २३३)।

मुक्तिको प्राप्त होने पर इस प्रक्षीणकर्मा पुरुषकी स्वरूपमें अवस्थिति होती है, जोकि न तो अभावरूप है, न अचैतन्यरूप है और न निरर्थक चैतन्यरूप है (२३४)। सब जीवोंका स्वरूप सूर्यमण्डलकी तरह स्व-पर-प्रकाशन है, किसी परद्रव्यके द्वारा उसका प्रकाशन नहीं होता (२३५)। इसीसे आत्मस्वरूपको स्वसंवेद्य कहा गया है। जिस प्रकार सांसर्गिक मलके दूर हो जाने पर रत्न अपने स्वरूपमें स्थित होता है उसी प्रकार कर्ममलके क्षय हो जाने पर यह आत्मा भी अपने स्वरूपमें स्थित होता है (२४६)। आगे तीन पद्योंमे स्वात्मस्थितिके स्वरूपका कुछ स्पष्टीकरण किया गया है और उसमें आत्माके उस अतीन्द्रिय अविनाशी सुखका उल्लेख भी किया गया गया है जिसे वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और तृष्णाके अनन्तअभाव अथवा समताके अनन्तसद्भाव-रूपमें अनुभव करता है (२३७-२६९)। इसके बाद, मोक्षसुख-सम्बन्धी शंकाका समाधान करते हुए, मोक्षसुखका तथा सांसारिक सुखका लक्षण दिया है और इन्द्रियविषयोंसे सुख माननेको मोहका माहात्म्य ठहराया है तथा मुक्तात्माओंके सुखकी तुलनामें पृथ्वीपर चक्रवर्तियोंके और स्वर्गमें देवोंके सुखको नगण्य बतलाया है (२४०-२४६)।

चूँकि मोक्षसुखकी तुलनामें संसारका बड़ेसे बड़ा सुख भी नगण्य है इस लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्षपुरुषार्थको उत्तम माना गया है। यह मोक्षपुरुषार्थ किनके बनता है—कौन इसके स्वामी अथवा अधिकारी हैं ? इस शंकाका समाधान करते हुए यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि यह मोक्षपुरुषार्थ स्याद्वादियों—अनेकान्तवादियोंके ही बनता है, एकान्तवादियोंके नहीं, जो कि अपने शत्रु आप होते हैं (२४७)। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने एकान्तग्रह-रक्तोंको स्व-पर-वैरी बतलाया है और यह स्पष्ट घोषणा की हैं कि उनके कुशल (सुखहेतुक) और अकुशल (दुःखहेतुक) कर्मकी तथा लोक-परलोकादिकी कोई व्यवस्था नहीं बनती १। एकान्तवादियोंके बन्ध, मोक्ष, बन्धहेतु और मोक्षहेतु यह चतुष्टय भी नहीं बनता, क्योंकि इन चारोंमें व्याप्त होनेवाले तत्त्वको—अनेकान्तको—वे स्वीकार नहीं करते (२४८)। इसके बाद बन्धादि-चतुष्टयके न बननेका सहेतुक स्पष्टीकरण किया गया है (२४९-२५१) और फिर यह सूचित किया गया है कि चूँकि धर्मादि चतुष्टयरूप पुरुषार्थमें ही नहीं किन्तु इस बन्धादिचतुष्टयमें भी जो सार पदार्थ है वह मोक्ष है और वह ध्यानपूर्वक होता है—ध्यानाराधनाके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं बनती—यह मानकर ही मेरे द्वारा ध्यान-विषय ही थोड़ा प्रपंचित हुआ अथवा कुछ स्पष्ट किया गया है (२५२)।

अन्तमें ग्रन्थकारमहोदयने ध्यान-विषयकी गुरुता और अपनी लघुता व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि यह ध्यान-विषय अत्यन्त गम्भीर है और मेरे जैसोंकी यथेष्ट पहुँचसे बाहरकी वस्तु है, तो भी ध्यान-भक्तिसे प्रेरित हुआ मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ। इस रचनामें छद्मस्थताके कारण अर्थ तथा शब्दोंके प्रयोगमें जो कुछ स्खलन हुआ हो या त्रुटि रही हो उसके लिये श्रुतदेवता मुझ भक्तिप्रधानको क्षमा करें (२५३, २५४)। साथ ही

---

१. कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु। (देवागम ८)

भव्यजीवोंको बड़ा ही महत्वपूर्ण आशीर्वाद दिया है और वह यह कि 'वस्तुके याथात्म्य(तत्त्व)का विज्ञान श्रद्धान और ध्यानरूप सम्पदाएँ भव्यजीवोंको अपने स्वरूपकी उपलब्धिके लिए कारणीभूत होवें (२२५)। इसके बाद ग्रन्थकी प्रशस्ति और अन्त्यमंगल है, जिसका कितना ही परिचय प्रस्तावनाके प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

९. ग्रन्थके अनुवाद और उनकी स्थिति

इस ग्रन्थपर संस्कृतादिकी कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है और न उसके रचे जानेका कहीं कोई उल्लेख ही मिलता है। अनुवाद भी कोई पुराना सुनने या देखनेमें नहीं आया। माणिकचन्द दि० जैनग्रन्थमालामें मूलग्रन्थके प्रकाशित हो जानेके बाद सबसे पहले पं० लालारामजी शास्त्रीने इसे हिन्दीमें अनुवादित किया है। यह हिन्दी-अनुवाद मूलसहित 'ग्रन्थत्रयी' नामके एक संग्रहग्रन्थकी आदिमें भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्तासे वीरसंवत् २४४७ (सन् १९२१)के ज्येष्ठमासमें प्रकाशित हुआ है और उसे पं० पन्नालाल बाकलीवालने प्रकाशित किया है। इस मुद्रितप्रतिमें, जो ८० पृष्ठोंपर है, मूलपाठ माणिचन्दग्रन्थमालामें मुद्रित प्रतिसे लिया गया है, बहुधा उसके अशुद्ध पाठोंको ज्योंका त्यों रहने दिया गया है; जैसे **मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः** (१२), **ध्यग्रं ह्यज्ञानमेव** (५९), **धातुपिण्डे** (१३४), **पार्श्वनाथोमवन्मंत्री** (२०१), **प्राकारं मरुता पूर्यं** (१८४), **श्रीनागसेनविदुषा** (२५७)। कहीं-कहीं कुछ मोटी अशुद्धियोंका संशोधन किया गया है, जो कहीं-कहीं ठीक बना है; जैसे 'अक्षमात्' का **'अक्षमात्'** (३६), 'जयः' का **'जपः'** (८०), 'धेय' का **'ध्येय'** (१२२), 'नालंब्यते' का **'नालम्बते'** (१४५), 'भावार्हः' का **'भावार्हन्'** (१९०), 'उद्य' का **'उद्यद्'** (२५६)। और कहीं-कहीं ठीक नहीं बना; जैसे 'परमः' का **'प्रशमः'** के स्थानपर **'परमा'** (१३९), 'अवादिसत्' का **'अवादि तत्'** के स्थानपर **'अवादिक्षत्'** (१४२), 'तैजसीमाथां' का **'तैजसीमाप्यां'** के स्थानपर **'तैजसीमार्थी'**। कहीं-कहीं

मुद्रित शुद्ध पाठको अशुद्धरूप भी दे दिया गया है; जैसे 'निष्पन्दलोचनो' को 'निष्पवलोचनं' (६३) और 'सकलीकृतविग्रहः' को 'सफलीकृतविग्रहः' (२०१)।

मुद्रित मूलपाठकी अशुद्धियों, शुद्धको अशुद्ध बना देने और कहीं-कहीं अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेके कारण इस अनुवादमें बहुतसी अशुद्धियों, गलतियों एवं त्रुटियोंको अवसर मिला है, जिनका ठीक आभास करानेके लिये ऐसे अनुवादोंके कुछ नमूने पद्याङ्कसहित नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमें कहीं-कहीं मूल-वाक्योंको भी कोष्ठकके भीतर अनुवादके साथ दे दिया है, जिससे विज्ञपाठक सहज ही अनुवादकी स्थितिसे अवगत हो सकें; शेषके लिए मूलवाक्यों तथा उनके इस ग्रन्थमें दिये हुए अनुवादको तुलना करके देखना होगा :—

१. (पराऽपरगुरून्नत्वा)—"प्राचीन अर्वाचीन समस्त गुरुओंको नमस्कार कर।"

१२. "*बन्धके जितने कारण हैं उनमें सबसे पहले मोह वा मिथ्या*-दर्शन ही कहा गया है, मिथ्याज्ञान तो केवल मंत्रीपनेका काम करता है अर्थात् मिथ्याज्ञान दर्शनका सहायक है।"

५७. "एक, प्रधान, आलबन और मुख ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं तथा चिंता, स्मृति, निरोध और उसका उसमें तल्लीन होना ये भी सब पर्यायवाचक शब्द हैं।"

५६. "क्योंकि व्यग्रता अज्ञान है और एकाग्रताको ध्यान कहते हैं।"

१०४. (इच्छन्दूरश्रवादिकं)—"सुनाई देने आदि दोषोंको दूर रखनेकी इच्छा करता हुआ।"

१०६. "अथवा जिसके मध्यमें क्षोणीमंडल बिराजमान है और जो मायासे तीन वार घिरा हुआ है ऐसे गणधरवलययंत्रका ध्यान करे तथा उसकी पूजा करे।" (*पूर्वपद्यसे असम्बद्ध*)

१०८. (नामध्येयमवेहि तत्)—"उसे नामध्यान कहते हैं।" ऐसे ही आगे स्थापनादि ध्येय-विषयक पद्योंमें 'ध्येय'का अर्थ 'ध्यान' किया है।

१०६. "इस ध्यानमें धातुपिंडमें ठहरा हुआ जो ध्येय पदार्थ है उसका ध्यान किया जाता है इसीलिए इस ध्यानको केवल ध्येय पिंडस्थ कहते हैं।"

१३८. "बहुत कहनेसे क्या ? ध्यान धारण करनेवालेको यह बात यथार्थ रीतिसे जान लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ ध्येय है वह मध्यस्थ कहलाता है" (**माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता**)।

१७६. "सम्यक् ध्यान करने वाला यह आत्मा ज्यों-ज्यों अपने आत्मामें स्थिर होता जाता है त्यों-त्यों उसकी समाधि वा निश्चल ध्यानका कारण भी स्पष्ट होता जाता है" (**समाधिप्रत्ययाश्चाऽस्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा**)।

१८३. "सबसे पहले पूरक वायुके द्वारा आत्माके आकारकी कल्पना करनी चाहिये फिर रेफरूपी अग्निसे स्थिर रहना चाहिये तथा अपने शरीरके द्वारा कर्मोंको जलाना चाहिये और अपने आप उसकी भस्मका विरेचन करना चाहिये।"

१८५. ......"अनुक्रमसे मारुती तैजसी और पार्थिवी धारणाका प्रारंभ करना चाहिये।" ('**आप्यां**' की जगह '**आर्थी**' पाठ बनाकर उसका 'पार्थिवी' अर्थ किया गया है, जो कि बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है ! कहीं अंग्रेजीके अर्थ (earth) शब्दसे तो यह 'आर्थी पद नहीं बनाया गया !!)

१८६. "तदनन्तर पांचों स्थानोंमें धारण किये गये पांचों पिंडाक्षररूप (**पंचपिंडाक्षरान्वितैः**) पंचनमस्कारमंत्रसे समस्तक्रियाएँ पूर्ण करनी चाहियें" (**विधाय सकलीक्रियां**)।

२०१. "जैसे कि—महामुद्रा (ध्यानके आसन) महामंत्र (अ सि आ उ सा) और महामंडलका आश्रय कर मंत्री मरुभूति अपने शरीरको सफल कर पार्श्वनाथ स्वामी हो गया।" (पूर्वाऽपर पद्योंसे असम्बद्ध अर्थ, मांत्रिकके स्थानपर मंत्री मरुभूतिकी अन्यथा कल्पना और '**सकलीकृत-विग्रहः**' को '**सफलीकृतविग्रहः**' बनाकर विपरीत अर्थका किया जाना, ये सब बातें यहाँ खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं।)

२०२. *"यथायोग्य तैजसी आदि धारणाओंको धारण करने वाला* योगी उदग्र (क्रूर) ग्रहोंका भी बहुत शीघ्र निग्रह आदि कर लेता है।" (पूर्वपद्यसे असम्बद्ध अर्थ।)

२०३. "महामंडलके मध्यमें विराजमान वह योगी स्वयं इन्द्रकी कल्पना करता है तथा किरीट कुंडलको धारण करने वाला वज्रास्त्र लिये हुए वह (?) की कल्पना करता है।"

२१२. "अतः समरसीभाव सफल हो जानेसे अर्थात् समरसीभावके पूर्ण प्रगट हो जानेसे उस योगीको किसी प्रकारका विभ्रम नहीं रहता।"

२४८. (**तद्व्यापकमनिच्छतां**)—"क्योंकि वे इन चारोंको व्यापक नहीं मानते हैं।"

२४९. (**अनेकान्तात्मकत्वेन व्याप्तावत्र क्रमाऽक्रमौ**) "क्रम और अक्रम अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व और वक्तव्य अवक्तव्य ये दोनों अनेकान्तरूपसे ही व्याप्त है" ('अत्र'का विवक्षित अर्थ 'बन्धादिचतुष्टय'को छोड़ दिया गया और क्रम-अक्रमका विचित्र अर्थ प्रस्तुत किया गया!)

२५६-५७. "तथा पुण्यमूर्ति विजयदेव दीक्षागुरु थे तथा जिनके चारित्रकी कीर्ति चारों ओर फैल रही थी ऐसे एक नागसेन नामक मुनि हुए थे।" "उन्हीं अत्यन्त···नागसेनमुनिने······तत्त्वानुशासननामका ग्रन्थ बनाया।"

इन नमूनोंपरसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि अनुवाद कहाँ तक मूलके अनुरूप हुआ है।

दूसरा हिन्दी अनुवाद श्री धन्यकुमार जैन एम० ए० इन्दौर-द्वारा निर्मित होकर 'अध्यात्मग्रन्थसंग्रह' नामक एक संग्रहग्रन्थमें आचार्य सूर्यसागर-संघ मन्दसौर (मालवा) से वीर सं० २४७२ (सन् १९४६) में प्रकाशित हुआ है, जिसके प्रकाशक हैं श्रीलक्ष्मीचन्द वर्णी, ऐसा गुजराती अनुवाद के 'निवेदन' और 'बे बोल'परसे मालूम पड़ा है। प्रयत्न करनेपर भी यह अनुवाद अपनेको दिल्लीमें प्राप्त नहीं हो सका और श्रीधन्यकुमारजी

अपने पिता पं० वंशीधरजी न्यायालंकारकी प्रेरणाको पाकर भी उसे भेज या भिजवा नहीं सके। इसीसे इस अनुवादका कोई परिचय नहीं दिया जा सका। गुजराती अनुवादके 'निवेदन' आदि परसे इतना जरूर मालूम पड़ा है कि गुजराती अनुवादके साथ मूलपाठ वही रक्खा गया है जो श्रीधन्यकुमारजीके द्वारा सम्पादित होकर उक्त अध्यात्मग्रन्थ-संग्रहमें प्रकाशित हुआ है और ग्रन्थका शीर्षक भी उसीके अनुसार "श्री-मन्नागसेनाचार्यप्रणीततत्त्वानुशासन' रक्खा है। इससे मालूम होता है कि मूलपाठकी कुछ अशुद्धियाँ इस द्वितीय अनुवादके समय भी, जो २५ वर्ष बाद हुआ है, स्थिर रही हैं और उनके कारण अनुवादमें कुछ ग्रन्यथापन भी आया है।

तीसरा गुजराती अनुवाद मुनि श्रीतत्त्वानन्दविजयके द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जिन्हें उक्त अध्यात्मकग्रन्थसंग्रहको मुद्रित प्रति तो प्राप्त नहीं होसकी, उसपरसे उतारी हुई एक नकल प्राप्त हुई थी, जो उन्हें अनुवाद करते समय उपयोगी मालूम पड़ी है। इस नकलपरसे तत्त्वानु-शासनको पहली वार अवलोकन करके उनके हृदयमें जो भाव उत्पन्न हुआ उसे व्यक्त करते हुए वे अपने 'बे बोल' में लिखते हैं:—

'तत्त्वानुशासन ग्रन्थको प्रथम वार जब अवलोकन किया तब उसका मनपर सुन्दर प्रभाव पड़ा और उस समय ऐसा लगा कि ध्यानमार्गके लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी होनेसे प्रत्येक मुमुक्षुके अध्ययनका विषय बनना चाहिए। इस विचारने समग्र ग्रन्थके गुजराती अनुवादके लिए प्रेरणा प्रदान की।······ग्रन्थकी रचना ग्रन्थकर्ताकी अगाधविद्वत्ताको स्वयं बतला रही है।'

यह अनुवाद गुजराती लिपिमें ७० पृष्ठोंपर मुद्रित है, जिसमें मूल-ग्रन्थको देवनागरी लिपिमें दिया है, और इसे श्री नवीनचन्द अम्बलाल शाह, एम० ए० मंत्री 'जैनसाहित्य-विकास-मंडल' विले पारले, बम्बई-५७ ने, अपने 'निवेदन'के साथ, सितम्बर १९६१ में प्रकाशित किया है। इसमें मूलग्रन्थका जो पाठ दिया है उसमें कहीं-कहीं कोष्ठकके भीतर

भिन्न पाठकी भी सूचना की गई है। वह भिन्नपाठ स्वयं गुजराती अनुवादकारके द्वारा सुझाया गया है या हिन्दी अनुवादकार धन्यकुमारजीने उसकी सूचना की है, यह ग्रन्थपरसे ठीक मालूम नहीं होसका; क्योंकि कहीं-कहीं तो उस सूचितपाठके अनुसार गुजराती अनुवाद किया गया है और कहीं-कहीं उसे छोड़कर दूसरे पाठके अनुसार ही अर्थ दिया गया है। उदाहरणके तौरपर पद्य १३६ में 'प्रशमः' स्थानीय 'परमः' की जगह 'परमा,' और पद्य १८४ में 'मभसि' की जगह 'नभसि' पाठ सुधारकर तदनुसार उनका अर्थ किया गया है, 'परमा' को 'शान्ति'का विशेषण बनादिया गया है; परन्तु पद्य नं० ५६ में 'ह्यज्ञानं' के स्थान पर 'हि ज्ञानं' इस शुद्ध पाठ की और पद्य नं० २०१ में 'सकलीकृतविग्रहः' के स्थान पर 'सफलीकृतविग्रहः' इस अशुद्धपाठकी सूचना करते हुए भी अनुवादको तदनुरूप प्रस्तुत नहीं किया गया।

इस गुजराती अनुवादके साथ दिये हुए मूलपाठमें यद्यपि कितनी ही अशुद्धियां अभी स्थिर रही हुई हैं और उनके कारण अनुवाद भी कहीं-कहीं अशुद्ध बन पड़ा है फिर भी ग्रन्थके मूलमें 'तैजसीमाप्यां' की जगह 'तैजसीमार्थी' जैसी अशुद्धिके लिये कोई स्थान नहीं है और न अनुवादमें ही उस प्रकारकी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं जिस प्रकारकी अशुद्धियाँ हिन्दीके सर्वप्रथम अनुवादमें दृष्टिगोचर होती हैं और जिनके कुछ नमूने पद्याङ्कके साथ ऊपर दिए हैं। गुजराती अनुवादमें मूलपाठकी अशुद्धियोंके कारण तथा कहीं-कहीं अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेके कारण जिस प्रकारकी अशुद्धियोंको अवसर मिला उसके कुछ नमूनोंका परिचय नीचे कराया जाता है :—

१३४वें पद्यमें 'ध्यातुःपिण्डे' के स्थान पर 'धातुपिण्डे' और 'केवलं' के स्थान पर 'केवलं' जैसा अशुद्धपाठ उपलब्ध होनेके कारण यह अर्थ किया गया है कि 'इस प्रकार जब सप्तधातुके पिंडमें—देहमें ध्येय वस्तु का ध्यान किया जाता है तब उस ध्येय को (ध्यानको) पिंडस्थ कहा जाता है, इसीसे केवल (कैवल्य, केवलज्ञान) प्राप्त होता है।'

२५७वें पद्यमें '**श्रीरामसेनविबुधा**' के स्थान पर '**श्रीनागसेनविबुधा**' पाठ मिलनेके कारण अनुवादमें ग्रन्थकर्ता 'रामसेन' को न लिखकर 'नागसेन' को लिख दिया गया, जो कि ग्रन्थकारके दीक्षागुरु थे, और दीक्षागुरु विजयदेवको बना दिया गया, जो कि चौथे शास्त्रगुरु थे। साथ ही दीक्षागुरुके दो विशेषणोंमेंसे एकको विजयदेवके तथा दूसरेको ग्रन्थकारके साथ जोड़ दिया गया और २५६वें पद्यमें प्रयुक्त '**यस्य**' पदका २५७वें पद्यमें प्रयुक्त '**तेन**' पदके साथ जो गाढ सम्बन्ध है उसका कोई ध्यान नहीं रखा गया।

१०३वें पद्यमें अ-इ-उ-ए-ओ संज्ञक जिन अक्षरोंके ध्यानका मतिज्ञानादिकी सिद्धिके लिये विधान है उन्हें '**मतिज्ञानादिनामानि**' इस विशेषणपदके द्वारा मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानोंके नाम उसी प्रकार सूचित किया है जिस प्रकार पूर्व पद्य (१०२) में अ-सि-आ-उ-सा अक्षरोंको पंचपरमेष्ठिवाचक नाम सूचित किया है; परन्तु अनुवादमें उक्त विशेषणपदको विशेषणपद न समझकर मतिज्ञानादिके नामोंको अलगसे ध्यान करनेकी प्रेरणा की गई है। इसीसे उक्त मंत्राक्षरोंके ध्यानकी प्रेरणाके अनन्तर लिख दिया है—"तथा मत्यादि ज्ञानोंकी सिद्धिमाटे मत्यादि ज्ञानोंना नामोनुं ध्यान करें।"

१७९में पद्यमें प्रयुक्त '**समाधिप्रत्ययाः**' पद का अनुवाद समाधिके प्रत्ययोंका—अतिशय-चमत्कारोंका—न करके "समाधि अने समाधि-विषयक अनुभवों" ऐसा किया गया है, जो अर्थके ठीक प्रतिभासको लिए हुए मालूम नहीं होता और ८७वें पद्यमें प्रयुक्त हुए '**ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति**' वाक्यके साथ भी संगत नहीं बैठता, जिसका गुजराती अनुवाद अनुवादकने "ध्यानसम्बन्धी प्रत्ययोंने (विश्वासमां वृद्धि करनारां सुस्वप्नादि चिह्नोंने) पण जुओ छे" ऐसा दिया है। पं० आशाधरजीने इष्टोपदेशके ४०वें पद्यकी टीकामें "**ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः**" ऐसा लिखकर प्रमाणमें '**तथा चोक्तं**' वाक्यके साथ तत्त्वानुशासनके इस ८७वें पद्यको उद्धृत किया है, जिससे '**ध्यानप्रत्ययान्**' पदका स्पष्ट आशय

ध्यान (समाधि) के चमत्कारों तथा अतिशयोंसे जान पड़ता है।

इस प्रकार संक्षेपमें यह गुजराती अनुवाद की स्थिति है। अनुवादमें अनेक त्रुटियोंके रहते हुए भी यह अनुवाद प्रथम हिन्दी अनुवादकी अपेक्षा अच्छा है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलग्रन्थमें कोई अध्याय-विभाग नहीं हैं; परन्तु इस अनुवादमें अनुवादकने उसे स्वयं अपनी तरफसे प्रस्तुत किया है। सारे ग्रन्थको आठ अध्यायोंमें बाँटा है, जिनके नाम हैं—१ सारभूत चतुष्टय, २ मोक्षका प्रधान कारण ध्यान, ३ ध्यानके लिये सामग्री और प्रेरणा ४ पराश्रय ध्यान, ५ स्वात्मावलम्बन ध्यान, ६ अर्हंका अभेद प्रणिधान और ध्यानके फल, ७ मुक्तात्माका स्वरूप, ८ उपसंहार। प्रथम अध्यायमें १ से ३२, द्वितीयमें ३३ से ७४. तृतीयमें ७५ से ८९, चतुर्थमें ९० से १४०, पंचममें १४१ से १८२, षष्ठमें १८३ से २३०, सप्तममें २३१ से २५१ और अष्टममें शेष २५२ से २५९ तकके पद्योंको रक्खा है। अध्यायोंका यह नामकरण और उसमें पद्योंका उक्त विभाजन कहाँ तक ठीक हुआ है, इसे विज्ञपाठक स्वयं समझ सकते हैं।

मेरी रायमें प्रथम अध्यायका नाम 'हेयोपादेयतत्त्व,' द्वितीयका द्विविध-मोक्षमार्गकी ध्यानसे सिद्धि' और छठेका 'आत्माका अर्हद्रूप ध्यान' होना चाहिये था। पाँचवें अध्यायके नाममें 'और श्रोतीभावना' इतना और जोड़ दिया जाता तो ज्यादा अच्छा रहता। तृतीय अध्यायके अन्तमें ८९वें पद्यको रक्खा गया है, उसमें जिस परिकर्मके करनेकी प्रेरणा की गई है उसके निर्देशक ९० से ९५ तकके छह पद्योंको भी उसी अध्यायके अन्तमे रखना चाहिये था, उन्हें चतुर्थ अध्यायके प्रारम्भमें देना उचित नहीं ज्ञान पड़ता। चतुर्थ अध्यायका प्रारम्भ पद्य ९६ से होना चाहिये था। इसी तरह पंचम अध्यायके अन्तिम पद्य १८२ में ध्यानके जिस अभ्यासकी प्रेरणा की गई है वह अभ्यास-क्रम पद्य १८३से १८७

तक दिया हुआ है, अतः ये पाँच पद्य भी पाँचवें अध्यायके अन्तमें दिये जाने चाहियें थे, उन्हें छठे अध्यायके प्रारम्भमें देना असंगत जान पड़ता है। छठे अध्यायका प्रारम्भ १८८वे पद्यसे होना चाहिये था। इस प्रकार मेरी दृष्टिमें अध्यायों और पद्योंका यह विभाजन भी अनेक त्रुटियोंको लिये हुए हैं।

इसके सिवाय पद्योंके ऊपर जो शीर्षक अथवा परिचय-वाक्य दिये हुए हैं वे भी कुछ त्रुटियोंको लिये हुए हैं। कहीं कहीं तो कोई शीर्षक अर्थकी जगह अनर्थका परिचायक बन गया है; जैसे कि पद्य नं० ११८ पर दिया हुआ 'भावध्येय' शीर्षक; जब कि उस पद्यमें भाव-ध्येयका कोई लक्षण घटित नहीं होता—केवल आत्माके ध्येयतम होनेका कारण बतलाया है। भावध्येयका स्वरूप तो पद्य नं ११६में दिया हुआ है, जिसे गलतीसे द्रव्यध्येयकी प्ररूपणा करनेवाले पद्योंमें ही शामिल कर लिया गया है।

इस प्रकार ग्रन्थके प्रथम हिन्दी तथा गुजराती दोनों अनुवादोंकी यह वस्तुस्थिति है। ये दोनों ही अनुवाद भाष्यको लिखते समय मेरे सामने नहीं रहे हैं—मुझे इनकी उपलब्धि बादको हुई है।

१०. उपसंहार

ग्रन्थके द्वितीय नाम, ग्रन्थकी प्रतियों, ग्रन्थके कर्तृत्व, ग्रन्थ-ग्रन्थकारके समय, ग्रन्थकारके गुरुओं और स्वयं ग्रन्थकारके विशेष परिचयके सम्बन्धमें मुझे उपलब्ध जैन-साहित्यपरसे जो कुछ अनुसंधान एवं तुलनात्मक अध्ययनके द्वारा प्राप्त हो सका है उस सबको मैंने ऊहापोहके साथ इस प्रस्तावनामें निबद्ध एवं संकलित कर दिया है। साथ ही ग्रन्थका आवश्यक संक्षिप्त परिचय भी दे दिया है और पूर्ववर्ती अनुवादों की स्थितिको भी स्पष्ट कर दिया है। इससे पाठकोंको प्रस्तुत ग्रन्थकी इतिहासादि-विषयक विशेष जानकारी प्राप्त हो सकेगी और वे

इस ग्रन्थके अध्ययनादिमें सुरुचिपूर्वक प्रवृत्त हो सकेंगे, ऐसी मेरी दृढ धारणा है।

मेरा विचार था कि मैं इस प्रस्तावनामें अध्यात्म-योग-विद्या एव मन्त्रशास्त्रके विषयमें कुछ विशेष प्रकाश डालूँ; परन्तु एक तो मन्त्र-शास्त्रका अध्ययन अभी तक पूरा नहीं हो पाया, दूसरे भाष्यके प्रका-शनमें आशातीत विलम्ब हो गया और उसे और अधिक समय तक रोके रखना उचित नहीं जँचा; क्योंकि जीवनका कोई भरोसा नहीं है—छियासी वर्षके लगभग अवस्था हो चुकी है। अतः मैं अपने उस विचार-को इस समय यहाँ छोड़ रहा हूँ। यदि जीवन शेष रहा, शक्ति बनी रही और भावीने साथ दिया तो मैं अगले ग्रन्थसंस्करणके अवसर पर या उससे पहले ही 'अध्यात्म-योग-विद्या' नामक स्वतन्त्र निबन्धके द्वारा उसे पूर्ण करनेका पूरा प्रयत्न करूँगा। अध्यात्मयोगके सिवा शेष जीवनका अब दूसरा कोई लक्ष्य है भी नहीं।

२३ मई १९६३
ज्येष्ठ कृ० १५ गुरु सं० २०२०
दिल्ली

जुगलकिशोर मुख्तार

विषय-सूची

संकेताक्षर-सूची

अध्यात्मत०, टी०	=अध्यात्मतरंगिणी, टीका
अध्यात्म० र०	=अध्यात्मरहस्य
अन० टी०	=अनगारधर्मामृत-टीका
आ	=आदर्शप्रति जयपुर की
आत्मानु०	=आत्मानुशासन
इष्टो० टी०	=इष्टोपदेश-टीका
कार्तिकानु०	=कार्तिकेयानुप्रेक्षा
ज्ञाना०	=ज्ञानार्णव
गो० क०	=गोम्मटसार कर्मकाण्ड
ज	=जयपुर-दि० जैन तेरह पंथी बड़ा मंदिर-प्रति
जु	=जुगलकिशोर-प्रति
तत्त्वानु०	=तत्त्वानुशासन
तत्त्वा० वा०, भा०	=तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य
त० सू०	=तत्त्वार्थसूत्र
द्रव्यसं०	=द्रव्यसंग्रह
ध्यानश०	=ध्यान-शतक
परमात्मप्र०	=परमात्मप्रकाश
परि०, प्रा०	=परिच्छेद प्राकृत
पंचा० पंचास्ति०	=पंचास्तिकाय
भैरव-पद्मा०	=भैरव-पद्मावती-कल्प
भावपा०	=भावपाहुड
मु	=मुद्रित-मुम्बई-प्रति
मे	=आमेर-प्रति
युक्त्यनु०	=युक्त्यनुशासन
योगशा०	=योगशास्त्र
वसु० श्रा०	=वसुनन्दि-श्रावकाचार
विद्यानु०	=विद्यानुशासन
समय०	=समयसार
सर्वार्थ०	=सर्वार्थसिद्धि
सि	=जैनसिद्धान्तभवन आरा-प्रति
सि० भा०, भा०	=सिद्धान्तभास्कर, भाग
सि० भ०, सिद्धभ०	=सिद्धभक्ति

श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत

सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूत

तत्त्वानुशासन

नामक

ध्यान-शास्त्र

सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्यसे अलंकृत

अर्हँ

भाष्यका मंगलाचरण

ध्यान-अग्निसे जला कर्ममल, किया जिन्होंने आत्मविकास,
सब-दुख-द्वन्द्व-रहित होकर जो करते हैं लोकाऽग्र-निवास।
उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थ मैं वन्दूँ धरकर परमोल्लास,
मंगलकारी ध्यान जिन्होंका, महागुणोंके जो आवास ॥१॥

घातिकर्म-मल नाश जिन्होंने, पाया अनुपम-ज्ञान अपार,
सब जीवोंको निज-विकासका, दिया परम उपदेश उदार।
जिनके सदुपदेशसे जगमें, तीर्थ प्रवर्ता हुआ सुधार,
उन अर्हन्तोंको प्रणमूँ मैं भक्तिभावसे वारंवार ॥२॥

तत्त्वोंका अनुशासन जिसमें, सिद्धि-सौख्यका जो आधार,
निश्चय औ' व्यवहार मोक्षपथ, प्रकटाता आगम अनुसार।
रामसेन-मुनिराज-रचित जो, ध्यान-शास्त्र अनुपम अविकार।
व्याख्या सुगम करूँ मैं उसकी, निज-परके हितको उर धार ॥३॥

मूलका मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

सिद्ध-स्वार्थानशेषार्थ-स्वरूपस्योपदेशकान् ।
पराऽपर-गुरून्नत्वा वक्ष्ये तत्त्वानुशासनम् ॥१॥

'जिनका स्वार्थ सिद्ध होगया है—जिन्होंने शुद्ध-स्वरूप-स्थितिरूप अपने आत्यन्तिक (अविनाशी) स्वास्थ्यकी[1] साधना कर उसे प्राप्त कर लिया है—**तथा जो सम्पूर्ण अर्थतत्त्व-विषयक स्वरूपके उपदेशक हैं**—जिन्होंने केवलज्ञान-द्वारा विश्वके समस्त पदार्थोंको जानकर उनके यथार्थ रूपका प्रतिपादन किया है—**उन 'पर' और 'अपर' गुरुवोंको**—समस्त कर्म-कलंक-विमुक्त निष्कल-परमात्मा सिद्धोंको और चतुर्विध घातिकर्म-मलसे रहित सकल-परमात्मा अर्हन्तोंको तथा अर्हद्वचनानुसारि-तत्त्वोपदेश-कारि-अन्यगणधर-श्रुतकेवली आदि गुरुवोंको—**नमस्कार करके मैं तत्त्वानुशासनको कहूँगा**—तत्त्वोंका अनुशासन–अनुशिक्षण जिसका अभिधेय–प्रयोजन है ऐसे 'तत्त्वानुशासन' नामक ग्रन्थ-की रचना करूँगा।'

व्याख्या—यह पद्य मंगलाचरणपूर्वक ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा-को लिये हुए है। मंगलाचरण दो प्रकारके गुरुवोंको नमस्काररूप

---

१. स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

है—एक परगुरु और दूसरे अपरगुरु। इन गुरुवोंके केवल दो ही विशेषण दिये हैं—'**सिद्धस्वार्थान्**' और '**अशेषार्थस्वरूप-स्योपदेशकान्**।' इससे एक विशेषण परमगुरु सिद्धोंका और दूसरा अपरगुरु अर्हन्तों आदिका जान पड़ता है। यदि परमगुरुवों-में सिद्ध और अर्हन्त इन दोनों प्रकारके गुरुवोंका ग्रहण किया जाय तो फिर अपरगुरुवोंकी भिन्नताका द्योतक कोई विशेषण नहीं रहत; दूसरे सिद्धोंके सिद्धावस्थामें दूसरा विशेषण नहीं बनता—भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे भी वह सारे सिद्धोंमें घटित नहीं होता; क्योंकि कितने ही सिद्ध (मूक केवली आदि) ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने कोई उपदेश नहीं दिया। अतः परम-गुरुवोंमें सिद्धोंका ही ग्रहण यहाँ विवक्षित प्रतीत होता है।

यहाँ प्रथम विशेषणमें प्रयुक्त 'स्वार्थ' शब्द उस लौकिक स्वार्थका वाचक नहीं जो इन्द्रिय-विषयोंके भोगादिरूपमें प्रसिद्धि-को प्राप्त है; बल्कि स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें उस आत्मीय स्वार्थ (स्वप्रयोजन) का वाचक है जो आत्यन्तिक स्वास्थ्यरूप है—अविनाशो स्वात्मोपलब्धिके रूपमें स्थित है।

वास्तव-सर्वज्ञका अस्तित्व और लक्षण

अस्ति वास्तव-सर्वज्ञः सर्व-गीर्वाण-वन्दितः।
घातिकर्म[1]-क्षयोद्भूत-स्पष्टानन्त-चतुष्टयः ॥२॥

'सर्वदेवोंसे वन्दित वास्तव सर्वज्ञ—सब पदार्थोंका यथार्थ ज्ञाता—**कोई है और वह वह है जिसके घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ अनन्तचतुष्टय स्पष्ट होगया है**—जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका मूलतः विनाश कर अपने आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त

१. घातिकर्मक्षयादाविर्भूताऽनन्तचतुष्टयः। (आर्ष २१-१२३)

सुख और अनन्तवीर्य नामके चार महान् गुणोंको विकसित और साक्षात् किया है।'

व्याख्या—यहाँ सर्वज्ञका 'वास्तव' विशेषण खासतौरसे ध्यान देने योग्य है और वह इस बातको सूचित करता है कि संसारमें कितने ही विद्वान् अपनेको सर्वज्ञ कहने-कहलानेवाले हुए हैं तथा हैं; परन्तु वे सब वस्तुतः (असलमें) सर्वज्ञ नहीं होते, अधिकांश दम्भी, बनावटी या सर्वज्ञसे दिखाई देनेवाले सर्वज्ञाभास होते हैं; कोई ही उनमें सर्वज्ञ होता है, जिसे वास्तव-सर्वज्ञ कहना चाहिये। सबको, कहे जानेके अनुसार, सर्वज्ञ मान लेना और उनके कथनोंको सर्वज्ञकथित समझ लेना उचित नहीं; क्योंकि उनके कथनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है और सर्वज्ञोंके तात्त्विक कथनोंमें विरोध नहीं हुआ करता और न हो सकता है। तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वास्तवसर्वज्ञ किसे समझना चाहिये, जिसके कथनको प्रमाण माना जाय? उसीका स्पष्टीकरण पद्यके उत्तरार्धमें किया गया है और यह बतलाया गया है कि घातिया-कर्मोंके क्षयसे जिसके आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यरूप गुणचतुष्टय स्पष्टतया विकसित हो गया है उसे 'वास्तवसर्वज्ञ' समझना चाहिये।

सर्वज्ञके उक्त लक्षण अथवा स्वरूप-निर्देशसे एक खास बात यहाँ और फलित होती है और वह यह कि जैनधर्मकी मूल-मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ वस्तुतः अनन्तज्ञ अथवा अनन्तज्ञानी होता है—दूसरोंकी रूढ मान्यताके अनुसार निःशेष विषयोंका ज्ञाता नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वह अनन्तवीर्यसे सम्पन्न होनेके कारण अनन्तशक्तिमान् तो है, किन्तु सर्वशक्तिमान् नहीं। सर्वशक्तिमान् मानने पर उसमें जडको चेतन, चेतनको जड, भव्यको अभव्य, अभव्यको भव्य, मूर्तिकको अमूर्तिक और अमूर्तिकको

मूर्तिक बना देनेकी अथवा एक मूलद्रव्यको दूसरे मूलद्रव्यमें परिणत कर देनेकी शक्तियाँ होनी चाहियें। यदि ये सब शक्तियाँ उसमें नहीं और इसी तरह लोकाकाशसे बाहर गमन करनेको तथा छूटे हुए कर्मोंको फिरसे अपने साथ लगाकर पहले जैसी क्रियायें करनेकी भी शक्ति नहीं तो फिर सर्वशक्तिमान् कैसे? यदि अनेकानेक शक्तियोंके न होने पर भी उसे सर्वशक्तिमान् कहा जाता है तो समझना चाहिये कि 'सर्व' शब्द उसमें विवक्षित-मर्यादित अर्थको लिये हुए है—पूर्णतः व्यापक अर्थमें प्रयुक्त नहीं है। यही दशा सर्वज्ञमें 'सर्व' शब्दकी है और इसलिये सर्वज्ञ अनन्त विषयोंका ज्ञाता होते हुए भी सर्वविषयोंका ज्ञाता नहीं बनता। यह बात विशेष ऊहापोहके साथ विचारणीय हो जाती है, जिसे यहाँ विस्तार-भय से छोड़ा जाता है।

सर्वज्ञ-द्वारा द्विधा तत्त्व-प्ररूपण और तद्दृष्टि

ताप-त्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ ॥३॥

'**उस वास्तव सर्वज्ञने तीन प्रकारके तापोंसे**—जन्म, जरा (रोग) और मरणके दुःखोंसे अथवा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कष्टोंसे—**पीड़ित भव्यजीवोंके लिये शिवसुखकी प्राप्तिके अर्थ तत्त्वको हेय** (त्याज्य) **और उपादेय** (ग्राह्य) **ऐसे दो भेदरूप वर्णित किया है।**'

व्याख्या—यहाँ सर्वज्ञके तात्त्विक कथनकी दृष्टिको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि उस सर्वज्ञने तत्त्व-विषयक यह उपदेश संसारके भव्य-जीवोंको लक्ष्यमें लेकर उन्हें तापत्रयके दुःखोंसे छुड़ाकर शिवसुखकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे दिया है। सर्वज्ञका उपदेश भव्यजीवोंके द्वारा ही यथार्थ रूपमें ग्राह्य

होता है, अभव्योंके द्वारा नहीं। इसलिये भव्य-जीवोंको लक्ष्यमें लेकर वह दिया गया, ऐसा कहनेमें आता है; और उसके अनुसार आचरणसे चूँकि दुःखोंसे छुटकारा मिलता और शिवसुखतक-की प्राप्ति होती है, इसीसे इन दोनोंके उद्देश्यसे उसका दिया जाना कहा जाता है। अन्यथा, सर्वज्ञके मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे परम वीतरागभावकी प्रादुर्भूति होनेके कारण जब इच्छाका अभाव हो जाता है तब यह विकल्प ही नहीं रहता है कि मैं अमुक प्रकारके जीवोंको लक्ष्यमें लेकर और अमुक उद्देश्य से उपदेश दूँ—उनके लिये सब जीव और सबका हित समान होता है और इसलिये अमुक जीवोंको लक्ष्यमें लेकर और अमुक उद्देश्यसे उपदेश दिया गया, यह फलितार्थकी दृष्टिसे एक प्रकारकी कथन-शैली है। इससे सर्वज्ञके ऊपर किसी प्रकारकी इच्छा, राग या पक्षपातका कोई आरोप नहीं आता। उनका परम-हितोपदेशक-रूपमें परिणमन विना इच्छाके ही सब कुछ वस्तुस्थितिके अनुरूप होता है[1]।

सुखका 'शिव' विशेषण यहाँ सर्वोत्कृष्ट सुखकी दृष्टिको लिये हुए है। जिसे निःश्रेयस, निर्वाण तथा शुद्धसुख भी कहते हैं[2]। जब हेय और उपादेय तत्त्वोंकी जानकारीसे सर्वोत्कृष्ट सुख-

---

१. अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पि-कर-स्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥ (रत्नकरण्ड ८)
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुरः॥
काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्।
(स्वयम्भूस्तोत्र ७३-७४)

२. जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥ (रत्नकरण्ड १३१)

की प्राप्ति सुलभ होती है तब दूसरे अभ्युदयरूप सांसारिक सुखोंकी तो बात ही क्या है, जो कि दुःखसे मिश्रित और अस्थिर होने आदिके कारण शुद्धसुखरूप नहीं हैं। और इसलिये सांसारिक सुखके अभिलाषियोंको यह न समझ लेना चाहिये कि हेयोपादेय-तत्त्वकी जानकारी उनके लिये अनुपयोगी है। वह किसीके लिये भी अनुपयोगी न होकर सभीके लिये उपयोगी तथा कल्याणकारी है; क्योंकि वह सम्यग्ज्ञानरूप होनेसे उस रत्नत्रय धर्मका एक अङ्ग है जिसके फल निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों प्रकारके सुख हैं[1]।

तापों–दुःखोंकी कोई संख्या न होने पर भी यहाँ उनके लिये जो 'त्रय' शब्द-द्वारा तीनकी संख्याका निर्देश किया गया है वह दुःखोंके मुख्य तीन प्रकारोंका वाचक है, जिनमें सारे दुःखोंका समावेश हो जाता है।

हेयतत्त्व और तत्कारण

बन्धो निबन्धनं चाऽस्य हेयमित्युपदर्शितम्।
हेयस्याऽशेष-दुःखस्य[2] यस्माद्बीजमिदं द्वयम् ॥४॥

'(उस सर्वज्ञने) **बन्ध और उसका कारण–आस्रव, इस तत्त्व-युग्मको हेयतत्त्व बतलाया है; क्योंकि हेयरूप**—तजने योग्य—**जो सम्पूर्ण दुःख है उसका बीज यह तत्त्व-युग्म** (दो तत्त्वोंका जोड़ा) **है**—सब प्रकारके दुःखोंकी उत्पत्तिका मूलकारण है।'

---

१. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ (रत्नकरण्ड १३०)

२. मु मे हेयं स्याद्दुःख-सुखयोः।

व्याख्या—यहाँ जैनागम-प्रतिपादित सात अथवा नव तत्त्वोंमें-से आस्रव और बन्ध इन दो तत्त्वोंको हेयतत्त्व बतलाया है; क्योंकि ये दोनों तत्त्व हेयरूप जो समस्त दुःख है उसके बीजभूत हैं—इन्हींसे सारे दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। काय, वचन तथा मन-की क्रियारूप जो योग-प्रवृत्ति है उसका नाम आस्रव है[1]। वह योग-प्रवृत्ति यदि शुभ होती है तो उससे पुण्यकर्मका और अशुभ होती है तो उससे पाप कर्मका आस्रव होता है[2]। सात तत्त्वोंकी गणना अथवा प्ररूपणामें पुण्य और पाप ये दो तत्त्व आस्रवतत्त्वमें गर्भित होते हैं और नव तत्त्वोंकी गणना अथवा प्ररूपणामें उन्हें अलगसे कहा जाता है। बन्ध आस्रव-पूर्वक होता है—विना आस्रवके बन्ध बनता ही नहीं। इसीसे आस्रवको बन्धके निबन्धन—कारणरूपमें यहाँ निर्दिष्ट किया गया है।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पुण्यकर्मका आस्रव-बन्ध तो सुखका कारण है और इसलिये ये दोनों तत्त्व सुखके भी बीज हैं; तब इन्हें अशेषदुःखके ही बीज क्यों कहा गया? इसके उत्तर-में इतना ही निवेदन है कि पुण्य भी एक प्रकारका बन्धन है, जिससे आत्मामें परतन्त्रता आती है—संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है—और परतन्त्रता तथा संसार-परिभ्रमणमें वास्तविक सुख कहीं भी नहीं, आत्मा अपने स्वाभाविक सुखसे वंचित रह जाता है और उसका ठीक उपभोग नहीं कर पाता। इसीलिये आध्यात्मिक तथा निश्चयनयकी दृष्टिसे जो सुख पुण्यकर्मके फल-स्वरूप इन्द्रियों-द्वारा उपलब्ध होता अथवा ग्रहणमें आता है उसे

---

१. काय-वाङ्-मनः-कर्म योगः। स आस्रवः। (त० सू० ६-१, २)

२. शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य। (त०सू० ६-३)

वास्तविक सुख न बतलाकर दुःख ही बतलाया गया है[1]। इस आध्यात्मिक ग्रन्थका लक्ष्य भी चूँकि पूर्वपद्यानुसार शिव-सुखकी प्राप्ति कराना है, अतः इस ग्रन्थमें भी इन्द्रियजन्य सांसारिक विषय-सौख्यको अनेक दृष्टियोंसे दुःख ही प्रतिपादित किया गया है[2]।

उपादेयतत्त्व और तत्कारण

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम् ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥

'(उस सर्वज्ञने) **मोक्ष और मोक्षका कारण**—संवर-निर्जरा, **इस तत्त्वत्रयको उपादेय प्रगट किया है; क्योंकि उपादेयरूप**—ग्रहण करने योग्य—**जो सुख है वह इस तत्त्वत्रयके प्रसादसे आविर्भावको प्राप्त होगा**—अपना विकास सिद्ध करनेमें समर्थ हो सकेगा।'

व्याख्या—इस पद्यमें, उपादेय-तत्त्वका निरूपण करते हुए, यद्यपि मोक्षके साथ संवर और निर्जरा इन दो तत्त्वोंका कोई स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है फिर भी **'तत्कारणं'** पदके द्वारा मोक्षके कारणरूपमें इसी तत्त्वयुग्मका ग्रहण वांछनीय है; क्योंकि आगम-विहित सप्त अथवा नवतत्त्वोंमें इन्हींकी गणना है और

---

१. सपर बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सव्वं दुक्खमेव तहा ॥
(प्रवचनसार ७६)

२. यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्वपर-द्रव्य-संभूत तृष्णा-सन्ताप-कारणम् ॥२४३॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभ-निबन्धनम् ।
दुःखकारण-बन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥ (तत्त्वानु०)

इन दोनोंके बिना मोक्ष बन ही नहीं सकता। संवर आस्रवके निरोधको और निर्जरा संचित कर्मोंके एकदेशतः क्षयको कहते हैं[1]। जबतक ये दोनों सम्पन्न नहीं होते तब तक कर्मोंसे पूर्णतः छुटकारारूप मोक्ष कैसा? अतः मोक्ष और मोक्षके कारण संवर तथा निर्जरा ये तीनों तत्त्व उपादेय-तत्त्वकी कोटिमें स्थित हैं। इन्हींके निमित्तसे आत्मामें उपादेय-सुखका आविर्भाव होता है।

यहाँ सुखका '**उपादेय**' विशेषण और '**आविर्भविष्यति**' क्रिया-पद अपना खास महत्त्व रखते हैं। 'उपादेय' विशेषणके द्वारा उस मोक्षसुखकी सूचना करते हुए जिसे ग्रन्थके तृतीय पद्यमें 'शिवशम' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया है, उसे ही आदरणीय तथा ग्रहणके योग्य बताया है और इससे दूसरा सांसारिक विषय-सौख्य, जिसका स्वरूप पिछले पद्यके फुटनोटमें उद्धृत दो पद्योंसे स्पष्ट है, अनुपादेय, हेय अथवा उपेक्षणीय ठहरता है। प्रस्तुत मोक्षसुख घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत, स्वात्माधीन, निराबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी होता है[2], इसीलिये उपादेय है; जबकि सांसारिक सुख वैसा न होकर पराधीन, विनाशशील, दुःखसे मिश्रित, रागका वर्धक, तृष्णा-सन्तापका कारण, मोह-द्रोह-क्रोध-मान-माया-लोभका जनक और दुःखके कारणीभूत बन्धका हेतु होता है[3], और इसीलिये अनुपादेय है।

जिस मोक्ष-सुखको यहाँ उपादेय बतलाया है, वह आत्मामें कोई नवीन उत्पन्न नहीं होता और न कहीं बाहरसे आकर उसे

---

१. आस्रवनिरोधः संवरः। (त० सू० ९-१)।

एकदेश-कर्म-संक्षय-लक्षणा निर्जरा। (सर्वार्थ० १-४)

२. तत्त्वानु० २४२। ३. तत्त्वानु० २४३,२४४

प्राप्त होता है। वह वास्तवमें आत्माका निजगुण और स्वभाव है, जो कर्म-पटलोंसे आच्छादित रहता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वोंके द्वारा कर्म-पटलोंके विनाशसे वह प्रादुर्भूत एवं विकसित होता है। यही भाव 'आविर्भविष्यति' क्रियापदके द्वारा व्यक्त किया गया है।

बन्धतत्त्वका लक्षण और भेद

तत्र[1] बन्धः स्वहेतुभ्यो[2] यः संश्लेषः परस्परम् ।
जीव-कर्म-प्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥६॥

'सर्वज्ञके उस तत्त्वप्ररूपणमें जीव और कर्म पुद्गलके प्रदेशोंका जो मिथ्यात्वादि अपने बन्ध-हेतुओंसे परस्पर संश्लेष है— सम्मिलन और एकक्षेत्रावगाहरूप अवस्थान है—**उसका नाम बन्ध है और वह बन्ध** (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागके भेद-से) **चार प्रकारका प्रसिद्ध है**[3]।'

व्याख्या—यहाँ बन्धतत्त्वका जो स्वरूप दिया है, उससे मालूम होता है कि यह बन्ध जोव और कर्मके प्रदेशोंका होता है। कर्म पुद्गल है और पुद्गल द्रव्य अजोवास्तिकायोंमें परिगणित है; जैसाकि '**अजीवकाया धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलाः**' इस तत्त्वार्थ-सूत्रसे जाना जाता है। इससे जोव और अजीव ऐसे दो तत्त्व और सामने आते हैं. और इस तरह यह मालूम होता है कि मूल दो तत्त्व सात तत्त्वोंमें अथवा प्रकारान्तरसे पुण्य-पापको शामिल

---

१. जीव-कर्म-प्रदेशानां यः संश्लेषः परस्परम् ।
द्रव्यबन्धो भवेत्पुंसो भावबन्धस्सदोषता ॥ (ध्यानस्तव ५५)

२. मु मे सहेतुभ्यो ।

३. पयदि-ट्ठिदि-अणुभाग-प्पदेस-भेदा दु चदुविधो बंधो । (द्रव्यसंग्रह)

करके नौ तत्त्वोंमें बँटे हुए हैं। ये सब तत्त्व ही अध्यात्म-योगियों-के लिए मोक्षमार्गमें अथवा अपना विकास सिद्ध करनेके लिए प्रयो-जनभूत हैं।

बन्धके इस कथनमें बन्धके मूल चार भेदोंकी मात्र सूचना की गई है, उनके नाम भी नहीं दिये गये—उन्हें केवल 'प्रसिद्ध' कह-कर छोड़ दिया गया है। और यह ठीक ही है; क्योंकि बन्धके भेद-प्रभेदोंके कथनोपकथनोंसे जैनागम भरे हुए हैं। जिन्हें उनकी विशेष जानकारी प्राप्त करनी हो वे उस विषयके आगम ग्रन्थोंको देख सकते हैं। इस ग्रन्थका मुख्य विषय ध्यान होनेसे ऐसे बहु-विस्तारवाले दूसरे विषयोंकी मात्र सूचना करदी गई है, जिससे ग्रन्थसन्दर्भ सहजसुखबोध, शृंखलाबद्ध एवं सुव्यवस्थित बना रहे और किसीको मूल-विषयके परिज्ञानमें अनावश्यक विलम्ब होनेसे विषयान्तर होने-जैसी आकुलता अथवा अरुचि उत्पन्न न होवे। बन्धतत्त्वको विस्तारसे जाननेके लिये महाबन्ध, षट्खण्डा-गम, पंचसंग्रह, गोम्मटसार, कम्मपयडी, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों-को उनकी टीकाओं-सहित देखना चाहिये।

बन्धका कार्य और उसके भेद

बन्धस्य कार्यः[1] संसारः सर्व-दुःख-प्रदोऽङ्गिनाम्।
द्रव्य-क्षेत्रादि-भेदेन स चाऽनेकविधः स्मृतः ॥७॥

'बन्धतत्त्वका कार्य संसार है—भव-भ्रमण है—जोकि देह-धारी संसारी जीवोंको सब दुःखोंका देनेवाला है और वह द्रव्य-क्षेत्रादिके भेदसे—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-परिवर्तनादिके रूप-में—अनेक प्रकारका है, ऐसा सर्वज्ञके प्रवचनका जो स्मृतिशास्त्र जैनागम है उससे जाना जाता है।'

---

१. ज कार्यं

व्याख्या—यहाँ संसारका बन्धका कार्य बताया है। संसारके दो अर्थ हैं—एक विश्व अथवा जगत्, दूसरा संसरण, परिभ्रमण अथवा परिवर्तन। पहले अर्थके अनुसार यह सब दृश्य जगत् बन्धका कार्य अवश्य है; क्योंकि वह जीव-पुद्गल और पुद्गल-पुद्गलके परस्पर बन्ध-द्वारा निष्पन्न हुआ है। यदि किसीका किसी-के साथ बन्ध न हो—जीव अपने शुद्ध सिद्धस्वरूपमें स्थित हों और पुद्गल अपने परमाणुरूप शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित हों तो यह दृश्यमान जगत् कुछ बनता ही नहीं और न प्रतीतिका कोई विषय ही रहता है। दूसरे अर्थके अनुसार जीवोंका जो यह जन्म-जन्मान्तर अथवा भव-भवान्तरकी प्राप्तिरूप परिभ्रमण और नानावस्थाओंका धारण है, वह सब बन्धका ही परिणाम है। बन्धसे परतन्त्रता आती है, स्वभावमें स्थिति न होकर विभाव-परिणमन होता रहता है। यही संसार है और संसार शब्दका यह दूसरा अर्थ ही यहाँ परिग्रहीत है; क्योंकि बन्धके प्रस्तुत स्वरूपमें जीव और कर्मपुद्गलोंके संश्लेषका ही उल्लेख है, पुद्-गल-पुद्गलके संश्लेषका नहीं। इसी अर्थमें संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पंच-परिवर्तनरूप है। इन पंच परिवर्तनोंकी भी यहाँ मात्र सूचना की गई है। इनका स्वरूप भी कुछ विस्तारको लिये हुए होनेसे प्रस्तुत ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ उसकी अधिक उपयोगिता न समझकर उसे छोड़ दिया गया है।

यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि जब संसार द्रव्यादि-पंच-परावर्तनरूप है और इसलिए मूलमें प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द काल, भव तथा भावका वाचक है, तब उस संसारको '**अनेकविधः**' न कहकर '**पंचविधः**' कहना चाहिए था; ऐसा कहनेसे छंदोभंग भी कुछ नहीं बनता था? इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन है

कि '**अनेकविध:**' पदका प्रयोग संसारके पंच-परिवर्तन-रूप मूल-भेदोंके अतिरिक्त उसके अवान्तर भेदोंकी दृष्टिको भी साथमें लिये हुए है और इसलिये '**आदि**' शब्दको भी और अधिक व्यापक अर्थमें ग्रहण करना चाहिये।

बन्धके हेतु मिथ्यादर्शन आदि

स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासतः ।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥

'मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संक्षेपरूपसे बन्धके कारण हैं। बन्धके कारणरूपमें अन्य जो कुछ कथन (कहीं उपलब्ध होता) है **वह सब इन तीनोंका ही विस्ताररूप है।**

व्याख्या—यहाँ बन्धके हेतुरूपमें जिन मिथ्यादर्शनादिक-का निर्देश किया गया है वे वे ही हैं जिनको स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) के '**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि**' नामक तृतीय पद्यमें प्रयुक्त '**यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भव-पद्धतिः**' इस वाक्यके द्वारा बन्धके कार्यरूप संसारका हेतु (मार्ग) बतलाया है। बन्धका हेतु कहो चाहे संसारका हेतु कहो, दोनों-का आशय एक ही है। प्रस्तुत पद्यमें '**अन्यस्तु त्रयाणामेवविस्तरः**' यह वाक्य खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि समयसार, तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रन्थोंमें बन्ध-हेतुविषयक जो कथन कुछ भिन्न तथा विस्तृतरूपमें पाया जाता है वह सब इन्हीं तीनों हेतुओंके अन्तर्गत—इनमें समाविष्ट—अथवा इन्हीं मूल हेतुओंके विस्तारको लिए हुए है। जैसे समयसारमें एक स्थान पर मिथ्यात्व, अविरमण (अविरत) कषाय और योग

इन चारको बन्धका कारण बतलाया है; दूसरे स्थान पर इन चारोंका उल्लेख करते हुए इनमेंसे प्रत्येकके संज्ञ-असंज्ञ (चेतन-अचेतन) ऐसे दो-दो भेद करते हुए 'बहुविहभेया' पदके द्वारा बहुत भेदोंकी भी सूचना की है; तीसरे स्थान पर राग, द्वेष तथा मोहको आस्रवरूप बन्धका कारण निर्दिष्ट किया है और चौथे स्थान पर मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत-भाव और योगरूप अध्यव-सानोंको बन्धके कारण ठहराया है[1]। तत्त्वार्थसूत्रमें 'मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग इन पांचको बन्धके हेतु लिखा है[2]। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नामके वे ही चार बन्धके कारण दिये हैं जिनका उल्लेख समयसारको १०९ वीं गाथामें पाया जाता है[3]। अन्तर केवल इतना ही है कि समयसारमें जिन्हें 'बन्धकर्तार' लिखा है उन्हींको गोम्मटसारमें 'आस्रवरूप' निर्दिष्ट किया है। यह कोई वास्तविक अन्तर नहीं है; क्योंकि मिथ्यात्वादि

---

१. सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोधव्वा ॥१०९॥
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७।
तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥(समयसार)

२. मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः (त०सू०८-१०)

३. मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य आसवा होंति—गो०क०-७८६

चारों प्रत्ययोंमें बन्धत्व और आस्रवत्वकी दोनों शक्तियाँ उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार अग्निमें दाहकत्व और पाचकत्व-की दोनों शक्तियाँ पाई जाती हैं। मिथ्यात्वादि प्रत्यय प्रथम समयमें ही आस्रवके हेतु होते हैं, द्वितीय समयमें उन्हीसे बन्ध होता है और फिर आस्रव-बन्धकी परम्परा कथंचित् चलती रहती है; जैसा कि अध्यात्मकमलमार्तण्डके निम्न वाक्योंसे स्पष्ट है:—

चत्वारः प्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावास्रवो भावबन्ध-
श्चैकत्वाद्वस्तुतस्तो बत मतिरिति चेत्तन्न शक्तिद्वयात्स्यात्।
एकस्यापीह वन्हेर्दहन-पचन-भावात्म-शक्तिद्वयाद्वै
वन्हिः स्याद्दाहकश्च स्वगुणगणबलात्पाचकश्चेति सिद्धेः॥

मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवः स्युः
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित्।
नव्यानां कर्मणागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्याद्
आयत्यां स्यात्स बन्धः स्थितिमिति लयपर्यन्तमेषोऽनयोर्भित्॥

परिच्छेद ४

मिथ्यादर्शनका लक्षण

अन्यथाऽवस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम्।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥६॥

'मनुष्यों अथवा जीवोंके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे अन्य-रूपसे अवस्थित (यथावस्थित) पदार्थोंमें जो तद्भिन्नरूपसे रुचि-प्रतीति होती है वह मोह है और उसीको 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है।'

व्याख्या—यहाँ 'दृष्टिमोहोदयात्' पद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि यदि दर्शनमोह-नीय कर्मका उदय न हो तो अन्यथावस्थित पदार्थोंमें अन्यथा

रुचि-प्रतीतिके होने पर भी मिथ्यादर्शन नहीं होता। जैसे कि श्रेणिक राजाको क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे उसके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय नहीं बनता, फिर भी अपने पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के भावको उसने अन्यथारूपमें समझकर अन्यथा प्रवृत्ति कर डाली। इतने मात्रसे वह मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादर्शनको प्राप्त नहीं कहा जाता; क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनका कभी अभाव नहीं होता।

मिथ्याज्ञानका लक्षण और भेद

ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाऽधिगमो भ्रमः।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिदं[1] त्रिधा ॥१०॥

'(दर्शनमोहनीयकर्मके उदयपूर्वक अथवा संस्कारवश) **ज्ञानावरणीयकर्मके उदयसे** (यथावस्थित) **पदार्थोंमें जो उनके यथावस्थित स्वरूपसे भिन्न अन्यथा ज्ञान होता है, उसका नाम 'मिथ्याज्ञान'** है और **यह मिथ्याज्ञान संशय, भ्रम** (विपर्यय) तथा **अज्ञान** (अनध्यवसाय, **ऐसे तीन प्रकारका होता है।**'

व्याख्या—ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे अज्ञानभाव होता है और यहाँ अन्यथाज्ञानकी बात कही गई है, वह इस बातको सूचित करती है कि ज्ञानावरणीय कर्मके उदयके साथ दर्शनमोहनीय कर्मका उदय भी लगा हुआ है अथवा उसके संस्कारोंको साथमें लिये हुए है। मिथ्याज्ञान दर्शनमोहरूप चक्रवर्ती राजाका आश्रित मन्त्री है, यह बात आगे १२वें पद्यमें स्पष्ट कीगई है और इसलिए उसे मोहके संस्कारोंसे विहीन ग्रहण नहीं किया जासकता

१. मु ज्ञानमिह।

और यही कारण है कि उसके भ्रम तथा संशयको साथ लेकर तीन भेद किये गये हैं, अन्यथा वह एक भेद अज्ञानरूप ही रहता। परस्पर विरुद्ध नाना कोटियोंका स्पर्श करनेवाले ज्ञानको संशय, विपरीत एक कोटिका निश्चय करनेवाले ज्ञानको भ्रम (विपर्यय) और 'क्या है' इस आलोचनमात्र ज्ञानको अज्ञान (अनध्यवसाय) कहते हैं। यथार्थज्ञानमें ये तीनों दोष नहीं होते।

मिथ्याचारित्रका लक्षण

[1]वृत्तमोहोदयाज्जन्तोः कषाय-वश-वर्तिनः।
योग-प्रवृत्तिरशुभा[2] मिथ्याचारित्रमूचिरे[3] ॥११॥

'(दर्शनमोहनीयकर्मके उदयपूर्वक अथवा संस्कारवश) **चारित्र-मोहनीयकर्मके उदयसे कषाय-वशवर्ती हुए जीवकी जो अशुभयोग-प्रवृत्ति होती है**—काय, वचन तथा मनकी क्रिया किसी अच्छे भले-शुभकार्यमें प्रवृत्त न होकर पापबन्धके हेतुभूत बुरे एवं निन्द्य कार्योंमें प्रवृत्त होती है—**उसको 'मिथ्याचारित्र' कहा गया है।**'

व्याख्या—मोहके मुख्य दो भेद हैं——एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे जिस प्रकार मिथ्यादर्शन-की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चारित्रमोहके उदयसे मिथ्या-चारित्रकी सृष्टि बनती है। उस मिथ्याचारित्रका स्वरूप यहाँ मन-वचन-कायमेंसे किसी योग अथवा योगोंकी अशुभ-प्रवृत्ति-को बतलाया है और उसका स्वामी उस जीवको निर्दिष्ट किया है जो चारित्रमोहके उदयवश उस समय किसी भी कषाय अथवा नोकषायके वशवर्ती होता है। काय, वचन तथा मनकी क्रियारूप

---

१. मु वृत्तिमोहो। २. सि जु प्रवृत्तिमशुभां। ३. सि जु माचरे।

जो योग[1] यहाँ विवक्षित है उसके दो भेद हैं—एक शुभयोग और दूसरा अशुभयोग। शुभपरिणामोंके निमित्तसे होनेवाला योग शुभ और अशुभपरिणामोंके निमित्तसे होनेवाला योग अशुभ कहलाता[2] है। अशुभयोगकी प्रवृत्ति अशुभ होती है और उसी अशुभ प्रवृत्तिको यहाँ मिथ्याचारित्र कहा गया है। हिंसा, चोरी और मैथुनादिमें प्रवृत्त हुआ शरीर अशुभ-काययोग है। असत्य, कटुक तथा असभ्य भाषणादिके रूपमें प्रवृत्त हुआ वचन अशुभ-वाग्योग है। हिंसादिककी चिन्ता तथा ईर्ष्या-असूयादिके रूपमें प्रवृत्त हुआ मन अशुभ-मनोयोग[3] है। इस प्रकार योगोंकी यह अशुभप्रवृत्ति, जो कृत-कारित-अनुमोदनके रूपमें होती है, पापास्रवकी हेतुभूत है और इसीसे मिथ्याचारित्र कहलाती है। दूसरे शब्दोंमें मनसे, वचनसे, कायसे, करने-कराने तथा अनुमोदनाके द्वारा जो हिंसादिक पापक्रियाओंका आचरण अथवा अनुष्ठान है वह मिथ्याचारित्र है, जो सम्यग्चारित्रके उस लक्षणके विपरीत है जिसका निर्देश आगे २७वें पद्यमें किया गया है। यह सर्व कथन व्यवहारनयकी दृष्टिसे है। निश्चयनयकी दृष्टिसे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे रहित और चारित्रमोहसे अभिभूत योगोंकी शुभप्रवृत्ति भी शुभ-कर्मबन्धके हेतु मिथ्याचारित्रमें परिगणित है; क्योंकि सम्यक्-चारित्र कर्मादाननिमित्त-क्रियाके त्यागरूप होता है[4]।

---

१. काय-वाङ्-मनः-कर्म योगः। (त० सू० ६-१)

२. शुभपरिणाम-निर्वृत्तो योगः शुभः, अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाऽशुभः। (सर्वार्थ० ६-३)

३. वध-चिन्तनेर्ष्याऽसूयापरोऽशुभो मनोयोगः (सर्वार्थ० ६-२)

४. संसार-कारण-निवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्त-क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्। (सर्वार्थ० १-१)

बन्धहेतुओंमें चक्री और मन्त्री

बन्ध-हेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति[1] कीर्तितः ।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत्[2] ॥१२॥

'बन्धके सम्पूर्ण हेतुओंमें मोह चक्रवर्ती (राजा) **कहा गया है और मिथ्याज्ञान इसीके मन्त्रित्वको आश्रय किये हुए है—** मोह राजाका आश्रित मन्त्री है ।

व्याख्या—यहाँ मिथ्यादर्शनरूप मोहको चक्रवर्ती बतलाकर बन्धके हेतुओंमें उसकी सर्वोपरि प्रधानताका निर्देश किया गया है और वह ठीक ही है; क्योंकि दर्शनमोह दृष्टिविकारको उत्पन्न करता है और यह दृष्टिविकार ही ज्ञानको मिथ्याज्ञान और चारित्रको मिथ्याचारित्र बनाता है। मोहाश्रित होनेसे ज्ञान स्वतन्त्रतापूर्वक मंत्रीपदका कोई काम करने अथवा मोह-राजाको उसकी कुप्रवृत्तियोंके विरुद्ध–प्रतिकूल अच्छी भली सलाह देनेमें समर्थ नहीं होता। सदा उसके अनुकूल ही बना रहता है और इसीसे मिथ्याज्ञान नाम पाता है । मिथ्याज्ञान मोह-चक्रीका ही मंत्री है—अन्यका नहीं, यह बात '**तस्य**' पदके साथ 'एव' शब्दके प्रयोग-द्वारा सूचित की गई है ।

मोहचक्रीके सेनापति ममकार-अहंकार

ममाऽहंकार-नामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।
यदायत्तः सुदुर्भेदः मोह-व्यूहः प्रवर्तते ॥१३॥

'उस मोहके जो दो पुत्र 'ममकार' और 'अहंकार' नामके हैं वे दोनों उस मोहके सेनानायक हैं, जिनके अधीन मोहव्यूह—

---

१. मु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः । २. मु शिश्रियन् ।

मोहचक्रीका सैन्यसंनिवेश—**बहुत ही दुर्भेद बना हुआ है।'**

व्याख्या—मोहके गढ़को यदि जीतना है तो ममकार और अहंकारको पहले जीतना परमावश्यक है। इनके कारण ही मोह शत्रु दुर्जय बना हुआ है और वह संसारी प्राणियोंको अपने चक्कर-में फँसाता, बाँधता और दुःख देता रहता है।

ममकार और अहंकार दोनों भाई एक-दूसरेके पोषक हैं। इनका स्वरूप अगले पद्योंमें बतलाया गया है और साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि कैसे इनके चक्रव्यूहमें फँस कर यह जीव संसार-परिभ्रमण करता रहता है।

ममकारका लक्षण

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनु-प्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाऽभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥१४॥

'सदा अनात्मीय—आत्मस्वरूपसे बहिर्भूत—**ऐसे कर्मजनित स्वशरीरादिकमें जो आत्मीय अभिनिवेश है**—उन्हें अपने आत्म-जन्य समझने रूप जो अज्ञानभाव है—**उसका नाम 'ममकार' है; जैसे मेरा शरीर।'**

व्याख्या—जो कभी आत्मीय नहीं, आत्मद्रव्यसे जिनकी उत्पत्ति नहीं और न आत्माके साथ जिनका अविनाभाव-जैसा कोई गाढ सम्बन्ध है; प्रत्युत इसके जो कर्मनिर्मित हैं, आत्मासे भिन्न-स्वभाव रखनेवाले पुद्गल परमाणुओं-द्वारा रचे गये हैं; ऐसे परपदार्थोंको जो अपना मान लेना है उसका नाम 'ममकार' है; जैसे यह मेरा शरीर, यह मेरा घर, यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री और यह मेरा धन इत्यादि। क्योंकि ये सब वस्तुएँ वस्तुतः आत्मीय नहीं, आत्माधीन नहीं, अपने-अपने कारण-कलापके

अधीन हैं, अपने आत्मद्रव्यसे भिन्न हैं और स्पष्ट भिन्न होती हुई दिखाई पड़ती हैं। शरीर आदिके भिन्न होते समय आत्माका उन पर कोई वश नहीं चलता; जबकि वस्तुतः आत्मीय होने पर उन्हें आत्माधीन होना और सदा आत्माके साथ रहना चाहिए था।

यह सब कथन अगले पद्यमें प्रयुक्त हुए **'परमार्थनयेन'** पदकी अपेक्षा रखता हुआ निश्चयनयकी दृष्टिसे है। व्यवहारनयकी दृष्टिसे मेरा शरीरादि कहनेमें जरूर आता है; परन्तु जो व्यवहार निश्चयनयके ज्ञानसे बहिर्भूत है, निश्चयकी अपेक्षा न रखता हुआ कोरा व्यवहार है अथवा व्यवहारको ही निश्चय समझ लेनेके रूपमें है वह भारी भूलभरा तथा वस्तुतत्त्वके विपर्यासको लिए हुए है। प्रायः ऐसा ही हो रहा है और इसीलिए निश्चयनयकी दृष्टिको स्पष्ट करनेकी जरूरत होती है। इस व्यावहारिक ममतारूपी घोर अन्धकारके वश जिसके ज्ञानकी स्थिति अस्तव्यस्त हो रही है ऐसा प्राणो सच्चे सुखस्वरूप अपने हित-साधनमें दूर भागता रहता है; जैसा कि श्री अमितगति आचार्यने अपने निम्न वाक्यमें व्यक्त किया है—

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बान्धवा मेऽङ्गजाः
तातो मे मम सम्पदो मम सुखं मे सज्जनाः मे जनाः।
इत्थं घोरममत्व-तामस-वश-व्यस्ताऽस्तबोधस्थितिः
शर्माधान-विधानतः स्वहिततः प्राणी सनोत्रस्यते॥

—तत्त्वभावना २५

अहंकारका लक्षण

ये कर्म-कृता भावा परमार्थ-नयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्राऽऽत्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः॥१५॥

'कर्मोंके द्वारा निर्मित जो पर्यायें हैं और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उनमें आत्माका जो मिथ्या आरोप है—उन्हें आत्मा समझनेरूप अज्ञानभाव है—**उसका नाम 'अहंकार' है; जैसे मैं राजा हूँ।'**

व्याख्या—यहाँ परमार्थनयका अर्थ निश्चयनयसे है, जिसे द्रव्यार्थिक नय भी कहा गया है, उसकी दृष्टिसे जितनी भी कर्मकृत पर्यायें हैं वे सब आत्मासे भिन्न हैं—आत्मरूप नहीं हैं—उन्हें आत्मरूप समझ लेना ही अहंकार है; जैसे मैं राजा, मैं रंक, मैं गोरा, मैं काला, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं उच्च, मैं नीच, मैं सुरूप, मैं कुरूप, मैं पंडित, मैं मूर्ख, मैं रोगी, मैं नीरोगी, मैं सुखी, मैं दुखी, मैं मनुष्य, मैं पशु, मैं निर्बल, मैं सबल, मैं बालक, मैं युवा, मैं वृद्ध इत्यादि। ये सब निश्चयनयसे आत्माके रूप नहीं, इन्हें दृष्टि-विकारके वश आत्मरूप मान लेना अहंकार है। यह कर्म-कृत-पर्यायको आत्मा मान लेने रूप अहंकारकी एक व्यापक परिभाषा है। इसमें किसी पर्याय-विशेषको लेकर गर्व अथवा मदरूप जो अहंभाव है वह सब शामिल है। निश्चय-सापेक्ष्य व्यवहारनयकी दृष्टिसे अपनेको राजादिक कहा जा सकता है; परन्तु व्यवहार-निरपेक्ष निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्माको राजादिक मानना अहंकार है। इसी तरह देहको आत्मा मान लेना भी अहंकार है।

ममकार और अहंकारमें मोह-व्यूहका सृष्टि-क्रम

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकार-संभवः ।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु[1] जायते ॥१६॥

'मिथ्याज्ञान-युक्त मोहसे जीवके ममकार और अहंकार-

---

१. ज द्वेषश्च

का जन्म होता है और इन दोनोंसे (ममकार-अहंकारसे) **राग तथा द्वेष उत्पन्न होता है।'**

व्याख्या—यहाँ ममकार और अहंकारको राग-द्वेषका जो जनक बतलाया गया है उसका यह आशय नहीं कि दोनों मिलकर राग-द्वेष उत्पन्न करते हैं या एक रागको तथा दूसरा द्वेषको उत्पन्न करता है; बल्कि यह आशय है कि दोनों अलग-अलग राग-द्वेषके उत्पादक हैं—ममकारसे जिस प्रकार रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अहंकारसे भी होती है।

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥१७॥

'फिर उन (राग-द्वेष) **दोनों से कषायें**—क्रोध, मान, माया, लोभ—**और नोकषायें**—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा काम-वासनायें—**उत्पन्न होती हैं, जोकि रागद्वेषरूप हैं। उन कषायों तथा नोकषायोंसे योग प्रवृत्त होते हैं**—मन, वचन तथा कायकी क्रियायें बनती हैं—**और उन योगोंके प्रवर्तनसे प्राणि-वधादिरूप हिंसादिक कार्य होते हैं।'**

व्याख्या—माया, लोभ, हास्य, रति और स्त्री-पुरुषादि-वेद-रूप काम-वासनाएँ ये पाँच (दो कषायें तथा तीन नोकषायें) राग-रूप हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) ये छह (दो कषायें तथा चार नोकषायें) द्वेषरूप हैं[1]। मन-वचन-कायकी क्रियारूप योगोंकी प्रवृत्ति शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकारकी होती है। शुभयोगप्रवृत्तिके द्वारा अच्छे-पुण्य-कार्य और अशुभयोगप्रवृत्तिके द्वारा बुरे-पापकार्य होते

१. रागः प्रेमरतिर्माया लोभं हास्यं च पंचधा।
मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादि षट् ॥ (अध्यात्मरहस्य २७)

हैं और इसलिए **'प्राणिवधादयः'** पदमें प्रयुक्त हुआ **बहु-वचनान्त आदि'** शब्द जहाँ झूठ, चोरी, मैथुन-कुशील और परिग्रह जैसे पापकार्योंका वाचक है वहाँ अहिंसा-दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-जैसे पुण्यकार्योंका भी वाचक है।

तेभ्यः[1] कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगति-दुर्गती ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥१८॥

'उन प्राणिवधादिक कार्योंसे कर्म बँधते हैं—जिनके शुभ तथा अशुभ ऐसे दो भेद हैं। **कर्मोंके बन्धनसे सुगति तथा दुर्गति-की प्राप्ति होती है**—अच्छे-शुभ कर्मोंके बन्धनसे (देव तथा मनुष्य भवकी प्राप्तिरूप) सुगति और बुरे-अशुभ कर्मोंके बन्धन-से (नरक तथा तिर्यंचयोनिरूप) दुर्गति मिलती है। **कर्मोंके वश उस सुगति या दुर्गतिमें जहाँ भी जीवको जाना होता है वहाँ शरीर उत्पन्न होते हैं और शरीरोंके साथ सहज ही इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं**—चाहे उनकी संख्या एक शरीरमें कमसे कम एक ही क्यों न हो।

व्याख्या—यहाँ जिन कर्मोंके बन्धनेका उल्लेख है, उनकी ज्ञानावरणादिरूप मूलप्रकृतियाँ आठ, मतिज्ञानावरणादिरूप उत्तरप्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस और फिर मतिज्ञानावरणा-दिके भेद-प्रभेद होकर उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इन सब कर्मप्रकृतियोंमें कुछ शुभरूप हैं, जिन्हें पुण्यप्रकृतियाँ कहते हैं, और

---

१. जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि-सुगदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देही देहादो इंदियाणि जायंते ॥१२९॥
—पंचास्तिकाय

शेष अशुभरूप हैं, जिन्हें पापप्रकृतियाँ कहते हैं। इन सब कर्मोंका, कर्मोंसे होनेवाली चार प्रकारकी गतियोंका, गतियोंमें प्राप्त होनेवाले औदारिक-वैक्रियकादि पंच प्रकारके शरीरोंका और शरीरोंके साथ सम्बद्ध स्पर्शन-रसनादि पाँच प्रकारकी इन्द्रियों-का स्वरूपादि-विषयक विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थसूत्र, उसके टीका-ग्रन्थ, षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह और गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

[1]तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते।
ततो बद्धो[2] भ्रमत्येव मोह-व्यूह-गतः पुमान् ॥१६॥

'उन इन्द्रियोंके विषयोंको इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण करता हुआ जीव राग करता है, द्वेष करता है तथा मोहको प्राप्त होता है और इन राग-द्वेष-मोहरूप प्रवृत्तियों-द्वारा नये बन्ध-नोंसे बँधता है। इस तरह मोहकी सेनासे घिरा तथा उसके चक्कर-में फँसा हुआ यह जीव भ्रमण करता ही रहता है।'

व्याख्या—यह उस कथनका उपसंहार-पद्य है जिसकी सूचना तेरहवें पद्यमें 'मोह-व्यूहको सुदुर्भेद बतलाते हुए' की गई थी। ममकार और अहंकारसे जिन राग-द्वेषकी उत्पत्ति हुई थी वे अपनेसे अनेक कर्मबन्धनोंको उत्पन्न करते हुए फिर यहाँ आगये हैं और यहाँसे फिर नये कर्मचक्रको सृष्टि शुरू हो गई है। इस तरह कर्मके चक्करसे यह जीव निकलने नहीं पाता—उसी की भूलभुलैयाँमें फँसा हुआ बराबर उस वक्त तक संसार-परिभ्रमण करता रहता है जब तक कि उसका दृष्टिविकार

---

१. तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२६॥
जायदि जीवस्सेदं भावो संसार-चक्कवालम्मि ॥१३०॥ (पंचास्ति०)

२. मु मे बंधो।

मिटकर उसे यह सूझ नहीं पड़ता कि ये मोहादिक–मिथ्यादर्शनादिक–संसार-परिभ्रमणके हेतुरूप मेरे शत्रु हैं और इनके फन्देसे छूटनेका कोई उद्यम नहीं करता।

मुख्य बन्धहेतुओंके विनाशार्थ प्रेरणा

तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः।
ममाऽहंकारयोश्चात्मन्! विनाशाय कुरूद्यमम् ॥२०॥

'**अतः हे आत्मन्!** (यदि तू इस भव-भ्रमणसे छूटना चाहता है तो) **इस मिथ्यादर्शनरूप मोहके, भ्रमादिरूप मिथ्याज्ञानके और ममकार तथा अहंकारके, जोकि तेरे शत्रु हैं, विनाशके लिये उद्यम कर।**'

व्याख्या—यहाँ मोह, मिथ्याज्ञान, ममकार और अहंकार इन चारोंको आत्माका शत्रु बतलाया गया है; क्योंकि ये आत्माका अहित करते हैं—उसके गुणोंका घात करके आत्मविकासको रोकते है। इसीसे इनके विनाशके लिए यहाँ उद्यम करनेकी प्रेरणा की गई है; और इससे यह स्पष्ट है कि इन शत्रुओंका नाश विना उद्यम, प्रयत्न अथवा पुरुषार्थके अपने आप नहीं होगा। यथेष्ट पुरुषार्थके अभावमें इनकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। अतः इनका मूलोच्छेद करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थकी अत्यन्त आवश्यकता है। उस पुरुषार्थके बन आनेपर इनका विनाश अवश्यंभावी है।

मुख्य बन्ध-हेतुओंके विनाशका फल

बन्ध-हेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव।
शेषोऽपि राग[1] द्वेषादिर्बन्ध-हेतुर्विनंक्ष्यति[2] ॥२१॥

---

१. सि जु शेषो राग। २. मु विनश्यति।

'(हे आत्मन् !) **बन्धके मुख्य कारणों**—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और ममकार-अहंकाररूप मिथ्याचारित्र—**के क्रमशः नष्ट होने पर तेरे राग-द्वेषादिरूप शेष जो बन्धका हेतु**—कारण-कलाप—**है वह सब भी नाशको प्राप्तहो जायगा।**'

व्याख्या—पूर्वकारिकामें जिन मोहादिकको आत्माका शत्रु बतलाया गया है और जिनके विनाशार्थ खासतौरसे पुरुषार्थकी प्रेरणा कीगई है, उन्हें आचार्यमहोदयने यहाँ बन्धके कारणोंमें प्रधानकारण प्रतिपादित किया है और साथ ही आत्माको यह आश्वासन दिया है कि तुझे बन्धनबद्ध करनेवाले इन प्रमुख शत्रुओंके नष्ट होजानेपर शेष बन्धकारक जो राग-द्वेषादिरूप शत्रसमूह है वह भी नाशको प्राप्त होजायगा—उसके विनष्ट होनेमें फिर अधिक विलम्ब तथा पुरुषार्थकी अपेक्षा नहीं रहेगी; क्योंकि ममकारसे रागकी और अहंकारसे द्वेषकी उत्पत्ति होती है। जब ममकार और अहंकार ही नष्ट होगये, तब राग और द्वेषकी परम्परा कहाँसे चलेगी ? राग-द्वेषके अभावमें क्रोधादि-कषायें तथा हास्यादि नोकषायें स्थिर नहीं रह सकेंगी; क्योंकि रागसे लोभ-माया नामक कषायोंकी तथा हास्य, रति, काम-भोगरूप नोकषायोंकी उत्पत्ति होती है और द्वेषसे क्रोध-मान नामक कषायोंकी तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सारूप नोकषायोंकी उत्पत्ति होती है। कषाय-नोकषायके अभावमें मन-वचन-कायकी क्रियारूप योगोंकी प्रवृत्ति नहीं बनती। योगोंकी प्रवृत्तिके न बननेपर कर्मोंका आस्रव नहीं बनता, जिसे बन्धका निबन्धन कहा गया है। और जब कर्मोंका आस्रव ही नहीं बनेगा, तब बन्धन किसके साथ होगा ? किसीकेभी साथ वह नहीं बनसकेगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि बन्धके उक्त मुख्य हेतुओंका विनाश होनेपर बन्धके शेष सभी हेतुओंका नाश होना अवश्यंभावी है।

इसीसे आचार्यमहोदयने उनके सह-नाशका आश्वासन दिया है और इस आश्वासनके द्वारा मुमुक्षुको उन प्रमुख शत्रुओंके प्रथमत: विनाशके लिये प्रोत्साहित किया है।

यहाँ प्रयुक्त हुआ '**क्रमशः**' शब्द अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि इन मोह, मिथ्याज्ञान, ममकार और अहंकारका विनाश क्रमशः होता है। ऐसा नहीं कि दृष्टिविकाररूप मोह तो बना रहे और मिथ्याज्ञानका अभाव होजाय अथवा मोह और मिथ्याज्ञान दोनों बने रहें किन्तु ममकार छूट जाय या ममकार भी बनारहे और अहंकार छूट जाय। पूर्व-पूर्वके विनाशपर उत्तरोत्तरका विनाश अवलम्बित है।

समस्त बन्धहेतुओंके विनाशका फल

ततस्त्वं बन्ध-हेतूनां समस्तानां विनाशतः।
बन्ध-प्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यति संसृतौ ॥२२॥

'तत्पश्चात् राग-द्वेषादिरूप बन्धके शेष कारणकलापके भी नाश हो जाने पर (हे आत्मन्!) **तू सारे ही कारणोंके विनाशसे और** (फलत:) **बन्धनके भी विनाशसे मुक्त हुआ** (फिर) **संसारमें भ्रमण नहीं करेगा।'**

व्याख्या—यहाँ पर पूव पद्यमें दिये हुए आश्वासनको और आगे बढ़ाया गया है और यह कहा गया है कि जब उपर्युक्त प्रकारसे सारे बन्ध-हेतुओंका अभाव हो जायगा, तब बन्धका भी अभाव होजायगा; क्योंकि कारणके अभावमें कार्यका अस्तित्व नहीं बनता। जब बन्धका पूर्णतः विनाश हो जायगा, तब हे आत्मन्! तू बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जायगा और इस तरह संसार-परिभ्रमणसे अथवा संसारके सारे दु:खोंसे छूट जायगा; क्योंकि बन्धका कार्यही संसार-परिभ्रमण है, जिसे सारे दु:खों-

का दाता बतलाया गया है[1]।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि बन्धके हेतुओंका विनाश कैसे किया जाय ?—किस उपाय अथवा कौनसे पुरुषार्थको उसकेलिये काममें लाया जाय ? इसके उत्तरमें आचार्यमहोदय कहते हैं:—

बन्ध-हेतु-विनाशार्थ मोक्ष-हेतु-परिग्रह

बन्धहेतु-विनाशस्तु मोक्षहेतु-परिग्रहात् ।
परस्पर-विरुद्धत्वाच्छीतोष्ण-स्पर्शवत्तयोः ॥२३॥

'बन्धके कारणोंका विनाश तब बनता है जब कि मोक्षके कारणोंका आश्रय लिया जाता है; क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों-के कारण उसीतरह एकदूसरेके विरुद्ध हैं जिसतरह कि शीतस्पर्श उष्णस्पर्शके विरुद्ध है—शीतको दूर करनेके लिये जिस प्रकार उष्णताके कारण और उष्णताको दूर करनेके लिये शीतके कारण मिलाये जाते हैं, उसी प्रकार बन्धके कारणोंको दूर करनेके लिये मोक्षके कारणोंका मिलाना आवश्यक है।'

व्याख्या—यहाँ संक्षेपमें उस उपाय, मार्ग अथवा पुरुषार्थको सूचना की गई है जिससे बन्ध-हेतुओंका विनाश सधता है, और वह है मोक्ष-हेतुका परिग्रहण—मोक्ष-मार्गका सम्यक् अनुसरण। क्योंकि मोक्ष-हेतु बन्ध-हेतुका प्रबल विरोधी है अतः उसको अप-नानेसे बन्ध-हेतुका सहज ही विनाश हो जाता है।

अब उस मोक्ष-हेतुका क्या रूप है, उसे बतलाया जाता है:—

मोक्षहेतुका लक्षण सम्यग्दर्शनादि-त्रयात्मक

स्यात्सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयात्मकः ।
मुक्ति-हेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरा-संवर-क्रियः[2] ॥२४॥

---

१. तत्त्वानुशासन ७।
२. मु क्रियाः, मे क्रिया।

'सर्वज्ञ-जिनके द्वारा स्वयंका अनुभूत एवं उपदिष्ट मुक्ति-हेतु (मोक्षमार्ग) **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ऐसे त्रितयात्मक है** —इन तीनोंको आत्मसात् किये हुए इन रूप है— **और निर्जरा तथा संवर उसकी फलव्यापारपरक क्रियायें हैं**— वह इन दोनों रूप परिणमता हुआ मोक्षफलको फलता है।'

व्याख्या—यहाँ '**त्रितयात्मक:**' पद और '**मुक्तिहेतु:**' पदका एकवचनमें निर्देश खासतौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और दोनों पद इस बातको सूचित करते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये अलग-अलग मोक्षके तीन हेतु अथवा मार्ग नहीं हैं; बल्कि तीनों मिलकर मोक्षका एक अद्वितीय मार्ग बनाते हैं। यही बात मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:**' इस प्रथम सूत्रमें निर्दिष्ट हुई है। मुक्तिहेतुका '**निर्जरा-संवर-क्रिय:**' यह विशेषणपद और भी अधिक ध्यान देने योग्य है और वह इस बातको सूचित करता है कि बन्धनसे छूट कर मुक्तिको प्राप्त करना केवल पूर्वबन्धनोंकी नष्टिरूप निर्जरासे ही नहीं बनता, बल्कि नये बन्धनोंको रोकनेरूप संवरको भी साथमे अपेक्षा रखता है। सम्यग्दर्शनादिका व्यापार निर्जरा और संवर दोनों रूपमें होता है और तभी वे मोक्षफलको प्राप्त करानेमें समर्थ होते हैं।

सम्यग्दर्शनका लक्षण

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिता:।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतम् ॥२५॥

'**जीवादिक जो नौ पदार्थ**—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप नामके—**हैं उन्हें जिस प्रकारसे**

सर्वज्ञ-जिनने निर्दिष्ट किया है वे उसी प्रकारसे स्थित हैं—अन्यथा रूपसे नहीं—ऐसी जो श्रद्धा, रुचि अथवा प्रतीति है, उसका नाम 'सम्यग्दर्शन' है।'

व्याख्या—यहाँ 'अर्थ' शब्दके द्वारा जिन पदार्थोंका ग्रहण विवक्षित है, उन्हें अन्यत्र समयसारादि आगम-ग्रन्थोंमें 'तत्त्व' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट किया है। तत्त्व, अर्थ और पदार्थ इन तीनोंको एक ही अर्थके वाचक समझना चाहिये। इनकी मूलसंख्या प्रायः नौ रूढ[1] है। इसीसे उक्त संख्याके अनुसार ९ नाम ऊपर दिये गये हैं। तत्त्वार्थसूत्रादि कुछ मूल-ग्रन्थोंमें तत्त्वोंकी संख्या सात दी है[2]। उनमें पुण्य तथा पापको आस्रव-तत्त्वमें संग्रहीत किया है। अतः जिनभाषित तत्त्वों या पदार्थोंकी श्रद्धा-दृष्टिसे इस संख्या-भेदके कारण सम्यग्दर्शनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। '**सम्यग्दर्शन**' पदमें प्रयुक्त हुआ '**दर्शन**' शब्द यहाँ श्रद्धाका वाचक है—चक्षुदर्शनादिरूप दृष्टिका वाचक नहीं—जैसे कि '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**' इस सूत्रमें प्रयुक्त हुआ 'दर्शन' शब्द श्रद्धानका वाचक है।

इन जीवादि पदार्थोंका उनके भेद-प्रभेदों-सहित जैसा कुछ स्वरूप-निर्देश जिनागमोंमें किया गया है, उस सबका वैसा ही अविरोधरूप श्रद्धान यहाँ विवक्षित है; क्योंकि '**नाऽन्यथावादिनो जिनाः**' की उक्तिके अनुसार वीतराग सर्वज्ञ-जिन अन्यथावादी नहीं होते और इसलिये उनके कथन-विरुद्ध जो श्रद्धान है वह अतत्त्व-श्रद्धान होनेसे सम्यग्दर्शनकी कोटिसे निकल जाता है। जो जिन-भाषित होता है, वह युक्ति तथा आगमसे अविरोधरूप

---

१. जीवाऽजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥ (पंचास्ति० १०८)

२. जीवाऽजीवाऽस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् (त० सू० १-४)

होता है, यही उसकी प्रमुख कसौटी है। संदिग्धावस्थामें इस कसौटी पर उसे कस लेना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानका लक्षण

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते ॥२६॥

'(जिनभाषित) **जीवादि पदार्थोंमें जो प्रमाणों, नयों और निक्षेपोंके द्वारा याथात्म्यरूपसे निश्चय होता है उसको 'सम्यग्ज्ञान' माना गया है।'**

व्याख्या—प्रमाणोंके प्रत्यक्ष-परोक्षादिके विकल्पसे अनेक भेद हैं। नयोंके भी निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और नैगम-संग्रहादिके विकल्पसे अनेक भेद हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे निक्षेप चार प्रकारके हैं। ये सब प्रमाणादिक पदार्थों की यथार्थताके निश्चायक हैं। इनके द्वारा पदार्थों के स्वरूपादि-निर्धारण अथवा निश्चयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इन प्रमाणों, नयों तथा निक्षेपोंके भेद-प्रभेदों और उनके स्वरूपादिकी जानकारीके लिये तत्त्वार्थसूत्रके टीकादि-ग्रन्थों तथा अन्य तत्त्व-ज्ञान-विषयक जैनग्रन्थोंको देखना चाहिये।

सम्यक्चारित्रका लक्षण

चेतसा वचसा तन्वा कृताऽनुमत-कारितैः।
पाप-क्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषन्ति तत्॥२७॥

'मनसे, वचनसे, कायसे कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा जो पापरूप क्रियाओंका त्याग है उसको 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं।'

व्याख्या—पापरूप क्रियाओंके करने का मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग; पापरूप क्रियाओंके करानेका मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग; पापरूप क्रियाओंके दूसरों-

द्वारा किये-कराये जाने पर उनके अनुमोदनका मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग; इस तरह पापक्रियाओंका जो नव प्रकार-से त्याग है उसका नाम सम्यक्चारित्र है।

यहाँ सम्यक्चारित्रका यह लक्षण पापक्रियाओंके त्यागरूप होनेसे निषेधपरक (निवृत्त्यात्मक) है और निषेधका विधिके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ त्याग होता है वहाँ कुछ ग्रहण भी होता है और वह ग्रहण त्याज्यके प्रतिपक्षीका होता है। पाप-क्रियाओंकी प्रतिपक्षी-क्रियायें धर्मक्रियायें हैं, उनका ग्रहण अथवा अनुष्ठान पापक्रियाओंके त्यागके साथ अवश्यंभावी है और इसलिये उनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे सच्चारित्रका विधि-परक (प्रवृत्त्यात्मक) लक्षण भी यहाँ फलित होता है और वह यह कि—'मनसे, वचनसे तथा कायसे कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा जो (पापविनाशक) धर्मक्रियाओंका अनुष्ठान है, उसका नाम भी सम्यक्चारित्र है।

मोक्षहेतुके नयदृष्टिसे भेद और उनकी स्थिति

[1]मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः[2]।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२८॥

'पूर्वोक्त मुक्ति-हेतु—मोक्षमार्ग—निश्चयनय और व्यवहार-नयके भेदसे पुनः दो प्रकार है, जिनमें पहला निश्चय मोक्षमार्ग-साध्यरूप है और दूसरा व्यवहार-मोक्षमार्ग उस निश्चयमोक्षमार्ग-का साधन है।'

व्याख्या—यहाँ मोक्षमार्गके दो नयदृष्टियोंसे दो भेद करके एक-को साध्य और दूसरेको साधन प्रतिपादित किया गया है और इससे

---

१. निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
—तत्त्वार्थसारे, अमृतचन्द्रः

२. मु निश्चयव्यवहारतः।

यह स्पष्ट है कि व्यवहार-मोक्षमार्ग साधन होनेसे निश्चय-मोक्षमार्गकी सिद्धिके पूर्व क्षण तक अनुपादेय नहीं है, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि कोठे पर चढ़नेको सीढ़ी कोठेके ऊपर पहुँचनेसे पहले तक अनुपादेय नहीं होती—कोठेकी छतके अत्यन्त निकट पहुँच जाने पर और वहाँ पैर जम जाने पर भले ही वह अनुपादेय अथवा त्याज्य हो जाय।

निश्चय-व्यवहार-नयोंका स्वरूप

[1]अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि-विषयो निश्चयो नयः।
व्यवहार-नयो भिन्न-कर्तृ-कर्मादि-गोचरः ॥२९॥

'**निश्चयनय अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक** होता है—उसमें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणका व्यक्तित्त्व एक दूसरेसे भिन्न नहीं होता। **व्यवहारनय भिन्न कर्तृ-कर्मादि विषयक है**—उसमें कर्ता, कर्म,करणादि का व्यक्तित्त्व एक दूसरेसे भिन्न होता है—यही इन दोनों नयोंमें मुख्य भेद है।'

व्याख्या—दोनों नयोंके इस स्वरूप-कथनसे निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गके अंगभूत जो सम्यग्दर्शनादिक हैं उनके कर्ता-कर्मादिका विषय स्पष्ट सूचित होता है—एकमें वह मुमुक्षुके अपने आत्मासे भिन्न नहीं होता और दूसरेमें उससे भिन्न होता है।

आगे तीन पद्योंमें व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके मोक्षमार्गोंका अलग-अलग स्वरूप दिया जाता है:—

---

१. अभिन्न-कर्तृकर्मादि-गोचरो निश्चयोऽथवा।
व्यवहारः पुनर्देव ! निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥
—ध्यानस्तव ७१

व्यवहार-मोक्ष-मार्ग

'धर्मादि-श्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्[2]।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयम् ॥३०॥

'**धर्म आदिका**—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल इन छह द्रव्योंका तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थों या तत्त्वोंका—**जो श्रद्धान वह 'सम्यक्त्व'** (सम्यग्दर्शन), **उन द्रव्यों तथा तत्त्वोंका जो अधिगम**—अधिकृतरूपसे अथवा सविशेषरूपसे जानना—**वह 'सम्यग्ज्ञान', और तपमें**—इच्छाके निरोधमें—**जो चर्या-प्रवृत्ति वह 'सम्यक्चारित्र' है।** इस प्रकार यह व्यवहारनयकी दृष्टिसे मुक्तिका हेतु है—व्यवहार-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है।'

व्याख्या—प्रकरण और ग्रन्थ-सन्दर्भकी दृष्टिसे इस पद्यमें प्रयुक्त हुआ '**सम्यक्त्वं**' पद सम्यग्दर्शनका, '**ज्ञानं**' पद सम्यग्ज्ञान का और '**चरण**' पद सम्यक्चारित्रका वाचक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप इससे पहले प्रस्तुत ग्रन्थ (२५, २६, २७) में दिया जा चुका है। यहाँ उन्हींका स्वरूप कुछ भिन्नताको लिए हुए जान पड़ता है। वहाँ जीवादि नव पदार्थोंके यथा-जिनभाषितरूपसे श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है और यहाँ मात्र धर्मादिकके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कह दिया है; वहाँ उन नव पदार्थोंके प्रमाण-नय-निक्षेपोंद्वारा सम्यक्निश्चयको सम्यग्ज्ञान बतलाया गया है तो यहाँ धर्मादिकके मात्र अधिगमको सम्यग्ज्ञान कह दिया है; और वहाँ मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदनासे पापकी क्रियाओंके त्यागको सम्यक्चारित्र

---

१. धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वादि।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥ (पंचा० १६०)

२. तेसिमधिगमो णाणं। (पंचा० १०७, समय० १५५)

निर्दिष्ट किया है तो यहाँ केवल तपको चेष्टाको ही चारित्र बतला दिया है। इस भेदका क्या कारण है? यह यहाँ विचारणीय है। जहाँ तक मैंने विचार किया है, पूर्व तीन पद्यों (२५, २६,२७) का कथन सम्यग्दर्शनादिके लक्षण-स्वरूप-निर्देशकी दृष्टिको लिए हुए है और यहाँ पर उस दृष्टिको छोड़कर उनके सामान्य-स्वरूपकी मात्र सूचना की गई है। पापक्रियाओंका जो त्याग है वह एक प्रकारसे इच्छाके निरोधरूप तप ही है। फिर भी **'जीवादिश्रद्धानं'** के स्थान पर **'धर्मादिश्रद्धानं'** का जो पद है वह कुछ खटकता जरूर है; परन्तु यह खटक उस वक्त मिट जाती है जब हम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी पंचास्तिकायगत उस गाथाको देखते हैं जो पिछले फुटनोटमें उद्‌धृत है। वस्तुतः दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, अजीवके कथनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका कथन आजाता है। इसके सिवाय, स्वयं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने सम्यक्त्वादिका स्वरूप **'जीवादी सद्दहणं'** रूपसे भी दिया है, जैसा कि प्रवचनसारकी निम्न गाथासे प्रकट है:—

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं[1] तेसिमधिगमो णाणं।
रायादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

निश्चय-मोक्ष-मार्ग

[2]निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभियः समाहितो भिक्षुः।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुंचति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥

'इन तीनों व्यवहारसम्यग्दर्शनादिसे भले प्रकार युक्त जो भिक्षु—साधु जब न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोड़ता है तब

१. 'जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं', वाक्य दंसणपाहुडमें भी दिया है।

२. णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति (पंचा० १६१)

वह निश्चयनयसे मुक्ति हेतुरूप होता है—स्वयं मोक्षमार्गरूप परिणमता है।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयसे उस साधुको मोक्षमार्गरूप बतलाया है जो इन सम्यग्दर्शनादिसे युक्त हुआ ग्रहण और त्यागकी प्रवृत्तिको छोड़ देता है। जबतक आत्मासे भिन्न परपदार्थोंमें ग्रहण-त्यागकी बुद्धि तथा प्रवृत्ति बनी रहती है तबतक आत्मामें सम्यक्-स्थितिरूप मोक्षकी साधना नहीं बनती। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय)रूप परिणत हुआ अपना आत्मा ही मोक्षमार्ग है[1]।

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्याऽऽत्मा।
दृगवगमचरणरूपः स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति हि जिनोक्तिः[2] ॥३२॥

'जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा मध्यस्थ भावको प्राप्त हुआ आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामें देखता और जानता है वह निश्चयनयसे (स्वयं) मुक्तिका हेतु है, ऐसी सर्वज्ञ-जिनकी उक्ति—वाणी है।'

व्याख्या—वास्तवमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत वह आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे मोक्षमार्ग है जो रागद्वेषसे रहित हुआ अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें देखता और जानता है। क्योंकि निश्चयनय अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक होता है (२९)—निश्चयनयमें जानने और देखनेकी

---

१. सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा,णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ (द्रव्यसं० ३९)

२. मु रिति जिनोक्तिः। सि क्षु हे जिनोक्ति

क्रियाका कर्त्ता, कर्म और अधिकरण आत्मासे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता।

द्विविध मोक्षमार्ग ध्यानलभ्य होनेसे ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा

[1]स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु[2] ध्यानं सुधियः सदाऽप्यपास्याऽऽलस्यम् ॥३३॥

'यतः (चूंकि) निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारका निर्दोष मुक्तिहेतु (मोक्षमार्ग) ध्यानकी साधनामें प्राप्त होता है अतः हे सुधीजनों! सदा ही आलस्यका त्याग कर ध्यानका अभ्यास करो।'

व्याख्या—यहाँ सुधीजनोंको निरालस्य होकर सदा ध्यानकी प्रेरणा करते हुए उसकी उपादेयता तथा उपयोगिताको जिस हेतु-द्वारा प्रदर्शित किया है वह खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और वह यह है कि ध्यान-द्वारा दोनों प्रकारका मोक्षमार्ग सधता है। जब मुमुक्षु ध्यानमें अपनेसे भिन्न दूसरे पदार्थोंका अवलम्बन लेकर उन्हें ही अपने श्रद्धानादिका विषय बनाता है तब वह व्यवहार-मोक्षमार्गी होता है। और जब केवल अपने आत्माका ही अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धानादिका विषय बनाता है तब वह निश्चय-मोक्षमार्गी होता है। इस तरह ध्यानका करना बहुत ही आवश्यक तथा उपयोगी ठहरता है।

---

१. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ (द्रव्यसं० ४७)

२. मु मे भ्यसंतु।

ध्यानके भेद और उनकी उपादेयता

आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा ।
धर्म्यं[1] शुक्लं च सद्ध्यान[2]मुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥३४॥

'आर्त्तध्यान दुर्ध्यान है, रौद्रध्यान भी दुर्ध्यान है और यह प्रत्येक दुर्ध्यान मुमुक्षुओंके द्वारा सदा त्यागने योग्य है। धर्म्यध्यान सद्ध्यान है, शुक्लध्यान भी सद्ध्यान है और यह प्रत्येक सद्ध्यान मुमुक्षुओंके द्वारा सदा ग्रहण किये जानेके योग्य है।'

व्याख्या—यहाँ आगमवर्णित ध्यानके मूल चार भेदोंका नामोल्लेख करते हुए उनमें पहले आर्त और रौद्र दो ध्यानोंको दुर्ध्यान बतलाया है, जिन्हें असत्, अप्रशस्त तथा कलुष-ध्यान भी कहते हैं। शेष धर्म्य और शुक्ल दो ध्यानोंको सद्ध्यान बतलाया है, जिन्हें प्रशस्त तथा सातिशय-ध्यान भी कहते हैं। पहले दोनों दुर्ध्यान पापबन्धके और संसार-परिभ्रमणके कारण होनेसे हेय-कोटिमें स्थित हैं और इसलिए मुमुक्षुओंके द्वारा सदा त्याज्य हैं, जबकि धर्म्य और शुक्ल दोनों ध्यान संवर, निर्जरा तथा मोक्षके कारण होनेसे उपादेय-कोटिमें स्थित हैं और इसलिए मुमुक्षुओं-द्वारा सदा ग्राह्य हैं।

'**ऋते भवमार्त्तं**' इस निरुक्तिके अनुसार ऋत नाम दुःख, अर्दन (पीड़न) अथवा अर्तिका है और उसमें जो उत्पन्न होता है उसे 'आर्त्तध्यान' कहते हैं। विवक्षित दुःख चार प्रकारका होनेसे आर्तध्यानके भी चार भेद कहे गए हैं—१ इष्ट-वियोगज, २ अनिष्ट-संयोगज, ३ असाता-वेदनाजन्य (रोगज), ४ निदान। इष्ट अथवा मनोज्ञ वस्तुका वियोग होने पर उसके संयोगकी जो बार-बार चिन्ता है, वह पहला आर्त-

---

१. मु मे धर्मं।

२. सि जु सुध्यानं।

ध्यान है; अनिष्ट–अमनोज्ञ पदार्थका संयोग होने पर उसके वियोगकी जो बार-बार चिन्ता है वह दूसरा आर्तध्यान है। रोगजनित वेदनाको दूर करनेके लिए जो स्मृतिका सतत प्रवर्तन है वह तीसरा आर्तध्यान है और भोगोंकी आकांक्षासे आतुर व्यक्तिके अनागत भोगोंकी प्राप्तिके लिए जो मनः प्रणिधान है वह चौथा आर्तध्यान है[1]। यह ध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयतोंके होता है।

रुद्र नाम क्रूर-आशय का, उसका जो कर्म अथवा उसमें जो उत्पन्न उसे रौद्र कहते हैं[2]। वह हिंसा, असत्य, चोरी तथा विषय-संरक्षणके निमित्तसे होता है। इन निमित्तोंके कारण उसके चार भेद होते हैं—१ हिंसानन्द, २ मृषानन्द, ३ चौर्यानन्द और ४ विषय-संरक्षणानन्द, जिसे परिग्रहानन्द भी कहते हैं।

ये चारों रौद्रध्यान अपने हिंसादिक कृत्योंके द्वारा दूसरोंको रुलाकर–कष्ट पहुँचाकर आनन्द मनानेके रूपमें महाक्रूरताको लिए हुए होते हैं। ये अविरत तथा देशविरत तक ही होते हैं।

शुक्लध्यानके ध्याता

वज्रसंहननोपेताः पूर्व-श्रुत-समन्विताः ।
दध्युः शुक्लमिहाऽतीताः श्रेण्योरारोहणक्षमाः ॥३५॥

---

१. ऋते भवमार्त्तं स्याद् ध्यानमाद्यं चतुर्विधम् ।
इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानाऽसातहेतुकम् ॥३१॥
विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुतर्षणम् ।
अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ॥३२॥
निदानं भोगकांक्षोत्थं संक्लिष्टस्याऽन्यभोगतः ।
स्मृत्यन्वाहरणं चैव वेदनार्तस्य तत्क्षये ॥३३॥ (आर्ष, पर्व २१)

२. रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम् (सर्वार्थसिद्धि ९-२८)

'वज्रसंहननके धारक, पूर्वनामक श्रुतज्ञानसे संयुक्त और दोनों उपशम तथा क्षपक-श्रेणियोंके आरोहणमें समर्थ, ऐसे अतीत-महापुरुषोंने इस भूमंडल पर शुक्लध्यानको ध्याया है।'

व्याख्या—भूतकालमें जिस योग्यतावाले महापुरुषोंने शुक्लध्यानको धारण किया उसका उल्लेख करते हुए यहाँ प्रकारान्तरसे उस ध्यान-सामग्रीको सूचना की गई है, जिसके बल पर शुक्लध्यान लगाया जा सकता है और वह है वज्रसंहनन-की प्राप्ति, पूर्वागमवर्णित श्रुतज्ञानकी उपलब्धि और उपशम तथा क्षपक-श्रेणियोंमें चढ़नेकी क्षमता।

धर्म्यध्यानके कथनकी सहेतुक प्रतिज्ञा

तादृक्सामग्र्यभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान्[1]।
ऐदंयुगीनानुद्दिश्य धर्म्यध्यानं प्रचक्ष्महे ॥३६॥

'इस क्षेत्रमें उस प्रकारकी वज्रसंहननादि-सामग्रीका अभाव होनेके कारण जो शुक्लध्यानको ध्यानेमें असमर्थ हैं उन इस युगके साधुकोंको लक्ष्यमें लेकर मैं धर्म्यध्यानका कथन करूंगा।'

व्याख्या—यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि शुक्लध्यानके लिये वज्रसंहननादिरूप जिस सामग्रीकी आवश्यकता पिछले पद्यमें व्यक्त की गई है उसका आजकल इस क्षेत्रमें अभाव है, जिसके कारण शुक्लध्यान यहाँ नहीं बन सकता। इसीसे वर्तमान युगके ध्यानयोगियोंको लक्ष्य करके यहाँ धर्म्यध्यानके कथन-की प्रतिज्ञा की गई है।

अष्टांगयोग और उसका संक्षिप्त-रूप

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥३७॥

---

१. आ क्षमात्।

'जो योगी ध्यान करनेकी इच्छा रखता है उसे ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल, जिसके, जहाँ, जब और जैसे यह सब इस धर्म्यध्यानके प्रकरणमें जानना चाहिए।'

व्याख्या—यहाँ योगीको योगके जिन आठ अंगोंको जाननेकी प्रेरणा की गई है, उनमें 'यस्य' शब्द ध्यानके स्वामीका, 'यत्र' शब्द ध्यानके योग्य क्षेत्रका 'यदा' शब्द ध्यानके योग्य कालका और 'यथा' शब्द ध्यानके योग्य अवस्था-मुद्रादिका वाचक है। ध्यानादिका स्वरूप ग्रन्थकारने स्वयं आगे दिया है।

गुप्तेन्द्रिय-मना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं निर्जरा-संवरौ फलम् ॥३८॥

'इन्द्रियों तथा मनोयोगका निग्रह करनेवाला—उन्हें अपने अधीन रखनेवाला—'ध्याता' कहलाता है; यथावास्थित वस्तु 'ध्येय' कही जाती है; एकाग्र-चिन्तनका नाम 'ध्यान' है और निर्जरा तथा संवर दोनों (धर्म्यध्यानके) 'फल' हैं।'

व्याख्या—यहाँ योगके ध्यानादिरूप प्रथम चार अंगोंका संक्षिप्त स्वरूप दिया गया है। इनके विशेषरूपका वर्णन ग्रन्थकारने स्वयं आगे पद्य नं० ४१ से किया है। अतः उसको यहाँ देनेकी जरूरत नहीं।

[1]देशः कालश्च सोऽन्वेष्यः[2] सा चाऽवस्थाऽनुगम्यताम्
यदा यत्र यथा[3] ध्यानमपविघ्नं प्रसिद्ध्यति[4] ॥३९॥

(धर्म्यध्यानके स्वामी-द्वारा ध्यानके लिए) देश (क्षेत्र) और काल (समय) वह अन्वेषणीय हैं और अवस्था वह अनुसर-

---

१. यदा यत्र यथावस्थो योगी ध्यानमवाप्नुयात्।
स कालः स च देशः स्याद् ध्यानावस्था च सा मता ॥(आर्ष २१-८३)

२. मु मे ऽन्वेष्य। ३. ज यथा यत्र यदा। ४. सि जु प्रसिध्यते।

णीय है जहां, जब और जैसे ध्यान निर्विघ्न सिद्ध होता है।'

व्याख्या—यहाँ योगके उत्तरवर्ती तीन अंगोंके संक्षिप्त स्वरूपके लिए केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि जब, जहाँ और जिस अवस्थासे ध्यानकी निर्विघ्न सिद्धि हो, वही काल, वही क्षेत्र और वही अवस्था योगके लिये ग्राह्य है, और इससे यह साफ फलित होता है कि योग-साधनाके लिए सामान्यत: किसी देश, काल तथा अवस्थाके विशेषका कोई नियम नहीं है। इतना ही नियम है कि उनमेंसे कोई ध्यानमें बाधक न होना चाहिये। कौन देश, कालादिक ध्यानमें बाधक होता है और कौन नहीं, यह सब विशेष परिस्थितियोंके आधीन है और इनका कुछ वर्णन विशेष कथनके अवसर पर परिकर्मादिके रूपमें किया गया है।

इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांगं योग-साधनम्।
विवरीतुमदः किंचिदुच्यमानं निशम्यताम्[1] ॥४०॥

"इस प्रकार संक्षेपसे अष्ट अंगरूप योग-साधन ग्रहण किये जानेके योग्य है। इसका विवरण करनेके लिये जो कुछ आगे कहा जा रहा है उसे (हे साधको!) सुनो।'

व्याख्या—यहाँ योग-साधनको आठ अंगरूप बतलाया है और '**इति संक्षेपत:**' शब्दोंके द्वारा उन आठ अंगोंके संक्षिप्त कथनकी समाप्तिको सूचित किया है। परन्तु ३८ वें पद्यमें ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल इन चार अंगोंका संक्षिप्त स्वरूप दिया है और ३९ वें पद्यमें देश-काल तथा अवस्था-विषयक तीन अंगोंके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है। इस तरह सात अंगोंका संक्षिप्त कथन तो समाप्त हुआ कहा जा सकता है;

---

१. मु मे निशाम्यताम्

आठवां अंग, जो ३७ वें पद्यमें प्रयुक्त हुए '**यस्य**' पदका वाच्य है उसका कोई संक्षिप्त वर्णन इससे पहले नहीं आया। इसलिए उसके भी संक्षिप्त कथनकी बात साथमें कुछ खटकती-सी जान पड़ती है। परन्तु विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि चूँकि यहाँ सामान्यरूपसे आठ अंगोंके स्वरूपको सूचना की गई है और '**यस्य**' पद में सामान्यतः ध्यानके स्वामीको सूचना हो जाती है। अतः दूसरी कोई संक्षिप्त सूचना बनती नहीं। अगले पद्योंमें ध्याताका जो विशेष वर्णन है उसमें (पद्य ४६ में) गुणस्थानक्रमसे ध्यानके स्वामियोंका निर्देश करते हुए उस आठवें अंगकी ध्यान-स्वामीके रूपमें जो सूचना है वह विशेष-सूचना है। अतः '**यस्य**' पदके द्वारा ही संक्षिप्त सूचना की गई है, ऐसा समझना चाहिये। ध्याता और ध्यान-स्वामी इन दोनोंका विषय एक दूसरेके साथ मिला-जुला है। ध्याता ध्यान-के कर्त्ता अथवा अनुष्ठाताको कहते हैं और ध्यान-स्वामी ध्याता होनेके अधिकारीका नाम है, जो गुणस्थानकी दृष्टिको लिए हुए है। इसलिये दोनोंमें थोड़ा अन्तर है और इसी अन्तरकी दृष्टिसे योगके अंगोंमें ध्यातासे ध्यान-स्वामीका पृथक् ग्रहण किया गया है।

ध्याताका विशेष लक्षण

तत्राऽऽसन्नोभवन्मुक्तिः[1] किंचिदासाद्यकारणम्।
विरक्तः काम-भोगेभ्यस्त्यक्त-सर्वपरिग्रहः ॥४१॥
अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः।
तपः-संयम-सम्पन्नः प्रमादरहिताऽऽशयः ॥४२॥
सम्यग्निर्णीत-जीवादि-ध्येयवस्तु-व्यवस्थितिः।
आर्त्त-रौद्र-परित्यागाल्लब्ध-चित्त-प्रसत्तिकः ॥४३॥

---

१. मु मे भवेन्मुक्तिः।

मुक्त-लोकद्वयाऽपेक्षः [1]सोढाऽशेष-परीषहः ।
अनुष्ठित-क्रियायोगो ध्यान-योगे-कृतोद्यमः ॥४४॥
महासत्त्वः परित्यक्त-दुर्लेश्याऽशुभभावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्म्य[2]-ध्यानस्य सम्मतः ॥४५॥

'उच्यमान–विवरणमें धर्म्य ध्यानका ध्याता इस प्रकारके लक्षणोंवाला माना गया है—जिसकी मुक्ति निकट आरही हो (जो आसन्नभव्य हो), जो कोई भी कारण पाकर कामसेवा तथा अन्य इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त होगया हो, जिसने समस्त परिग्रहका त्याग किया हो, जिसने आचार्यके पास जाकर भले-प्रकार जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की हो—जो जैनधर्ममें दीक्षित होकर मुनि बना हो—जो तप और संयमसे सम्पन्न हो, जिसका आशय प्रमाद-रहित हो, जिसने जीवादि ध्येय-वस्तुको व्यवस्थितिको भलेप्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त्त और रौद्र-ध्यानोंके परित्यागसे जिसने चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त की हो, जो (अपने ध्यान-विषयमें) इस लोक और परलोक दोनोंकी अपेक्षासे रहित हो, जिसने सभी परीषहोंको सहन किया हो, जो क्रियायोगका अनुष्ठान किये हुए हो—सिद्धभक्ति आदि क्रियाओंके अनुष्ठानमें तत्पर हो—, ध्यान-योगमें जिसने उद्यम किया हो—ध्यान लगानेका कुछ अभ्यास किया हो—, जो महासामर्थ्यवान् हो और जिसने अशुभ लेश्याओं तथा बुरी भावनाओंका परित्याग किया हो।'

व्याख्या—यहाँ अन्तमें प्रयुक्त 'सम्मतः' शब्द अपनी खास विशेषता रखता है और वह इस बातका सूचक है कि यह सब लक्षण धर्म्यध्यानके सम्मान्य ध्याताका है, जिसका आशय प्रशस्त अथवा उत्तम ध्याताका लिया जाना चाहिए और इसलिए मध्यम तथा

१. मु मे षोढा । २. मु मे धर्म ।

जघन्य कोटिमें स्थित ध्याता भी इन सब गुणोंसे विशिष्ट होंगे—विना इन सब गुणोंकी पूर्तिके कोई ध्याता हो ही नहीं सकेगा—ऐसा न समझ लेना चाहिए। ध्याताके इस लक्षणमें जिन विशेषणोंका प्रयोग हुआ है उनमें अधिकांश विशेषण ऐसे हैं जो इस लक्षणको प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानसे पूर्ववर्ती दो गुणस्थानवालोंके साथ संगत नहीं बैठते; जैसे कामभोगोंसे विरक्त, सब परिग्रहोंका त्यागी, आचार्यसे जैनेश्वरी-दीक्षाको प्राप्त और सब परीषहोंको सहनेवाला। कुछ विशेषण ऐसे भी हैं जो प्रायः अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थानसे सम्बन्ध रखते हैं; जैसे प्रमादरहित आशयका होना और आर्त-रौद्रके परित्यागसे चित्तकी स्वाभाविक प्रसन्नताका उत्पन्न होना। ऐसी स्थितिमें यह पूरा लक्षण अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिके साथ घटित होता है, जिसको अगले एक पद्य (४७) में मुख्य धर्म्यध्यानका अधिकारी बतलाया है। और इसलिए प्रस्तुत लक्षण उत्तम ध्याताका है, यह उसके स्वरूप परसे स्पष्ट जाना जाता है। जघन्य ध्याताका कोई लक्षण दिया नहीं। ध्याताका सामान्य लक्षण **'गुप्तेन्द्रियमना ध्याता'** (३८) दिया है, उसीको जघन्य ध्याताके रूपमें ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि कम-से-कम ध्यान-कालमें इन्द्रिय तथा मनका निग्रह किये विना कोई ध्याता बनता ही नहीं। उत्तम और जघन्यके मध्यमें स्थित जो मध्यम ध्याता है वह अनेकानेक भेदरूप है और इसलिए उसका कोई एक लक्षण घटित नहीं होता। उत्तम ध्याताके गुणोंमें कमी होनेसे उसके अनेक भेद स्वतः हो जाते हैं।

धर्म्यध्यानके स्वामी

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः।
धर्म्यध्यानस्य [1]चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः ॥४६॥

---

१. मु मे धर्म।

'(सप्तमगुणस्थानवर्ती) **अप्रमत्त**, (षष्ठगुणस्थानवर्ती) **प्रमत्त**, (पंचमगुणस्थानवर्ती) **देशसंयमी और** (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) **सम्यग्दृष्टि ऐसे चार गुणस्थानवर्ती जीव तत्त्वार्थमें** (राजवार्तिकमें) **धर्म्यध्यानके स्वामी-अधिकारी स्मरण किये गये अथवा जैनागमके अनुसार माने गये हैं।'**

व्याख्या—यहाँ चौथेसे सातवें गुणस्थान तकके जीवोंको धर्म्यध्यानका अधिकारी प्रतिपादित किया गया है—चाहे वे किसी भी जाति, कुल, देश, वर्ग अथवा क्षेत्रके क्यों न हों—और यह प्रतिपादन जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे है, जिसका उल्लेख तत्त्वार्थराजवार्तिक, आर्ष (महापुराण) आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। यहाँ **'तत्त्वार्थे'** पदके द्वारा तत्वार्थराजवार्तिकका ग्रहण है, जिसमें एकमात्र अप्रमत्तगुणस्थानवर्तीको ही धर्म्यध्यानका अधिकारी माननेवालोंकी मान्यताका निषेध करते हुए पूर्ववर्ती चार गुणस्थानवालोंको भी उसका अधिकारी बतलाया गया है; क्योंकि धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शनजन्य है[1] और सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति चौथे गुणस्थानमें हो जाती है, तब अगले पाँचवें, छठे गुणस्थानोमें धर्म्यध्यानकी उत्पत्ति कैसे नहीं बन सकेगी! उक्त मान्यता **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-सम्मत श्वेताम्बरीय सूत्रपाठकी है**[2]। हो सकता है कि वह मुख्य धर्म्यध्यानकी दृष्टिको लिए हुए हो। क्योंकि मुख्य धर्म्यध्यान अप्रमत्तोंके ही बनता है, अन्योंके वह औपचारिक

---

१. धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसंगात्...असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्तसंयतानामपि धर्म्यध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात्। यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्यते तर्हि तेषां निवृत्तिः प्रसज्येत्। (९-१३)

२. आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ३७)। दिगम्बर सूत्रपाठमें इस सूत्रका नम्बर ३६ है और उसमें 'अप्रमत्तसंयतस्य' यह अन्तका पद नहीं है।

रूपसे होता है; जैसाकि ग्रन्थके अगले पद्यमें ही, ध्यानके मुख्य और उपचार ऐसे दो भेद करते हुए, प्रतिपादन किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बरीय सूत्रपाठमें धर्म्यध्यानके स्वामियों-का निर्देशक कोई सूत्र नहीं है; जब कि अन्य आर्तध्यानादिकके स्वामि-निर्देशक स्पष्ट सूत्र पाये जाते हैं, यह बात चिन्तनीय है। हाँ, **'आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम्'** इस ३६ वें सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिटीकामें **'तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानां भवति'** इस वाक्यके द्वारा चतुर्थसे सप्तमगुणस्थानवर्ती तक जीवोंको इस धर्म्यध्यानका स्वामी बतलाया है। इससे एक बात बड़ी अच्छी फलित होती है और वह यह कि जिन विद्वानोंका ऐसा खयाल है कि दिगम्बर-सूत्रपाठ सर्वार्थसिद्धिकार-द्वारा संशोधित-स्वीकृत पाठ है वह ठीक नहीं है। ऐसा होता तो वे (श्रीपूज्यपाद) सहज ही सूत्रमें इस ध्यानके स्वामियोंका उल्लेख कर सकते थे; परन्तु ऐसा न करके टीकामें जो उल्लेख किया गया है वह इस बातका स्पष्ट सूचक है कि उन्होंने मूल सूत्रको ज्योंका त्यों रखा है।

धर्म्यध्यानके दो भेद और उनके स्वामी

मुख्योपचार-भेदेन [१]धर्म्यध्यानमिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम् ॥४७॥

'ध्यान-स्वामीके उक्त निर्देशमें धर्म्यध्यान मुख्य और उपचारके भेदसे दो प्रकारका है। अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवोंमें जो ध्यान होता है, वह 'मुख्य' धर्म्यध्यान है और शेष छठे, पाँचवें और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवोंमें जो ध्यान बनता है, वह सब 'औप-चारिक' (गौण) धर्म्यध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके 'उपचार' और 'औपचारिक' विशेषण गौण तथा अप्रधान अर्थके वाचक हैं—मिथ्या अर्थके

१. मु मे धर्मं।

नहीं—उसी प्रकार जिस प्रकार कि विनयके भेदोंमें उपचार विनयके साथ प्रयुक्त हुआ 'उपचार' विशेषण। उपचार-विनयमें पूज्य आचार्यादिको देखकर उठ खड़े होना, उनके पीछे चलना, हाथ जोड़ना, वन्दना और गुण-कीर्तनादि करना शामिल है, जो कि फलशून्य कोई मिथ्याक्रिया-कलाप नहीं है। इसी प्रकार उपचारधर्म्यध्यान भी फलशून्य कोई मिथ्याक्रियाकलापरूप नहीं है। वह भी संवर-निर्जरारूप फलको लिये हुए है। यह दूसरी बात है कि उस फलकी मुख्यतया प्राप्ति जिस प्रकार अप्रमत्तोंको होती है उस प्रकार प्रमत्तादि पूर्ववर्ती तीन गुण-स्थानवालोंको नहीं होती।

यहाँ 'अप्रमत्तेषु' पदका आशय केवल अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थानवर्तियोंका ही नहीं है; किन्तु उसमें अगले तीन गुणस्थान-वर्तियोंका भी समावेश है, जो कि सब अप्रमत्त (प्रमादरहित) ही होते हैं और उपशमक-क्षपक श्रेणियोंके अधःवर्ती अथवा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे सम्बन्ध रखते हैं; जैसा कि इसी ग्रन्थमें आगे 'प्रबुद्ध-धीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः' (५०) और 'धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्' (८३) इन दोनों वाक्योंसे प्रकट है।

सामग्रीके भेदसे ध्याता और ध्यानके भेद

द्रव्य-क्षेत्रादि-सामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा॥
[1]ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा॥४८

'ध्यानकी उत्पत्तिमें कारणीभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्री चूँकि तीन प्रकारकी है—उत्तम, मध्यम और

---

१. ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा।
लेश्या-विशुद्धि-योगेन फलसिद्धिरुदाहृता॥ ज्ञाना० २८-२९

जघन्य—इसलिए ध्याता भी तीन प्रकारके हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकारके हैं।'

व्याख्या—ध्यानकी उत्पत्तिमें ध्यानकी सामग्रीका प्रमुख हाथ रहता है और इसलिये उस सामग्रीके मुख्यत: तीन भेद होनेकी दृष्टिसे यहाँ ध्याता और ध्यान दोनोंके भी तीन-तीन भेदोंकी सूचना की गई है। अगले पद्यमें उन भेदोंको स्पष्ट किया गया है। यहाँ पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द मुख्यत: काल तथा भावका और गौणत: अन्य सहायक सामग्रीका भी वाचक है।

सामग्रीत: प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम्।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम्॥४९॥

'ध्यातामें' उत्तम-सामग्रीके योगसे उत्तम-ध्यान, जघन्य-सामग्रीके योगसे जघन्य-ध्यान और मध्यम-सामग्रीके योगसे मध्यम-ध्यान बनता है।'

व्याख्या—यहाँ जिस सामग्रीका उल्लेख है वह पूर्व-पद्यानुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी सामग्री है। वह स्थूलरूपसे उत्तम, जघन्य और मध्यमके भेदसे तीन प्रकारकी होती है। जिस ध्याताको उत्तम-सामग्रीकी उपलब्धि होती है, उसमें उत्तम ध्यान बनताहै; जिसको जघन्य-सामग्रीकी उपलब्धि होती है उसमें जघन्य ध्यान बनता है और जिसको मध्यम-सामग्रीकी उपलब्धि होती है उसमें मध्यम-ध्यान बनता है। मध्यम-सामग्रीके बहुभेद होनेसे मध्यमध्यानके भी बहुभेद हो जाते हैं। सामग्रीकी दृष्टिसे ध्यानोंके मुख्य तीन भेद होनेसे ध्याताओंके भी वे ही उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हो जाते हैं।

विकलश्रुतज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता।

श्रुतेन विकलेनाऽपि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्य[2]-ध्यानस्य सुश्रुतः ॥५०॥

'**विकल** (अपूर्ण) **श्रुतज्ञानके द्वारा भी धर्म्यध्यानका ध्याता वह साधक होता है जो कि मनसे स्थिर हो।** (शेष) **उपशमक और क्षपक दोनों श्रेणियोंके नीचे धर्म्यध्यानका ध्याता प्रकर्ष-रूपसे विकसित-बुद्धिवाला होना शास्त्र-सम्मत है।**'

व्याख्या—श्रेणियाँ दो हैं। उपशमक और क्षपक, जिनमें क्रमशः मोहको उपशान्त तथा क्षीण किया जाता है। इन श्रेणियोंके नीचेके अथवा पूर्ववर्ती सात गुण-स्थानोंमें धर्म्यध्यानका ध्याता प्रबुद्धबुद्धि (विशेष श्रुतज्ञानी) होता है, यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है; परन्तु विकलश्रुतका धारी अल्प-ज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता होता है, जो कि मनसे स्थिर हो। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जिसने अपने मनको स्थिर करनेका दृढ अभ्यास कर लिया है वह अल्प-ज्ञानके बल पर भी धर्म्यध्यान की पूरी साधना कर सकता है। ऐसी साधना करनेवाले अनेक हुए हैं, जिनमें **शिव-भूति**का नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है, जिन्हें '**तुषमासभिन्न**' जैसे अल्पज्ञानके द्वारा सिद्धिकी प्राप्ति हुई थी[3]।

---

१. श्रुतेन विकलेनाऽपि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः (आर्ष २१-१०२)
श्रुतेन विकलेनाऽपि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः।
अधःश्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः॥(ज्ञानार्णव २८-२७)॥

२. मु मे धर्म।

३. तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महानुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ॥ (भावपा० ५३)

अल्पज्ञानसे भी सिद्धिकी प्राप्ति होती है, मोक्ष तक मिलता है, इस बातको स्वामी समन्तभद्रने **'ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्याद-मोहान्मोहिनोऽन्यथा[1]'** इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट किया है—यह बतलाया है कि अल्पज्ञानसे भी मोक्ष होता है, यदि वह अल्पज्ञान मोहसे रहित है और यदि मोहसे युक्त है तो उस अल्पज्ञानीके मोक्ष नहीं होता।

धर्मके लक्षण-भेदसे धर्म्यध्यानका प्ररूपण

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
[2]तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥५१॥

'धर्मके ईश्वरों—तीर्थंकरोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको 'धर्म' कहा है, उस धर्म-चिन्तनसे युक्त जो ध्यान है वह निश्चितरूपसे धर्म्यध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—'धर्मादनपेतं धर्म्यम्' इस निरुक्तिके अनुसार धर्म-से युक्त जो ध्यान है उसका नाम धर्म्यध्यान है। इस ध्यानमें धर्मका वह स्वरूप विवक्षित होता है जिसे लेकर ध्यान किया जाता है। यहाँ धर्मका वह स्वरूप दिया गया है जिसे स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) की तीसरी कारिकाके पूर्वार्धमें दिया है, उस कारिकाका वह पूर्वार्ध प्रस्तुत पद्यके पूर्वार्धरूपमें ज्योंका त्यों उद्धृत है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म है। इस धर्मके स्वरूप-का जिस ध्यानमें एकाग्रचिन्तन हो उसे यहाँ धर्म्यध्यान कहा गया है।

---

१. देवागम का० ९८

२. धर्मादनपेतं धर्म्यं। (सर्वार्थ० तथा तत्त्वा० वा० ९–२८)
तत्रानपेतं यद्धर्मात्तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते। (आर्ष २१–१३३)

आत्मनः परिणामो यो मोह-क्षोभ-विवर्जितः ।

स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्माद्धर्म्यमित्यपि ॥५२॥

'(तथा) आत्माका जो परिणाम मोह और क्षोभसे विहीन है वह धर्म है, उस धर्मसे युक्त जो ध्यान है वह भी धर्म्यध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ धर्मका वह स्वरूप दिया गया है जो मोह और क्षोभसे रहित आत्माका निज परिणाम है जिसे श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यने प्रवचनसारमें निर्दिष्ट किया है[1]। इस धर्म-स्वरूप-के चिन्तनरूप जो ध्यान है उसे भी धर्म्यध्यान समझना चाहिये।

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः ।

तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥५३॥

ततोऽनपेतं यज्ज्ञानं[2] तद्धर्म्यध्यानमिष्यते ।

धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥५४॥

'यह विश्व—दृश्यमान वस्तुसमूहरूप जगत—**प्रतिक्षण पर्यायों-के विनाशरूप शून्यता अथवा अभावको प्राप्त होता हुआ चूँकि स्वरूपके द्वारा धृत है**—पृथक्-पृथक् वस्तु-स्वभावके अस्तित्वको लिए हुए अवस्थित है—**वस्तुके स्वरूपका कभी अभाव नहीं होता, इसलिये वस्तु-स्वरूपको ही महर्षियोंने धर्म कहा है। उस वस्तु-स्वरूप धर्मसे युक्त जो ज्ञान है वह धर्म्यध्यान माना जाता है, आर्षमें**—भगवज्जिनसेनाचार्य-प्रणीत महापुराणमें—**भी 'धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यम्'** (२१-१३३) ऐसा विधान पाया जाता है जो कि **वस्तुके याथात्म्यको—**

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह क्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥१-७

२. मु मे यज्ज्ञातं ।

यथावस्थित उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूपको—**धर्म प्रतिपादित-करता है।**'

व्याख्या—यहाँ धर्मका सहेतुक स्वरूप वह 'वस्तुस्वभाव' दिया गया है, जिसे स्वामिकुमार जैसे आचार्योंने '**धम्मो** वत्थु-**सहावो**[1]' के रूपमें निर्दिष्ट किया है और जिसका समर्थन '**धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यं**' इस आर्षवाक्यके द्वारा भी किया गया है। इस धर्मके स्वरूप-चिन्तनको जो ध्यान लिए हुए हो उसे भी इन पद्योंमें धर्म्यध्यान कहा गया है।

[2]यश्चोत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतयः[3] परः।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितम् ॥५५॥

'**अथवा उत्तमक्षमादिरूप दशप्रकारका जो उत्कृष्ट धर्म है, उससे जो ध्यान युक्त है, वह भी धर्म्यध्यान है, ऐसा कहा गया है।**'

व्याख्या—यहाँ धर्मके स्वरूप-निर्देशमें उस दशलक्षणधर्मको ग्रहण किया गया है जो तत्त्वार्थसूत्रादिमें उत्तम विशेषणसे विशिष्ट क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है[4]। इस दश-लक्षणधर्मके स्वरूप-चितनरूप जो ध्यान है उसे भी धर्म्यध्यान बतलाया गया है। इन धर्मोंके साथ प्रयुक्त '**उत्तम**' विशेषण लौकिक प्रयोजनके परिवर्जनार्थ है। इस दृष्टिको लिए हुए ही ये दशगुण धर्म कहलानेके पात्र हैं; जैसाकि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

---

१. धम्मो वत्थु-सहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ (कार्तिकानु० ४७८)

२ मु मे यस्तूत्तम। सि जु यद्वोत्तम। ३. मु मे दशतया।

४. उत्तमक्षमा-मार्दवाऽऽर्जव—शौच-सत्य—संयम-तपस्त्यागा—ऽऽकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः। (त० सू० ९–६)

'दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् । तान्येवंभाव्यमानानि धर्मव्यपदेशभांजि । (सर्वार्थ० ६-६)

इस तरह विवक्षावश धर्मके विविधरूपोंकी दृष्टिसे ध्यान विविधरूपको धारण किये हुए भी धर्म्यध्यानके रूपमें स्थित होता है। धर्मके विविधरूपोंसे इसमें कोई बाधा नहीं आती। जिस समय धर्मका जो रूप ध्यानमें स्थित हो उस समय उसी रूप धर्म्य-ध्यानको समझना चाहिए।

इस विषयमें ज्ञानसारकी निम्न गाथा भी ध्यानमें लेने योग्य है:—

सुत्तत्थ-धम्म-मग्गण-वय-गुत्ती समिदि-भावणाईणं।
जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं तमिह भणियं ॥ १६ ॥

इसमें बतलाया है कि सूत्रार्थ अथवा शास्त्रवाक्योंके अर्थों, धर्मों, मार्गणाओं, व्रतों, गुप्तियों, समितियों, भावनाओं आदिका जो चिन्तवन किया जाता है उस सबको धर्म्यध्यान कहा गया है।

ध्यानका लक्षण और उसका फल

एकाग्र-चिन्ता-रोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः ।
तद्ध्यानं[1] निर्जरा-हेतुः संवरस्य च कारणम् ॥५६॥

'परिस्पन्दसे रहित जो एकाग्र चिन्ताका निरोध है—एक अवलम्वनरूप विषयमें चिन्ताका स्थिर करना है—**उसका नाम ध्यान है और वह** (संचितकर्मोंकी) **निर्जरा तथा** (नये कर्मास्रवके निरोधरूप) **संवरका कारण है।'**

व्याख्या—नाना अर्थों-पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है—डाँवाडोल रहती है अथवा स्थिर नहीं हो-पाती—उसे अन्य समस्त अग्रों-मुखोंसे हटाकर एकमुखी करने-

---

१. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । (त० सू० ६-२७)

का नाम ही एकाग्रचिन्ता-निरोध है[1], जो ध्यानका सामान्य लक्षण है। ऐसा ध्यान संचितकर्मोकी निर्जरा तथा नये कर्मोंके आस्रवको रोकनेरूप संवरका कारण होता है। इसीको २४ वें पद्य में 'मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरा-संवर-क्रियः' इन पदों-द्वारा और १७८ वें पद्यमें 'क्षपयत्यर्जितान्मलान्' तथा 'संवृणोत्यप्यनागतान्' इन पदोंके द्वारा व्यक्त किया गया है। एकाग्रध्यानमें निर्जरा और संवर दोनोंकी शक्तियाँ होती हैं।

ध्यानके लक्षणमें प्रयुक्त शब्दोंका वाच्यार्थ

एकं [2]प्रधानमित्याहुरग्रमालम्बनं मुखम्[3] ।
चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु[4] तस्यास्तत्रैव वर्तनम् ।।५७।।
द्रव्य-पर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम् ।
तत्र चिन्ता-निरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ।।५८।।

'(एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' इस ध्यान-लक्षणात्मक वाक्यमें) 'एक' प्रधानको और 'अग्र' आलम्बनको तथा मुखको कहते हैं। 'चिन्ता' स्मृतिका नाम है और 'निरोध' उस चिन्ताका उसी एकाग्रविषयमें वर्तनका नाम है। द्रव्य और पर्यायके मध्यमें प्रधानतासे जिसे विवक्षित किया जाय उसमें चिन्ताका जो निरोध है—उसे अन्यत्र न जाने देना है—उसको सर्वज्ञ भगवन्तोंने 'ध्यान' कहा है।'

---

१. नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या अन्याऽशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। (सर्वार्थ० ९-२७)

२. प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणम्। (तत्त्वा० वा० ९-२७-२०)

३. अंग्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाऽग्र्य मुखम्। (तत्त्वा० वा०-९-२७-३ अर्थपर्यायवाची वा अग्रशब्दः। (तत्त्वा० वा० ९-२७-७)

४. मु चिन्तां स्मृतिं निरोधं तु। जु निरोधं।

व्याख्या—पूर्व पद्यमें दिया हुआ ध्यानका लक्षण जिन शब्दों-से बना है, उनमेंसे प्रत्येकके आशयको यहाँ व्यक्त किया गया है, जिससे भ्रमके लिये कोई स्थान न रहे। 'एक' शब्द संख्या-परक[1] होनेके साथ यहाँ पर प्रधान अर्थमें विवक्षित है; 'अग्र' शब्द आलम्बन तथा मुख अर्थमें प्रयुक्त है और चिन्ताको जो स्मृति कहा गया है वह तत्त्वार्थसूत्रमें वर्णित '**स्मृतिसमन्वाहारः**' का वाचक है, जो उसी विषयकी वार-वार स्मृति, चिन्ता अथवा चिन्ताप्रबन्धका नाम है। इस ध्यानमें द्रव्य तथा पर्यायमें-से किसी एकको प्रधानताके साथ विवक्षित किया जाता है और उसीमें चिन्ताको अन्यत्रसे हटाकर रोका जाता है।

ध्यान-लक्षणमें 'एकाग्र' ग्रहणकी दृष्टि

एकाग्र-ग्रहणं चाऽत्र वैयग्र्य[2]-विनिवृत्तये[3]।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव[4] स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥५९॥

'इस ध्यान-लक्षणमें जो 'एकाग्र' का ग्रहण है वह व्यग्रता-की विनिवृत्तिके लिए है। ज्ञान ही वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यानको तो एकाग्र कहा जाता है।'

व्याख्या—यहाँ स्थूलरूपसे ज्ञान और ध्यानके अन्तरको व्यक्त किया गया है। ज्ञान व्यग्र है—विविध अग्रों–मुखों अथवा आलम्बनोंको लिए हुए है; जब कि ध्यान व्यग्र नहीं होता, वह एकमुख तथा आलम्बनको लिए हुए एकाग्र ही होता है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञानसे भिन्न ध्यान कोई जुदी वस्तु नहीं,

---

१. एकशब्दः संख्यापदम्। (तत्त्वार्थ वा० ९-२७-२)
२. मु वै व्यग्र।
३. एकाग्रवचनं वैयग्र्य-निवृत्त्यर्थम्। (तत्त्वा० वा० ९-२७-१२)
४. मु ह्यज्ञानमेव।
व्यग्रं हि ज्ञानं न ध्यानमिति। (तत्त्वा० वा० ९-२७-१२)

निश्चल अग्निशिखाके समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान कहलाता है; जैसा कि पूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:–

'एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवाऽपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति।' (सर्वार्थसिद्धि ९-२७)

इससे यह फलित होता है कि ज्ञानकी उस अवस्था-विशेषका नाम ध्यान है, जिसमें वह व्यग्र न रहकर एकाग्र हो जाता है। शायद इसीसे 'ध्यानशतक'की निम्न गाथामें स्थिर अध्यवसानको ध्यान बतलाया है और जिसमें चित्त चलता रहता है उसे भावना, अनुप्रेक्षा तथा चिन्ताके रूपमें निर्दिष्ट किया है:—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होज्ज भावना वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥

एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान कब बनता है और उसके नामान्तर

प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानाऽऽलम्बनवर्तिनीम्।
एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥६०॥
तदाऽस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्ट-फल-प्रदम् ॥६१॥

'जब विशुद्धबुद्धिका धारक योगी नाना आलम्बनोंमें वर्तनेवाली चिन्ताको खींचकर उसे एक आलम्बनमें ही स्थिर करता है —अन्यत्र जाने नहीं देता—तब उस योगीके 'चिन्ताका एकाग्र-निरोधन' नामका योग होता है, जिसे प्रसंख्यान, समाधि और ध्यान भी कहते हैं और वह अपने इष्टफलका प्रदान करने वाला होता है।'

व्याख्या—यहाँ पूर्ववर्णित ध्यानके विषयको और स्पष्ट किया गया है और उसीको योग[1], समाधि तथा प्रसंख्यान नाम भी

---

१. युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।
—तत्त्वा० वा० ६-१-१२

दिया गया है। साथ ही उसे स्वेष्ट-फलका प्रदाता लिखा है, जो मुख्यत: निर्जरा तथा संवरके रूपमें है और गौणत: अन्य लौकिक फलोंका भी प्रदाता है।

ध्यानके 'योग' और 'समाधि' ये दो नाम तो सुप्रसिद्ध हैं ही, श्रीजिनसेनाचार्यके महापुराणमें इनके साथ धीरोध, स्वान्त-निग्रह और अन्त:संलीनताको भी ध्यानके पर्यायनाम बतलाया है[1], जो बहुत कुछ स्पष्टार्थको लिए हुए हैं; परन्तु 'प्रसंख्यान' नाम किस दृष्टिको लिए हुए है, यह यहाँ विचारणीय है। खोजने पर पता चला कि यह शब्द मुख्यत: योगदर्शनका है—योगदर्शनके चतुर्थपाद-गत सूत्र २६ में प्रयुक्त हुआ है[2]। 'प्र' और 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'ख्या' धातुसे ल्युट् (अन्) प्रत्यय होकर इस शब्दकी उत्पत्ति हुई है। 'ख्या' धातु गणना, तत्त्वज्ञान और ध्यान जैसे अर्थोंमें व्यवहृत होती है, जिनमेंसे पिछले दो अर्थ यहाँ विवक्षित जान पड़ते हैं। उक्त सूत्रकी टीकाओंसे भी यही फलित होता है जिनमें 'विवेक-साक्षात्कार' तथा 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' को प्रसंख्यान बतलाया है[3]। वामन शिवराम आप्टेकी संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरीमें इसके लिए Reflection, meditation, deep meditation, abstract contemplation जैसे अर्थोंका उल्लेख करके उदाहरणके रूपमें 'हर: प्रसंख्यानपरो

---

१. योगो ध्यानं समाधिश्च धी-रोध: स्वान्तनिग्रह:।
अन्त:संलीनता चेति तत्पर्याया: स्मृता बुधै:।। (आर्ष २१-१२)

२. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ: समाधि:।

३. 'प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कार:' (भावागणेशवृत्ति तथा नागोजीभट्ट-वृत्ति: पृष्ठ २०७)

'षड्विंशतितत्त्वान्यालोचयत: सत्वपुरुषान्यताख्यातिर्या जायते सर्वाधिष्ठातृत्वाद्यवान्तरफला तत्प्रसंख्यानम्। (मणिप्रभावृत्ति)
—योगसूत्र पृ० २०७

बभूव' यह कुमारसंभव ग्रन्थका वाक्य भी उद्धृत किया है। इससे 'प्रसंख्यान' शब्द भी ध्यान और समाधिका वाचक है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अग्रका निरुक्त्यर्थ

अथवाऽङ्गति जानातीत्यग्रमात्मा[1] निरुक्तितः।
तत्त्वेषु चाऽग्र-गण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥६२॥

'अथवा 'अंगति जानाति इति अग्र'' इस निरुक्तिसे 'अग्र' आत्माका नाम है, जोकि जानता है और वह आत्मा (जीवादि नव) तत्त्वोंमें अग्रगण्य होनेसे भी 'अग्र' रूपसे स्मरण किया गया है।'

व्याख्या—यहाँ दो दृष्टियोंसे 'अग्र' नाम आत्माका बतलाया है—एक निरुक्तिकी दृष्टि, जो ज्ञाता अर्थको व्यक्त करती है, दूसरी तत्त्वोंमें अग्रगण्यताकी दृष्टि, जिससे सात तथा नवतत्त्वोंकी गणनामें जीवात्माको पहला स्थान प्राप्त है। छह द्रव्योंमें भी उसकी प्रथम गणना की जाती है।

द्रव्यार्थिक-नयादेकः केवलो वा तथोदितः।
अन्तः-करणवृत्तिस्तु [2]चिन्तारोधो नियंत्रणा ॥६३॥

'द्रव्यार्थिक-नयसे 'एक' शब्द केवल (असहाय) अथवा तथोदित (शुद्ध) का वाचक है; 'चिन्ता' अन्तकरणकी वृत्तिको कहते हैं और 'रोध' नाम नियन्त्रणका है'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयकी दृष्टिसे 'एक' आदि शब्दोंके आशयको व्यक्त किया गया है, जिससे 'एक' शब्द शुद्धात्माका वाचक होकर उसीमें चित्तवृत्तिके नियन्त्रणका नाम ध्यान हो जाता है।

---

१. अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा (तत्त्वा० वा० ९-२७-२१)

२. चिन्ता अन्तःकरणवृत्तिः। (तत्त्वा० वा० ९-२७-४)

चिन्तानिरोधका वाच्यान्तर

अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिन्तान्तर-व्ययः ।
एकचिन्तात्मको यद्वा स्वसंविच्चिन्तयोज्झिता[1] ॥६४॥

'अथवा अभावका नाम 'निरोध' है और वह दूसरी चिन्ताके विनाशरूप एकचिन्तात्मक है अथवा चिन्तासे रहित स्वसंवित्ति-रूप है ।'

व्याख्या—पूर्व पद्यमें जिसे 'रोध' शब्दसे उल्लेखित किया है उसीके लिये इस पद्यमें 'निरोध' शब्द प्रयोग किया गया है। इससे रोध और निरोध शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, यह स्पष्ट हो जाता है । 'चिन्ता' शब्दके साथ प्रयुक्त हुआ रोध या निरोध शब्द जब अभाव अर्थका वाचक होता है तब उसका आशय चिन्तान्तरके—दूसरी चिन्ताओं के—अभाव रूप होता है, न कि चिन्तामात्रके अभावरूप, और इसलिये उसे एकचिन्तात्मक अथवा चिन्ताओंसे रहित स्वसंवेदनरूप भी कहा जाता है । निरोधका अभाव अर्थ ध्येयवस्तुकी किसी एक पर्यायके अभावकी दृष्टिको भी लिये हुए होता है और इससे ध्यान सर्वथा असत् नहीं ठहरता । अन्य चिन्ताके अभावकी विवक्षामें वह असत् (अभावरूप) है । किन्तु विवक्षित अर्थ-विषयके अधिगमस्वभाव-रूप सामर्थ्यकी अपेक्षासे सत्रूप ही है[2] ।

तत्राऽऽत्मन्यासहाये यच्चिन्तायाः स्यान्निरोधनम् ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्ति-मयश्च सः ॥६५॥

---

१. ज सि जु स्वसंवित्तिस्तयोज्झिता । मु मे चिन्तयोज्झितः ।

२. "(अभावः) केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात् । अन्यचिन्ताऽभावविवक्षाया-मसदेव ध्यानम्; विवक्षितार्थाधिगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति चोच्यते । (तत्त्वा० वा० ९-२७-१६)

'किसीकी भी सहायतासे रहित उस केवल शुद्धआत्मामें जो चिन्ताका नियन्त्रण है उसका नाम ध्यान है अथवा उस आत्मामें चिन्ताके अभावका नाम ध्यान है और वह स्वसंवेदन-रूप है।'

व्याख्या—पूर्व पद्यमें जो बात मुख्यतः कही गई है उसीको शुद्ध आत्मा पर घटित करते हुए यहाँ और स्पष्ट करके बतलाया गया है और यह साफ कर दिया गया है कि शुद्धात्माके विषय-में जो चिन्ताका नियन्त्रण है अथवा अभाव है वह सब स्वसंवेदन-रूप ध्यान है।

कौनसा श्रुतज्ञान ध्यान है और ध्यानका उत्कृष्ट काल

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलम्।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलदं ध्यानमाऽऽ-ऽन्तमुर्हूर्ततः ॥६६॥

'जो श्रुतज्ञान उदासीन—रागद्वेषसे रहित उपेक्षामय-यथार्थ और अत्यन्त स्थिर है वह ध्यान है, अन्तमुर्हूर्तपर्यन्त रहता और स्वर्ग तथा मोक्ष-फलका दाता है।'

व्याख्या—यहाँ जिस श्रुतज्ञानको ध्यान बतलाया है उसके तीन महत्त्वपूर्ण विशेषण दिये हैं—पहला 'उदासीन', दूसरा 'यथार्थ' और तीसरा 'अतिनिश्चल'। इन विशेषणोंसे रहित जो श्रुतज्ञान है वह ध्यानकी कोटिमें नहीं आता; क्योंकि वह व्यग्र होता है और ध्यान व्यग्र नहीं होता; जैसा कि पूर्वपद्य (५९) में प्रकट किया जा चुका है।

'आ अन्तमुर्हूर्ततः' पदके द्वारा यहाँ एक विषयमें ध्यानके उत्कृष्ट कालका निर्देश किया गया है; जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्रके ९ वें अध्यायमें 'आन्तमुर्हूर्तात्' पदके द्वारा विहित हुआ है। यह काल भी उत्तमसंहननवालोंकी दृष्टिसे है—हीनसंहननवालोंका एक ही विषयमें लगातार ध्यान इतने समय तक न ठहर सकने-

के कारण इससे भी कम कालकी मर्यादाको लिये हुए होता है[1]। ऐसा श्रुतज्ञान स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिरूप फलको फलता है, यह सब उसके उक्त तीन विशेषणोंका माहात्म्य है। अन्यथा रागद्वेषसे पूर्ण, अयथार्थ और अतिचंचल श्रुतज्ञान वैसे किसी फलको नहीं फलता।

यहाँ अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त कालके सम्बन्धमें इतना और भी जान लेना चाहिये कि यह एक वस्तुमें छद्मस्थोंके चित्तके अवस्थान-कालकी दृष्टिसे है, केवलज्ञानियोंकी दृष्टिसे नहीं। अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् चिन्ता दूसरी वस्तुका अवलम्बन लेकर ध्यानान्तरके रूपमें बदल जाती है। और इस तरह बहुत वस्तुओंका संक्रमण होने पर ध्यानकी सन्तान चिरकाल तक भी चलती रहती है[2]। इसलिये यदि कोई छद्मस्थ अधिक समय तक ध्यान लगाये बैठा या समाधिमें स्थित है तो उससे यह न समझ लेना चाहिये कि वह एक वस्तुके ध्यानमें अन्तर्मुहूर्त-कालसे अधिक समय तक स्थिर रहा है; किन्तु यह समझना चाहिये कि उसका वह ध्यानकाल अनेक ध्यानोंका सन्तानकाल है।

ध्यानके निरुक्त्यर्थ

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥६७॥

---

१. उत्तमसंहननाभिधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणाऽसामर्थ्यात् । (तत्त्वा० वा० ९-२७-११)

२. अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।
छउमत्थाणं झाणं जोगणिनिरोहो जिणाणं तु ॥३॥
अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जा हि ।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थु-संकमे झाण-संताणो ॥४॥
—ध्यानशतक

'जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है अथवा जो ध्यान करता है वही ध्यान है; जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है; अथवा ध्यातिका—ध्येय वस्तुमें परमस्थिर-बुद्धिका—नाम भी ध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यान शब्दकी निरुक्ति-द्वारा उसे करण, कर्ता, अधिकरण और भाव-साधनरूपमें चार अर्थोंका द्योतक बतलाया गया है। अगले पद्योंमें इन सबका स्पष्टीकरण किया गया है।

स्थिर-मन और तात्त्विक-श्रुतज्ञानको ध्यान संज्ञा

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकम्॥६८॥

'चूँकि योगीजन श्रुतज्ञानरूप परिणत मनके द्वारा ध्यान करते हैं इसलिये स्थिर मनका नाम ध्यान और स्थिर तात्त्विक (यथार्थ) श्रुतज्ञानका नाम भी ध्यान है।'

व्याख्या—इस पद्यमें करण-साधन-निरुक्तिकी दृष्टिसे[1] स्थिर-मन और स्थिर-तात्त्विक-श्रुतज्ञानको ध्यान बतलाया गया है; क्योंकि इनके द्वारा योगीजन ध्यान करते हैं, यह कथन निश्चयनयकी दृष्टिसे है।

आत्मा ज्ञान और ज्ञान आत्मा

ज्ञानादर्थान्तराऽप्राप्तादात्मा[2]ज्ञानं न चान्यतः।
एकं पूर्वापरोभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितम्॥६८॥

'**ज्ञानसे आत्मा अर्थान्तरको**—भिन्नता अथवा पृथक्-पदार्थत्वको—**प्राप्त नहीं है; किन्तु अन्य पदार्थोंसे वह अर्थान्तरको प्राप्त न हो ऐसा नहीं**—उनसे अर्थान्तरत्व अथवा भिन्नताको ही प्राप्त है। **ऐसी स्थितिमें 'जो आत्मा वह ज्ञान' और** 'जो **ज्ञान वह**

---

१. ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यानं करणसाधनम्। (आर्ष २१-१३)
२. मु ज्ञानादर्थान्तिरादात्मा तस्मात्।

आत्मा' इस प्रकार एक ही वस्तु पूर्वापरीभूतरूपसे—कभी आत्माको पहले ज्ञानको पीछे और कभी ज्ञानको पहले आत्माको पीछे रखकर—**कही गयी है ।'**

व्याख्या—ज्ञान और आत्मा ये एक ही पदार्थके दो नाम हैं, इसलिये इनमेंसे जो जब विवक्षित होता है उसका परिचय तब दूसरे नामके द्वारा कराया जाता है । जब आत्मा नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचयके लिये कहा जाता है कि वह ज्ञान-स्वरूप है; और जब ज्ञान नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचयके लिये कहा जाता है कि वह आत्म-स्वरूप है । इन दोनों नामोंके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

' णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ।' (समयसार १०)

' आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।'

(समयसार-कलश ३-१७)

यहाँ पूर्वाऽपर-पद्यों (६८,७०) के मध्यमें इस पद्यकी स्थिति कुछ खटकती हुई जान पड़ती है; क्योंकि इससे कथनका सिलसिला (क्रम) भंग होता है और यह कुछ अप्रासंगिक-जैसा जान पड़ता है । जयपुरके दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तेरहपन्थीकी प्रति (ज) में, जो संवत् १५६० आषाढ़वदि सप्तमीको लिखी हुई है, यह पद्य नहीं है । आराके जैनसिद्धान्त-भवनकी प्रति (सि) में भी, जो कि वेणूपुरस्थ पन्नेचारिस्थित केशव शर्मा नामके एक दक्षिणी विद्वान्-द्वारा परिधावि संवत्में द्वि० आषाढ़ कृष्ण एकादशीको सोमवारके दिन लिखकर समाप्त हुई है, यह पद्य नहीं है; और मेरी निजी प्रति (जु)में भी, जो सांगली निवासी पाँगलगोत्रीय बापूराव जैनकी लिखी हुई है, यह पद्य नहीं है । श्री पं० प्रकाशचंद्रजीने ब्यावरके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनकी प्रति (वि० सं० १९६६) को देखकर लिखा है कि 'उसमें यह ६९ वां पद्य नहीं है' । ऐसी स्थितिमें यह पद्य

यहाँ प्रक्षिप्त हुआ जान पड़ता है। कौनसे मूलग्रन्थका प्रस्तुत पद्य अंग है, यह बात बहुत ग्रन्थोंका अवलोकन कर जाने पर भी अभी तक मालूम नहीं हो सकी। हाँ, अध्यात्मतरंगिणीके ३९वें पद्यकी गणधरकीर्तिकृत टीकामें यह पद्य कुछ पाठ-भेद तथा अशुद्धिके साथ निम्नप्रकारसे उद्धृत पाया जाता है :—

ज्ञानादर्थान्तरं नात्मा तस्माज्ज्ञानं न चापि (त्म) नः।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कथ्यते ॥

गणधरकीर्तिकी यह टीका संवत् ११८९ चैत्र शुक्ला पंचमी-को बनकर समाप्त हुई है और इसलिये यह पद्य उससे पूर्वनिर्मित किसी ग्रन्थका पद्य है। हो सकता है कि वह ग्रन्थ स्वामी-समन्त-भद्र-कृत 'तत्त्वानुशासन' ही हो; क्योंकि टीकामें इससे पूर्व जो पद्य उद्धृत है वह '**तदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः**' वाक्यके साथ दिया है और प्रस्तुत पद्यको '**तथा ज्ञानात्मनोरभेदोऽप्युक्तः**' वाक्यके साथ दिया है, जिसमें प्रयुक्त 'अपि' शब्द स्वाम्युक्तत्वका सूचक है।

ध्याताको ध्यान कहनेका हेतु

ध्येयाऽर्थाऽऽलम्बनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥७०॥

'**द्रव्यार्थिक** (निश्चय) **नयकी दृष्टिसे ध्येय वस्तुके अव-लम्बनरूप जो ध्यान है वह चूँकि ध्यातासे भिन्न नहीं होता**— ध्याता आत्माको छोड़कर अन्य वस्तुका उसमें आलम्बन नहीं— **इसलिये ध्याता ही ध्यान कहा गया है।**'

व्याख्या—यहाँ कर्तृसाधन-निरुक्तिकी दृष्टिसे[१] ध्याताको

१. 'ध्यायतीति ध्यानमिति बहुलापेक्षया कर्तृसाधनश्च युज्यते।' (तत्त्वा० वा० ९-२७)
'ध्यातीति च कर्तृत्वं वाच्यं स्वातन्त्र्यसंभवात्' (आर्ष २१-१३)

ध्यान कहा गया है; क्योंकि निश्चयनयसे ध्यान ध्यातासे कोई जुदी वस्तु नहीं है—निश्चयनयकी दृष्टिमें ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानके साधनादिका कोई विकल्प ही नहीं होता।

ध्यानके आधार और विषयको भी ध्यान कहनेका हेतु

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माऽधिकरण-द्वयम् ॥७१॥

'निश्चयनयका आश्रय लेनेवालोंके द्वारा चूँकि ध्येयको ध्यातामें ध्याया जाता है इसलिये यह कर्म तथा अधिकरण दोनों रूप भी ध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ कर्मसाधन और अधिकरणसाधन-निरुक्ति-की दृष्टिसे ध्येय और ध्येयके आधारको भी ध्यान कहा गया है; क्योंकि निश्चयनयसे ये दोनों भी ध्यानसे भिन्न नहीं हैं।

ध्यातिका लक्षण

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्सन्तान-वर्तिनी।
ज्ञानाऽन्तराऽपरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥७२॥

'सन्तान-क्रमसे चली आई जो बुद्धि अपने इष्ट-ध्येयमें स्थिर हुई दूसरे ज्ञानका स्पर्श नहीं करती, वह 'ध्याति' रूप ध्यान कही गई है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यातिके स्वरूपका निर्देश करते हुए उसे भाव-साधनकी दृष्टिसे[1] ध्यान कहा गया है। निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्ध स्वात्मा ही ध्येय है। प्रवाहरूपसे शुद्ध-स्वात्मामें वर्तनेवाली बुद्धि जब शुद्ध-स्वात्मामें इतनी अधिक स्थिर हो जाती है कि शुद्धात्मासे

---

१. ध्येयं प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने ध्यातिर्ध्यानमिति भाव-साधनो ध्यान-शब्दः।' (तत्त्वा० वा० ९-२७)
भावमात्राभिधित्सायां ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते। (आर्ष २१-१४)

भिन्न किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानका स्पर्श तक नहीं करती तब वह ध्यानारूढ़बुद्धि 'ध्याति' ही ध्यान कहलाती है। इसी बातको पं० आशाधरजीने 'अध्यात्म-रहस्य'में ध्यातिके निम्न लक्षण-द्वारा व्यक्त किया है :—

सन्तत्या वर्तते बुद्धिः शुद्धस्वात्मनि या स्थिरा।
ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती सा ध्यातिरिह गृह्यताम्॥ ८॥

ध्यानके उक्त निरुक्त्यर्थोंकी नय-दृष्टि

एवं[1] च कर्त्ता करणं कर्माऽधिकरणं फलं।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात्॥७३॥

'इस प्रकार निश्चयनयकी दृष्टिसे यह कर्त्ता, करण, कर्म, अधिकरण और फलरूप सब ध्यान ही कहा गया है।'

व्याख्या—यह पद्य ध्यानकी निरुक्ति तथा तदर्थ-स्पष्टि-विषयक उस कथनके उपसंहारको लिये हुए है जिसका प्रारम्भ 'ध्यायते येन तद्ध्यानं (६७) इस वाक्यसे हुआ था। इसमें स्पष्ट कह दिया गया है कि निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानका कर्त्ता, ध्यानका करण, ध्यानका कर्म, ध्यानका अधिकरण और ध्यानका फल यह सब ध्यानरूप ही है। क्योंकि निश्चयनयका स्वरूप ही '**अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयो निश्चयो नयः**' इस ग्रन्थ-वाक्य (२९) के अनुसार ध्यानके कर्त्ता, करणादिको एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नहीं करता और इसलिये ध्यान शब्दकी निरुक्तियोंमें उन सबका समावेश हो जाता है। यहाँ कर्त्ता आदि पदोंके अन्तमें 'फलं' पदका प्रयोग इस बातका सूचक है कि पूर्वपद्यमें 'ध्याति'-का जो उल्लेख है वह ध्यानफलके रूपमें है।

निश्चयनयसे षट्कारकमयी आत्मा ही ध्यान है

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥७४॥

---

१. मु एकं।

'चूंकि आत्मा अपने आत्माको अपने आत्मामें अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माके लिये अपने आत्महेतुसे ध्याता है। इसलिये कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्कारकरूप परिणत हुआ आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानस्वरूप है।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयकी दृष्टिको और स्पष्ट किया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि आत्मा ही ध्यानके समय किस प्रकारसे षट्कारकमय हुआ ध्यानस्वरूप होता है। जो ध्याता है वह आत्मा (कर्त्ता), जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा (कर्म), जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यानपरिणतिरूप आत्मा (करण), जिसके लिए ध्याता है वह शुद्धस्वरूपके विकास-प्रयोजनरूप आत्मा (सम्प्रदान), जिस हेतुसे ध्याता है वह सम्यग्दर्शनादिहेतुभूत आत्मा (अपादान), और जिसमें स्थित होकर अपने अविकसित शुद्धस्वरूपको ध्याता है वह आधारभूत अन्तरात्मा (अधिकरण) है। इस तरह शुद्धनयकी दृष्टिसे, जिसमें कर्त्ता-कर्मादि भिन्न नहीं होते,[1] अपना एक आत्मा ही ध्यानके समय षट्कारकमय परिणत होता है।

ध्यानकी सामग्री

संग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रत-धारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान-जन्मनि[2] ॥७५॥

'परिग्रहोंका त्याग, कषायोंका निग्रह-नियंत्रण, व्रतोंका धारण और मन तथा इन्द्रियोंका जीतना, यह सब ध्यानकी उत्पत्ति-निष्पत्तिमें सहायभूत-सामग्री है।'

---

१. अभिन्न कर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः। (तत्त्वानु० २९)

२. म मे जन्मने।

व्याख्या—यहाँ संगत्यागमें बाह्य-परिग्रहोंका त्याग अभिप्रेत है; क्योंकि अन्तरंग-परिग्रहमें क्रोधादि कषायें तथा हास्यादि नोकषायें आती हैं, जिन सबका कषायोंके निग्रहमें समावेश है। कुसंगतिका त्याग भी संगत्यागमें आ जाता है—वह भी सद्-ध्यानमें बाधक होती है। व्रतोंमें अहिंसादि महाव्रतों तथा अणु-व्रतों आदिका ग्रहण है। अनशन, ऊनोदर आदिके रूपमें अनेक प्रतिज्ञाएँ भी व्रतोंमें शामिल हैं। इन्द्रियोंके जयमें स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र ऐसे पाँचों इन्द्रियोंका विजय विवक्षित है। ध्यानकी और भी सामग्री है; परन्तु यहाँ सर्वतोमुख्य सामग्रीका उल्लेख है, शेष सामग्रीका 'च' शब्दमें समुच्चय किया गया है उसे अन्य ग्रन्थोंके सहारेसे जुटाना चाहिये। इस ग्रन्थमें भी परिकर्म आदिके रूपमें जो कुछ अन्यत्र कहा गया है उसे भी ध्यानकी सामग्री समझना चाहिए।

इस विषयके विशेष परिज्ञानके लिए ग्रन्थका २१८ वां पद्य और उसकी व्याख्या भी अवलोकनीय है।

मनको जीतनेवाला जितेन्द्रिय कैसे ?

इन्द्रियाणां [1]प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभु[2] ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥७६॥

'**इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें मन प्रभु**—सामर्थ्यवान्-**है, इसलिए** (मुख्यत:) **मनको ही जीतना चाहिये। मनके जीतने पर मनुष्य** (वास्तवमें) **जितेन्द्रिय होता है**—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है।'

---

१. सि जु निवृत्तौ च प्रवृत्तौ।

२. सम्पादनोपयुक्त सभी प्रतियोंमें 'प्रभुः' पाठ है, जो नपुंसकलिंगी 'मनः' पदके साथ ठीक मालूम नहीं होता। 'प्रभु' शब्द त्रिलिंगी है अतः उसका नपुंसकलिंगी 'प्रभु' रूप यहाँ उपयुक्त जान पड़ता है।

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियोंसे भी पहले मनको जीतनेका सहेतुक निर्देश किया गया है और यह बतलाया गया है कि मनको जीतने पर मनुष्य सहज ही जितेन्द्रिय हो जाता है। जिसने अपने मनको नहीं जीता वह इन्द्रियोंको क्या जीतेगा ? मनके संकल्प-विकल्प-रूप व्यापारको रोकना अथवा मनकी चंचलताको दूर कर उसे स्थिर करना 'मनको जीतना' कहलाता है। मनका व्यापार रुकने अथवा उसकी चंचलता मिटनेपर इन्द्रियोंका व्यापार स्वतः रुक जाता है—वे अपने विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होतीं—उसी प्रकार जिस प्रकार कि वृक्षका मूल छिन्न-भिन्न हो जाने पर उसमें पत्र-पुष्पादिककी उत्पत्ति नहीं हो पाती[1]।

इन्द्रिय-घोड़े किसके द्वारा कैसे जीते जाते हैं ?

ज्ञान-वैराग्य-रज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिय-वाजिनः ॥७७॥

'जिसने मनको जीत लिया है उसके द्वारा सदा उन्मार्गगामी इन्द्रियरूपी घोड़े ज्ञान और वैराग्य नामकी दो रज्जुओं–रस्सियों-के द्वारा धारण किये जा सकते—अपने वशमें रक्खे जा सकते—हैं।'

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियोंको उन घोड़ोंकी उपमा दी गई है जो सदा उन्मार्गगामी रहते हैं; उन्हें जितचित्त मनुष्य ज्ञान और वैराग्यकी दोनों रासोंसे अपने आधीन करनेमें समर्थ होता है। ज्ञान और वैराग्य ये दो प्रमुख साधन इन्द्रियोंको वशमें करनेके हैं। अज्ञानी प्राणी इन्द्रिय-विषयोंके गुण-दोषोंका परिज्ञान न

---

१. णट्ठे मनवावारे विसयेसु ण जंति इंदिया सव्वे।
छिण्णे तरुस्स मूले कुत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥६९॥
—आराधनासारे, देवसेनः

होनेसे सदा उनके वशमें पड़े रहते हैं और पंडितजन जो शास्त्रोंका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने विवेकको जागृत नहीं कर पाते और इसलिए इन्द्रिय-विषयोंसे विरक्तिको प्राप्त नहीं होते— उलटा उनकी प्राप्तिको अपना स्वार्थ समझते रहते हैं—वे भी इन्द्रियोंके विषयमें उलझे रहते हैं। अतः जितचित्तके पास सच्चा ज्ञान और वैराग्य दोनों साधन इन्द्रियोंको जीतनेके लिये होने चाहियें। ये दोनों प्रथमतः मनको जीतनेके भी साधन हैं। ज्ञान और वैराग्य तीन लोकमें सार पदार्थ हैं। अपनी पूर्णावस्थामें शिव-स्वरूप होते हैं और अपूर्णावस्थामें ये ही शिव-स्वरूपकी प्राप्तिके साधन बनते हैं[1]। इन्द्रियोंका जय (संयम) शिव-सुखकी प्राप्तिकी ओर एक बड़ा कदम है। जो यह कदम न उठाकर इन्द्रियोंके दास बने रहते हैं उन्हें न जाने ये उन्मार्गगामी घोड़े किस किस खड्डेमें पटककर दुःखका भाजन बनाते हैं। नीतिकारोंने भी इसीसे इन्द्रियोंके असंयमको विपदा और दुःखोंका मार्ग (हेतु) और उनके जयरूप संयमको सम्पदाओं (सुखों) का मार्ग बतलाया है और इनमेंसे जिस मार्ग पर चलना इष्ट हो उस पर चलनेकी प्रेरणा की है[2]। अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि यदि आप सुख चाहते हो तो इन्द्रियोंको संयमसे स्वाधीन रखो और दुःख चाहते हो तो सदा उनके गुलाम बने रहो।

वास्तवमें देखा जाय तो इन्द्रियाँ उन बिजलियोंके समान हैं जो कंट्रोल (नियंत्रण) में रखे जाने पर हमें प्रकाश प्रदान करतीं तथा हमारे यंत्रोंका संचालन कर हमारे अनेक प्रकारके

---

१. तीन भुवनमें सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारके॥
—पं० दौलतराम, छहढाला

२. आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

कामोंको सिद्ध करती हैं; परन्तु कंट्रोलमें न रहने अथवा न रखे जाने पर वे ही अग्निकाण्डादिके द्वारा हमारा सर्वनाश करने और हमें मार डालने तकमें समर्थ हो जाती हैं।

जिस उपायसे भी मन जीता जासके उसे अपनानेकी प्रेरणा

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तु[1] चलं मनः।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥७८॥

'**जिस उपायसे भी** 'चंचल **मनको भले प्रकार नियंत्रणमें रखा जासके वही उपाय यहाँ उपासनीय है**—व्यवहारमें लिये जाने (अपनाने) के योग्य है—**उससे उपेक्षा धारण कर विरक्त कभी नहीं होना चाहिये**—जो भी उपाय बने उससे मनको सदा अपने वशमें रखना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ चंचल मनको जैसे भी बने अपने वशमें रखने-की सातिशय प्रेरणा की गई है और उसके लिये जो कोई भी उपाय जिस समय उपयुक्त हो उसे उस समय काममें लानेकी लेशमात्र भी उपेक्षा-लापर्वाही न की जानी चाहिये, ऐसा सुझाव दिया है। मनको जीतनेके अनेक उपाय हैं, जिनमेंसे प्रमुख दो उपायोंका निर्देश ग्रन्थकार महोदय स्वयं आगे करते हैं।

मनको जीतनेके दो प्रमुख उपाय

संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियाऽर्थ-पराङ्‌मुखः ॥७९॥

'**जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओंका**—अनित्यादि भावनाओंका—**भले प्रकार चिन्तन करता है, स्वाध्यायमें उद्यमी और इन्द्रिय-विषयोंसे प्रायः मुख मोड़े रहता है वह अवश्य ही** (निश्चित रूपसे) **मनको जीतता है**।'

---

१. ज सि जु तन्नियन्तुं।

व्याख्या—यहाँ मनको जीतनेके दो प्रमुख उपायोंका निर्देश किया गया है—एक अनुप्रेक्षाओंका[1] संचिन्तन, दूसरा स्वाध्यायमें नित्य उद्यमी रहना। इन दोनोंकी साधनामें लगा हुआ साधु पुरुष मनको निश्चित रूपसे जीतता है और (फलतः) इन्द्रिय-विषयोंसे पराङ्मुख होता है। इन्द्रिय-विषयोंसे पराङ्मुखता भी मनको जीतनेका एक साधन होती है और उस अर्थमें उसका आशय इन्द्रिय-विषयोंमें अनासक्तिको समझना चाहिये; क्योंकि इन्द्रिय-विषयोंमें जो मन आसक्त होता है वह इन्द्रियोंको जीतनेमें समर्थ नहीं होता।

इस पद्यमें अनुप्रेक्षाओं-भावनाओंके साथ किसी संख्याविशेष-का उल्लेख नहीं किया गया; इससे अनित्य, अशरण आदि रूपसे प्रसिद्ध जो द्वादश अनुप्रेक्षा अथवा बारह भावनाएँ हैं, उनसे भिन्न दूसरी ज्ञानादि चार भावनाओंका भी यहाँ ग्रहण किया जाना चाहिये, जिनका उल्लेख भगवज्जिनसेनाचार्यने '**ज्ञानदर्शन-चारित्रवैराग्योपगताश्च ताः**' इस वाक्यके साथ अपने आर्ष ग्रन्थ महापुराणके २१वें पर्वमें किया है[2]। तदनुसार वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षण, परिवर्तन (ग्रन्थों, श्लोकों, वाक्योंका कण्ठस्थ करना या पाठ करना) और सद्धर्म-देशना ये ज्ञानकी पांच भावनाएँ हैं, जो प्रायः तत्त्वार्थसूत्रगत स्वाध्याय के पंच भेदोंके रूपमें है[3]। संवेग,

---

१. अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबन्धनम्। (ज्ञाना० ४१-३)

२. ध्यानशतकमें भी इन चारों भावनाओंका उल्लेख है और इनके पूर्वकृत अभ्यासको ध्यानकी योग्यता प्राप्त करनेवाला लिखा है:—
पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य णाण-दंसण-चरित्त-वेरग्ग-जंणियाओ ॥३०॥

३. वाचना-पृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम्।
सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या ज्ञान-भावना ॥ आर्ष २१-९६ ॥

प्रशम, स्थैर्य (धैर्य), असंमूढता, अगर्वता, आस्तिक्य, अनुकम्पा ये सात सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन)की भावनाएँ हैं[1]। ईर्यादि पांच समितियाँ, मन-वचन-कायके निग्रहरूप तीन गुप्तियाँ और परीषह-सहिष्णुता, ये चारित्रकी भावनाएँ हैं[2]। विषयोंमें अनासक्तता, कायतत्त्वका अनुचिन्तन और जगतके स्वभावका विवेचन, ये वैराग्यको स्थिर करनेवाली भावनाएँ हैं[3]। इसी प्रकार अहिंसादिव्रतोंकी जो तत्त्वार्थसूत्रादि-वर्णित २५ भावनाएँ हैं उनका स्वरूप-चिन्तन भी यहाँ ग्रहण किये जानेके योग्य है। साथ ही, दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारण भावनाओंको भी लिया जा सकता है।

स्वाध्यायका स्वरूप

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः[4] पंचनमस्कृतेः।
पठनं[5] वा जिनेन्द्रोक्त-शास्त्रस्यैकाग्र-चेतसा॥८०॥

'पंचनमस्कृतिरूप नमोकारमंत्रका जो चित्तकी एकाग्रताके साथ जपना है वह परम स्वाध्याय है अथवा जिनेन्द्र-कथित शास्त्रका जो एकाग्र चित्तसे पढ़ना है वह स्वाध्याय है।'

व्याख्या—यहाँ स्वाध्यायमें जिस विषयका ग्रहण है उसको स्पष्ट किया गया है और उसके दो भेद किये गये हैं—एक जप और दूसरा पठन। जप पंचनमस्कारका, जो कि **'णमो अरहंताणं**

---

१. संवेगः प्रशमस्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयाः।
आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेयाः सम्यक्त्व-भावनाः॥ आर्ष २१-९७॥

२. ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्-काय-गुप्तयः।
परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावनाः॥ आर्ष २१-९८॥

३. विषयेष्वनभिष्वंगः कायतत्त्वाऽनुचिन्तनम्।
जगत्स्वभावं चिन्त्येति वैराग्य-स्थैर्य-भावनाः॥आर्ष २१-९९॥

४. मु मे जयः। ५. सि जु चिन्तनं।

णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' इस अपराजित मंत्रके रूपमें है, और पठन जिनेन्द्रोक्त शास्त्रका बतलाया है। इन दोनोंके लिए '**एकाग्रचेतसा**' विशेषण खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है। एकाग्रचित्तताके विना न जपना ठीक बैठता है और न पढ़ना। जिस प्रकार जिनागमका एकाग्रचित्तसे पढ़ना स्वाध्याय है उसी प्रकार णमोकार मंत्रका एकाग्रचित्तसे जपना भी स्वाध्याय है। स्वाध्यायके भेदोंमें वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच नाम प्रसिद्ध हैं[1] और इनके कारण ही स्वाध्यायको तत्त्वार्थसूत्रादि आगमग्रन्थोंमें पंचभेदरूप वर्णन किया है। इससे पंच नमस्कृतिके जपको जो यहाँ स्वाध्याय कहा गया है वह कुछ खटकने जैसी बात मालूम होती है; परन्तु विचारने पर खटकनेकी कोई बात मालूम नहीं होती; क्योंकि यहाँ एकाग्रचित्तसे जपकी बात विवक्षित है, तोता-रटन्तके तौर पर नहीं। एकाग्रचित्तसे जब अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियोंके स्वरूपका ध्यान किया जाता है तो उससे बढ़कर दूसरा स्वाध्याय(स्व अध्ययन) और क्या हो सकता है? प्रवचनसारमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने लिखा है कि 'जो अर्हन्तको द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्वके द्वारा जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है[2]। अतः एकाग्रचित्तसे पंचपरमेष्ठियोंके स्वरूपको स्वानुभूतिमें लाते हुए जो णमोकार मंत्रका जप है, वह परम स्वाध्याय है, इसमें विवादके लिये कोई स्थान नहीं है। योगदर्शनमें भी प्रणवादिके जपको तथा मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय बतलाया है; जैसाकि उसके '**तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः**' इस सूत्रके निम्न भाष्यसे प्रकट है:—

१. त० सू० ९-२५

२. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ।'

स्वाध्यायसे ध्यान और ध्यानसे स्वाध्याय

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमाऽऽमनेत् ।
ध्यान-स्वाध्याय-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।८१।।

'(साधकको चाहिये कि वह) **'स्वाध्यायसे ध्यानको अभ्यास-में लावे और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करे। ध्यान और स्वाध्याय दोनोंकी सम्पत्ति-सम्प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता** है—स्वानुभवमें लाया जाता है।'

व्याख्या—यहाँ स्वाध्याय और ध्यान दोनोंको एक दूसरेके अभ्यासमें सहायक बतलाया है और इसलिए एकके द्वारा दूसरेके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है। साथ ही यह सूचना भी की गई है कि दोनोंका अभ्यास परिपक्व हो जानेसे परमात्मा—परमविशुद्ध आत्मा-स्वानुभूतिका विषय बन जाता है—उसके लिये फिर किसी विशेष यत्नकी ज़रूरत नहीं रहती।

जिस स्वाध्यायके द्वारा ध्यानका अभ्यास बनता है उसकी गणना द्वादशविध तपोंमेंसे छह प्रकारके अन्तरंग तपोंमें की गई है। स्वाध्याय तपका माहात्म्य वर्णन करते हुए मूलाचार ग्रन्थमें लिखा है कि—'बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकारके तपोनुष्ठानमें स्वाध्यायके समान तप न है और न होगा। स्वाध्याय-में रत साधु पांचों इन्द्रियोंको वशमें किये रहता है, मन-वचन-काय-योगके निरोधरूप त्रिगुप्तियोंको अपनाता है, एकाग्र-मन और विनयसे युक्त होता है:—

बारस[1]-विहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहि सज्झायसमो(मं) तवो कम्मं ।।

---

१. स बाह्याभ्यन्तरे चास्मिन्, तपसि द्वादशात्मनि ।
न भविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन समं तपः ।।—आर्ष २०-१९८

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदिसंवुडो तिगुत्त य ।
हवदि य एकग्गमणो-विणएण समाहिओ भिक्खू ॥

—मूला० ५-२१२,२१३

इसीसे आत्मप्रबोधमें विधिपूर्वक स्वाध्यायको, जिसमें मन ज्ञानके ग्रहण-धारणरूप, शरीर विनयसे विनियुक्त, वचन पाठाधीन और इन्द्रियोंका समूह नियत एवं नियंत्रित रहता है, 'समाध्यन्तर'—कर्मक्षयकरी समाधिका एक भेद—बतलाया है। साथ ही, यह भी सूचित किया है कि ऐसे विधिपूर्वक स्वाध्यायरतके गुप्तियों-समितियोंका सहज पालन होता है और बद्धमूल हुई तीनों शल्यें—माया, मिथ्या, निदान—उखड़ जाती हैं।[१]

वास्तवमें देखा जाय तो स्वाध्याय आदि शेष तपोयोग और द्वादश अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) ये सब ध्यानके ही परिकर एवं परिवार हैं; जैसाकि आर्षके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

ततो दध्यावनुप्रेक्षा दिध्यासुर्धर्म्यमुत्तमम् ।
परिकर्ममितास्तस्य शुभा द्वादशभावनाः ॥२०-२२६॥
ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषाः परिकरा मताः ।
ध्यानाभ्यासे ततो यत्नः शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥२१-२१५॥

---

१. मनो बोधाऽधानं विनय-विनियुक्तं निजवपुः
वचः पाठायत्तं करण-गणमाधाय नियतम् ।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम् ॥५१॥
गुप्तित्रयं भवति तस्य सुगुप्तमेव शल्यत्रयीमुदखनच्च स बद्धमूलां ।
तस्य स्वयं समितयः समिताश्च पंच, यस्याऽऽगमे विधिवदध्ययनाऽनुबन्धः ॥५२॥

वर्तमानमें ध्यानके निषेधक अर्हन्मतानभिज्ञ हैं

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।
तेऽर्हन्मताऽनभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मनः स्वयम् ॥८२॥

'जो लोग यहाँ यह कहते हैं कि ध्याता पुरुषोंके लिये यह काल ध्यानका नहीं है वे स्वयं अपनी अर्हन्मताऽनभिज्ञता—जिन-मतसे अजानकारी—**व्यक्त करते हैं।'**

व्याख्या—यहाँ उन लोगोंको जिनमतसे अनभिज्ञ बतलाया है जो यह कहते हैं कि इस क्षेत्रमें वर्तमान काल धर्म्यध्यानके लिये उपयुक्त नहीं है; क्योंकि जिनमतमें ऐसा कहीं कोई निषेधात्मक विधान नहीं है, प्रत्युत इसके श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने मोक्ख-पाहुडमें साफ लिखा है :—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स ।
तं अप्पसहावट्ठिये ण हु मण्णई सो दु अण्णाणी ॥७६॥

अर्थात्—इस भरतक्षेत्र तथा दुःषम पंचमकालमें ज्ञानीके धर्म्यध्यान होता है और वह आत्मस्वभावमें स्थित—आत्म-भावनामें तत्परके होता है, जो इसे नहीं मानता है वह अज्ञानी है।

इससे पूर्वकी तीन गाथाओंमें ऐसा कहने वालोंको चारित्र-मोहनीय कर्मसे अभिभूत, व्रतोंसे वर्जित, समितियोंसे रहित, गुप्तियोंसे विहीन, संसारसुखमें लीन और शुद्धभावसे प्रभ्रष्ट बतलाया है, जिनमें एक गाथा इस प्रकार है—

चरियावरिया वद-समिदि-वज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा ।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

श्रीदेवसेनाचार्यने भी, तत्त्वसारमें, ऐसा कहनेवालोको 'शंका-कांक्षामें फँसे हुए, विषयोंमें आसक्त और सन्मार्गसे प्रभ्रष्ट बत-लाया है :—

संकाकंखागहिया विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ॥१४॥

शुक्लध्यानका निषेध है धर्म्यध्यानका नहीं

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां [1]प्राग्विवर्तिनाम् ॥८३॥

'यहाँ इस (पंचम) कालमें जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यानका निषेध करते हैं परन्तु दोनों श्रेणियों (उपशम और क्षपक) से पूर्वव-तियोंके धर्म्यध्यान बतलाते हैं—इससे ध्यानमात्रका निषेध नहीं ठहरता।'

व्याख्या—यहाँ पिछले पद्यकी बातको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस कालमें जिस ध्यानका निषेध किया गया है वह शुक्लध्यान है—धर्म्यध्यान नहीं। धर्म्यध्यानका विधान तो आगम-में उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियोंके पूर्ववर्तियोंके, उस ध्यानके स्वामियोंका निरूपण करते हुए, बतलाया गया है। इससे अप्रमत्त ही नहीं, किन्तु अगले अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म-सांपराय नामके तीन गुणस्थानवर्ती जीव भी धर्म्यध्यानके स्वामी हैं, ऐसा जानना चाहिये। आर्ष (महापुराण) और तत्त्वार्थवार्तिक-भाष्यमें भी इसका उल्लेख है; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"श्रुतेन विकलेनाऽपि ध्याता स्यान्मुनिसत्तमः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः ॥"

—आर्ष २१-१०२

"तदुभयं तत्रेति चेन्न पूर्वस्यानिष्टत्वात्। स्यादेतत्—उभयं

---

१. सि जु प्राक्प्रवर्तिनां।

धर्म्यं-शुक्लं चोपशान्त-क्षीणकषाययोरस्तीति ? तन्न, किं कारणम्, पूर्वस्यानिष्टत्वात्, पूर्वो हि धर्म्यं-ध्यानं श्रेण्योर्नेष्यते आर्षे, पूर्वेषु चेष्यते।" तत्त्वा० वा० भा० ६-३६-१५

वज्रकायके ध्यान-विधानकी दृष्टि

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।

श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तन्निषेधकम् ॥८४॥

'उधर आगममें जो 'वज्रकायस्य ध्यानं'—वज्रकायके ध्यान होता है—ऐसा वचन-निर्देश है वह दोनों श्रेणियोंके ध्यानको लक्ष्यमें लेकर कहा गया है और इसलिए वह नीचेके गुणस्थानवर्तियोंके लिए ध्यानका निषेधक नहीं है।'

व्याख्या—"वज्रकायस्य ध्यानम्' यह वाक्य 'आर्ष' नामक आगमग्रन्थका है, जिसमें ध्यानका लक्षण और उस कालकी उत्कृष्ट-मर्यादाका निर्देश करते हुए ध्यान-स्वामीके उल्लेखरूपमें इसे दिया है; जैसाकि उसके निम्न पद्यसे व्यक्त है :—

ऐकाग्र्येण निरोधः यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि।

तद्ध्यानं वज्रकायस्य भवेदाऽन्तर्मुहूर्ततः ॥२१-८॥

श्रेणियाँ दो हैं—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। क्षपकश्रेणिका चढ़ना आद्यसंहनन 'वज्रवृषभनाराच' के द्वारा ही बन सकता है और उसीसे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। उपशमश्रेणिका चढ़ना तीनों प्रशस्त संहननों—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच—के द्वारा हो सकता है[1]। इसलिए वज्रकायको ध्यानका स्वामी बतलाना श्रेणियोंके ध्यानकी अपेक्षाको लिए हुए है, उनसे नीचेके चार गुणस्थानवर्तियोंसे उसका सम्बन्ध नहीं है—वे वज्रकाय न होने पर भी धर्म्यध्यानके स्वामी होते हैं।

---

१. आद्यसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिश्रितः।
त्रिभिराद्यैर्भजेच्छ्रेणीमितरां श्रुततत्त्ववित् ॥ आर्ष २१-१०४।

वर्तमानमें ध्यानका युक्तिपुरस्सर समाधान

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागर-पारगाः ।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥८५॥
चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य सम्प्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्ति [1]माऽऽचरन्तु तपस्विनः ॥८६॥

'यदि आजकल श्रुतसागरके पारगामी ध्याता नहीं हैं—और इसलिये ऊँचे दर्जेका ध्यान नहीं बनता—तो क्या अल्पश्रुतोंको अपनी शक्तिके अनुसार (नीचे दर्जेका) ध्यान न करना चाहिये ? यदि इस समय यथाख्यातचारित्रके आचरिता नहीं हैं तो क्या दूसरे तपस्वी अपनी शक्तिके अनुसार (नीचे दर्जेके) चारित्रका आचरण न करें ?'

व्याख्या—जो लोग ऊँचे दर्जेके ध्यानकी बातोंसे अभिभूत हुए आजकलके समयको ध्यानका काल नहीं बतलाते उनसे यहाँ दो प्रश्न पूछे गये हैं। पहला प्रश्न यह है कि यदि आजकल श्रुत-सागरके पारगामी श्रुतकेवली जैसे ध्याता नहीं हैं तो क्या दूसरे अल्पश्रुतके धारक मुनियों आदिको अपनी सामर्थ्यके अनुसार ध्यान करना ही न चाहिये ? इसका उत्तर यदि वे विधि में देते हैं तब तो उनकी आपत्ति ही समाप्त हो जाती है और यदि उत्तर निषेधमें देते हैं अर्थात् यह प्रतिपादन करते हैं कि अल्पश्रुतको ध्यान करना ही न चाहिये तो फिर दूसरा प्रश्न यह पैदा होता है कि आजकल मोक्ष-प्राप्तिके पूर्ववर्ती यथाख्यातचारित्रका आच-रण करनेवाले भी कोई नहीं हैं तब क्या दूसरे साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार तत्पूर्ववर्ती चारित्रका अनुष्ठान न करना चाहिये ? इसका उत्तर यदि विधि में दिया जाता है तो पूर्व प्रश्न-

१. सि जु नाचरंती ।

का उत्तर निषेधमें देनेके लिये कोई कारण नहीं रहता। और यदि इस प्रश्नका उत्तर भी निषेधमें दिया जाता है तो फिर सामायिकादि दूसरे किसीभी चारित्रका अनुष्ठान इस कालमें नहीं बनता। इस तरह सम्यक्चारित्रका ही लोप ठहरता है और सम्यक्चारित्रके लोपसे धर्मके लोपका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः जो लोग वर्तमानकालको ध्यानके सर्वथा अयोग्य बतलाते हैं उनके कथनमें कोई सार नहीं है, वे अपने इस कथन-द्वारा अर्हन्मतसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं; जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

सम्यक्अभ्यासीको ध्यानके चमत्कारोंका दर्शन

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतम् ।
धारणा-सौष्ठवाद् [1]ध्यान-प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

'जो यथार्थगुरुके उपदेशसे निरन्तर (ध्यानका) अभ्यास करता है वह धारणाके सौष्ठवसे—अपनी सम्यक् और सुदृढ अवधारण-शक्तिके बलसे—ध्यानके प्रत्ययोंको भी देखता है—लोकचमत्कारी ज्ञानादिके अतिशयोंको[2] भी प्राप्त होता है।'

व्याख्या—जिन लोगोंको ऐसा खयाल है कि ध्यानका कोई चमत्कार आजकल देखनेमें नहीं आता, इसलिए ध्यान करना निरर्थक है, उन्हें इस पद्यमें ध्यानके चमत्कारोंका आश्वासन दिया गया है और यह बतलाया गया है कि जो ध्याता यथार्थगुरुके उपदेशको पाकर उसके अनुसार निरन्तर भले प्रकार ध्यानका

---

१. मु ध्यानं प्रत्ययानपि।

२. पं० आशाधरजीने इष्टोपदेशके ४०वें पद्यकी टीकामें 'ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः' ऐसा लिखकर प्रमाणमें 'तथा चोक्तं' वाक्यके साथ इस ग्रन्थके उक्त पद्यको उद्धृत किया है, जिससे 'ध्यान-प्रत्ययान्' पदका स्पष्ट आशय ध्यानके चमत्कारों तथा अतिशयोंसे जान पड़ता है।

अभ्यास करता है उसकी ध्यान-विषयक धारणाएँ जब सम्यक् और सुदृढ हो जाती हैं तब वह ध्यानके चमत्कारों-ज्ञानादिविषयक अतिशयोंको भी प्राप्त होता है। अतः निराश होनेकी कोई बात नहीं है। सम्यग्गुरुसे ध्यानविषयक उपदेशकी प्राप्ति करके उसके अनुसार निरन्तर ध्यानके अभ्यासकी क्षमताको बढ़ाना चाहिए। सम्यग्गुरुमें साक्षात् और परोक्ष दोनों प्रकारके गुरु शामिल हैं, साक्षात् गुरु वह जो ध्यानकी कला एवं विधि-व्यवस्थासे भली प्रकार अवगत तथा अभ्यास-द्वारा उसे जीवनमें उतारे हुए हो और जिज्ञासुको उसके देनेमें उदार, निस्पृह एवं निष्कपट हो। परोक्ष गुरु वह जिसने ध्यान-विषयक अपने अनुभवोंको पूर्व-गुरु-वाक्योंके साथ अथवा उनके विना ही श्रुत-निबद्ध किया हो।

यहाँ 'धारणा-सौष्ठवात्' पदमें प्रयुक्त 'धारणा' शब्दका अभिप्राय उन मारुती, तैजसी और आप्या नामकी धारणाओंसे है जिनका उल्लेख आगे ग्रन्थके १८३वें पद्यमें किया गया है और जिनके स्वरूपकी अतीव संक्षिप्त एवं रहस्यमय सूचना उससे आगे-के कुछ पद्योंमें दी गई है। श्रुतनिर्दिष्ट बीजों (बीजमन्त्रों) के अवधारण (संसाधन) को भी धारणा कहते हैं[1]। इस अर्थकी दृष्टिसे अग्रोल्लिखित बीजमन्त्रोंकी भले प्रकार सिद्धिसे ध्यानके प्रत्ययों–चमत्कारोंका दर्शन होता है, ऐसा आशय निकलता है।

अभ्याससे दुर्गम-शास्त्रोंके समान ध्यानकी भी सिद्धि

[2]यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि[3] ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥८८॥

---

१. धारणा श्रुतनिर्दिष्ट-बीजानामवधारणम् । (आर्ष २१-२२७)

२. अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं यथैति दुर्वोधमपीह शास्त्रम् ।
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तुकामः ॥
—अमितगत्युपासकाचार १०-१११

३. ज महन्त्यपि ।

'जिस प्रकार अभ्याससे महाशास्त्र भी स्थिर-सुनिश्चित हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यासियोंका ध्यान भी स्थिरताको—एकाग्रता अथवा सिद्धिको—प्राप्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके अभ्यासियोंको ध्यानसिद्धिका आश्वासन देते हुए ध्यानके अभ्यासको बराबर बढ़ाते रहनेकी प्रेरणा की गई है और शास्त्राभ्यासके उदाहरण-द्वारा यह समझाया गया है कि जिस प्रकार बड़े-बड़े कठिन शास्त्र भी, जो प्रारम्भमें बड़े ही दुर्गम तथा दुर्बोध मालूम होते हैं, बराबर पढ़ने तथा मनन करनेके अभ्यास-द्वारा सुगम तथा सुखबोध हो जाते हैं, उसी प्रकार सतत अभ्यासके द्वारा ध्यान भी, जो पहले कुछ डांवाडोल रहता है, स्थिरताको प्राप्त हो जाता है; और यह स्थिरता ही ध्यानके चमत्कारोंको प्रकट करनेमें समर्थ होती है। सच है 'करत करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान। रसरी आवत-जात-तें सिल पर पड़त निशान ॥' अतः ध्यानके अभ्यासमें ज़रा भी शिथिल तथा हतोत्साह न होना चाहिये, श्रद्धाके साथ उसे बराबर आगे बढ़ाते रहना चाहिये।

ध्याताको परिकर्मपूर्वक ध्यानकी प्रेरणा

यथोक्त-लक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा[1]।
तदेदं[2] परिकर्मादौ[3] कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥८६॥

'यथोक्त लक्षणसे युक्त ध्याता जब ध्यान करनेके लिए उत्साहित होता है तब वह धीरबुद्धि आरम्भमें इस (आगे लिखे) परिकर्मको—संस्कार अथवा उपकरण-सामग्रीके सज्जीकरणको—करके ध्यान करे—इससे उसको ध्यानमें स्थिरता एवं सिद्धिकी प्राप्ति हो सकेगी।'

---

१. मु यथा। २. मु तदेव; मे तदैवं; सि जु तदैतत्। ३. सि परिकर्मादीन्।

व्याख्या—यहाँ ध्यानके लिए उत्साहित यथोक्तलक्षण ध्याता-को प्रारम्भमें कुछ परिकर्म करनेको—साधक कारणोंको जुटाने तथा बाधक कारणोंको हटानेकी—प्रेरणा की गई है, जिसका रूप अगले छह पद्योंमें दिया है। यह परिकर्म एक प्रकारकी ध्यानकी तैयारी अथवा संस्कृति है, जिससे अपनेको यथासाध्य संस्कारित एवं सुसज्जित करना ध्याताका पहला कर्तव्य है।

विवक्षित परिकर्मका स्वरूप

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्री-पशु-क्लीव-जीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे[1] ॥९०॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाऽचेतनाऽशेष-ध्यानविघ्न-विवर्जिते ॥९१॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखाऽऽसीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं निःकम्पाऽवयवं दधत्[2] ॥९२॥
नासाऽग्रन्यस्त-निष्पन्द-लोचनो मन्दमुच्छ्वसन्।
द्वात्रिंशद्दोष-निर्मुक्त-कायोत्सर्ग-व्यवस्थितः[4] ॥९३॥

---

१. स्त्रीपशुक्लीवसंसक्तरहितं विजनं मुनेः।
सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः॥ (आर्ष २१-७७)
निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसील-वज्जियं जइणो।
ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाण-कालम्मि॥
—ध्यानशतक ३५

२. सममृज्वायतं बिभ्रद्गात्रमस्तब्धवृत्तिकम्॥ (आर्ष २१-६०)

३. नात्युन्मिषन्न चात्यन्तं निमिषन्मन्दमुच्छ्वसन्॥ (आर्ष २१-६२)

४. पर्यंक इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः।
समप्रयुक्तसर्वाङ्गो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः॥ (आर्ष २१-६९)

[1]प्रत्याहृत्याऽक्ष-लुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।
चिन्तां चाऽऽकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येय-वस्तुनि ॥९४॥
निरस्त-निद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरम् ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये ॥९५॥

'जहाँ स्त्रियों, पशुओं, नपुंसक जीवों तथा क्षुद्र-मनुष्यों आदिका भी संचार न हो ऐसे शून्यागार (खाली पड़े घर) में या गुफामें अथवा अन्य किसी ऐसे स्थानमें जो अच्छा साफ हो, जीव-जन्तुओंसे रहित प्रासुक—पवित्र हो, ऊँचा-नीचा न होकर समस्थल हो और चेतन-अचेतनरूप सभी ध्यानविघ्नोंसे विवर्जित हो, दिनको अथवा रात्रिके समय, भूमि पर अथवा शिलापट्ट पर सुखासनसे बैठा हुआ या खड़ा हुआ, निश्चल अंगोंका धारक सम और सरल लम्बे शरीरको लिए हुए, नाकके अग्रभागमें दृष्टिको निश्चल किए हुए, धीरे-धीरे श्वास लेता हुआ, बत्तीस दोषोंसे रहित कायोत्सर्गसे व्यवस्थित हुआ, इन्द्रियोंरूप लुटेरोंको उनके विषयोंसे प्रयत्नपूर्वक हटाकर और सर्वविषयोंसे चिन्ताको खींचकर तथा ध्येयवस्तुमें रोककर निद्रारहित, निर्भय और निरालस्य हुआ ध्याता अन्तर्विशुद्धिके लिए स्वरूप अथवा पररूपको ध्यावे।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें ध्यानके लिए जिस परिकर्मकी आवश्यकता व्यक्त की गई है उसका कुछ संक्षिप्तरूप इन पद्योंमें दिया गया है। ध्यानके लिए देश, काल, अवस्थादिको ठीक करनेकी जरूरत होती है उनमेंसे देशके विषयमें यहाँ यह सूचित किया गया है कि वह या तो ऐसा शून्यागार (सूना मकान) तथा गुफा हो जिसमें स्त्री-पशु-नपुंसक-जीवोंका तथा क्षुद्र-पुरुषोंका

---

१. हृषीकाणि तदर्थेभ्यः प्रत्याहृत्य ततो मनः ।
संहृत्य धियमव्यग्रां धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥ (आर्ष २१-१०६)

आवागमन न हो और या कोई दूसरा ऐसा प्रदेश हो जो प्रशस्त, प्रासुक, पवित्र तथा मरुभूमिको लिए हुए हो और उन सभी चेतन-अचेतन पदार्थोंसे रहित हो जो ध्यानमें विघ्नकारक हों। इन स्थानोंमें बैठकर या खड़े होकर ध्यान करनेके लिए भूतल तथा शिलापट्टको उपयुक्त बतलाया है। भूतलमें उपलक्षणसे ईंट चूने आदिका फर्श और शिलापट्टमें काष्ठपट्ट-चौकी-चटाई आदि शामिल हैं। कालके विषयमें कोई विशेष सूचना नहीं की, केवल इतना ही लिख दिया कि वह दिनका हो या रातका, और इसलिए वह जिस समय भी बन सके अपनी ध्यान-परिणतिके अनुरूप चुना जाना चाहिए[1]। अवस्थाके विषयमें यह सूचित किया गया है कि वह बैठकर तथा खड़ा होकर दोनों अवस्थाओंसे किया जाता है[2]। दोनों प्रमुख अवस्थाओंमें आसन सुखासन, शरीरके अंगोंका अकम्पन, दृष्टिका नासिकाके अग्र-

---

१. ध्यानशतककी निम्न गाथामें स्पष्ट लिखा है कि ध्यान करनेवालोंको दिन-रातकी वेलाओंका कोई नियम नहीं है, जिस समय भी योगोंका उत्तम समाधान बन सके वही काल ग्रहण किये जानेके योग्य है:—

"कालो वि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
ण उ दिवस णिसा बेलाइणियमणं झाइणो भणियं ॥३८॥

२. श्रीजिनसेनाचार्यके आर्षग्रन्थमें और श्रीजिनभद्र-नामाङ्कित ध्यानशतकमें देहकी उस सब अवस्थाको जो ध्यानकी विरोधिनी नहीं है ध्यानके लिए ग्रहण किया है, चाहे वह खड़े, बैठे या लेटे रूपमें हो:—

"देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानविरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत्स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्य वा ॥आर्ष २१-७५॥
"जच्चिय देहावस्था जिया ण झाणोपरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ णिसण्णो णिवण्णो वा" ॥ध्यानश० ३९॥

भाग पर अवस्थान, नयनोंका अचंचलपना और श्वासोच्छ्वासका संचार मन्द-मन्द होना चाहिए।

सुखासनके विषयमें यहाँ कोई खास सूचना नहीं की गई। इस विषयमें भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने आर्षग्रन्थ महापुराणके २१ वें पर्वमें सुखासनकी आवश्यकता व्यक्त करते हुए यह सूचित किया है कि पर्यङ्कासन (पल्यङ्कासन) और कायोत्सर्ग दोनों सुखासन हैं। इनसे भिन्न दूसरे आसन विषम आसन हैं[1]। साथ ही पर्यङ्कासनका स्वरूप यह दिया है कि 'अपने पर्यङ्कमें बाएँ हाथको और इसके ऊपर दाहिने हाथको इस तरह रक्खा जाय कि जिससे दोनों हाथोंकी हथेलियाँ ऊपरकी ओर (उत्तानतल) हों'[2]। पैरोंके विन्यासका कोई नियम नहीं दिया अथवा ग्रन्थप्रतिमें छूट गया जान पड़ता है, जो कि होता अवश्य है; जैसा कि पं० आशाधर-जी-द्वारा अनगारधर्मामृतकी टीकामें उद्धृत तीन पुरातन पद्योंसे जाना जाता है, जिनमेंसे एक पद्य इस प्रकार है —

स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति।
पर्यंको नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तरपाणिकः॥

यह पद्य योगशास्त्रके चौथे प्रकाशका १२५ वां पद्य है। इसमें नाभिसे मिली हाथोंकी उपर्युक्त स्थितिके साथ एक पैरको जंघा (पिंडली) के नीचे और दूसरेको जंघाके ऊपर रखनेकी सूचना की गई है।

---

१. वैमनस्ये च किं ध्यायेत्तस्मादिष्टं सुखासनम्।
कायोत्सर्गश्च पर्यंकस्ततोऽन्यद्विषमासनम् ॥२१-७१॥
तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः।
प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कमामनन्ति सुखासनम् ॥२१-७२॥

२. स्वपर्यंके करं वामं न्यस्तोत्तानतलं पुनः।
तस्योपरीतरं पाणिमपि विन्यस्य तत्समम् ॥आर्ष २१-६१॥

कायोत्सर्गको ३२ दोषोंसे रहित बतलाया है, जिनका स्वरूप मूलाचार, अनगारधर्मामृतादि दूसरे ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है।

इन्द्रिय-लुटेरे अनादि अविद्याके वश विना किसी विशेष प्रयत्नके स्वतः विषयोंकी ओर प्रवृत्त होते हैं। अतः उन्हें प्रयत्न-पूर्वक अपने विषयोंसे हटाकर और चिन्ताको अन्य सब ओरसे खींचकर ध्येय-वस्तुकी ओर लगानेकी इस परिकर्ममें विशेष प्रेरणा की गई है। साथ ही यह भी प्रेरणा की गई है कि ध्याताको निद्रारहित, भयरहित और आलस्यरहित होकर आत्म-विशुद्धिके लिये स्वरूप तथा पररूपका ध्यान करना चाहिए। पररूपमें मुख्यतः पंचपरमेष्ठिका ध्यान समाविष्ट है, जिसका ग्रन्थमें अन्यत्र (पद्य ११९ में) निर्देश है। निद्रा, भय और आलस्य तीनों ध्यानकी सिद्धिमें प्रबल बाधक हैं अतः सतत अभ्यासके द्वारा इनको जीतनेका पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये।

परिकर्ममें और भी कितनी ही बातें शामिल होती हैं, जिनमें कुछका समावेश ध्याताके स्वरूप-वर्णनमें आचुका है।

यहाँ सुखासन-विषयक विशेष जानकारीके लिए यशस्तिलकके 'ध्यानविधि' नामक ३९ वें कल्पके निम्न पद्योंको ध्यानमें लेनेकी ज़रूरत है:—

संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोपरि युक्तितः ।
भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्म-वीर-सुखासनम् ।।

तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—

गुल्फोत्तान-कराङ्गुष्ठ-रेखा-रोमालि-नासिका ।
समदृष्टिः समाः कुर्यान्नाऽतिस्तब्धो न वामनः ।।
तालत्रिभाग-मध्याङ्घ्रिः स्थिर-शीर्ष-शिरोधरः ।
सम-निष्पन्दपार्ष्ण्यग्र-जानु-भ्रू-हस्त-लोचनः ।।

न खात्कृतिर्न कण्डूतिर्नोष्ठभक्तिर्न कम्पितिः ।
न पर्वगणितिः कार्या नोक्तिरन्दोलितिः स्मितिः ॥
न कुर्याद्दूरदृक्पातं नैव केकरवीक्षणम् ।
न स्पन्दं पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥

इनमेंसे पहले पद्यमें पद्मासन, वीरासन और सुखासनका सामान्य-रूप दिया है—समगुल्फ-स्थितिमें स्थित दोनों पदों (पैरों) को ऊरुवों (सक्थियों thighs) के नीचे रखनेसे पद्मासन, ऊपर रखनेसे वीरासन और एक (वाम) पदको ऊरुके नीचे तथा दूसरे (दक्षिण) पदको ऊरुके ऊपर रखनेसे सुखासन बनता है।

उक्त आसनोंमें सुखासनका लक्षण यह है, ऐसा सूचित करते हुए उत्तरवर्ती पद्योंमें उसका जो विशेष-रूप दिया है वह इस प्रकार है:—

'गुल्फों-पैरोंके टखनोंके ऊपर हथेलियाँ ऊर्ध्वमुख किये बाएँके ऊपर दाहिनेके रूपमें रक्खे हुए दोनों हाथोंके अंगूठोंकी रेखाएँ, नाभिके ऊपरकी रोमालि और नासिका ये सम को जानी चाहियें—विषम स्थितिमें न रहें—; दृष्टि भी सम होनी चाहिये—इधर-उधरको फिरी हुई नहीं; और शरीरको न तो अधिक तानकर रक्खा जाय और न आगेको या इधर-उधर झुका कर वामनरूपमें ही रक्खा जाय। दोनों पैरोंके मध्यमें—एक पैरकी एड़ीसे दूसरे पैरकी एड़ीके बीचमें—चार अंगुलका अन्तराल रहे; शिर और ग्रीवा स्थिर रहें—इधर-उधरको डोलें नहीं; एड़ियोंके अग्रभाग, घुटने, भौंहें, हाथ और नेत्र सम तथा निश्चल रहें। खंखारना, खुजाना, होठोंको चलाना, कांपना, अंगुलि-पर्वोंपर गिनती करना, बोलना, शरीरका इधर-उधर डुलाना और मुस्कराना ये कार्य न किये जाँय। इसी तरह दूर दृष्टिपात करना—दूरवर्ती वस्तुको देखना, तिरछी नजरसे देखना,

वार-वार पलक झपकना, ये सब भी न होकर नाकके अग्रभाग पर दृष्टि रखकर तिष्ठना चाहिये।'

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि यशस्तिलकके उक्त पहले पद्यमें सुखासनका जो सामान्य रूप दिया है वह अन्यत्र (योगशास्त्र, अमितगति-श्रावकाचार[1] आदि ग्रन्थोंमें) वर्णित पर्यङ्कासनके रूपसे मिलता-जुलता है। भेद इतना ही है कि अन्यत्र पदोंको जंघाओंके नीचे-ऊपर (एक पदको नीचे दूसरेको ऊपर) रखनेकी व्यवस्था है। तब यशस्तिलककर्ता सोमदेवाचार्यने उन्हें ऊर्वो (Thighs) के नीचे-ऊपर रखनेकी सूचना की है, और यह एक प्रकारका साधारणसा मतभेद है। इस मतभेदके साथ सोमदेवजीके सुखासनको पर्यङ्कासन ही समझना चाहिये, जिसे श्रीजिनसेनाचार्यने अधिक सुखासन बतलाया है। सुखासनके जो विशेष लक्षण यशस्तिलकमें दिये गये हैं वे प्राय: दूसरे पद्मासनादिकसे भी सम्बन्ध रखते हैं; उन्हें सुखासनके साथ दिये जानेका अभिप्राय इतना ही जान पड़ता है कि सुखासनको कोई यों ही ऊरुके नीचे-ऊपर पैरोंको रखकर जैसे-तैसे सुखपूर्वक बैठ जानेका नाम ही न समझले। उसे ध्यानासनकी दृष्टिसे ध्यानविधि-परक कुछ अन्य बातोंको भी ध्यानमें रखना होगा।

नय-दृष्टिसे ध्यानके दो भेद

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम् ॥९६॥

'जैन आगममें ध्यानको निश्चयनय और व्यवहारनयके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है—पहला निश्चयध्यान स्वरूपके अवल-

---

१. अमितगतिश्रावकाचारका पर्यंकासन-लक्षण—
बुधैरुपर्यधोभागे जंघयोरुभयोरपि।
समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यंकासनमासनम् ॥८-४६॥

स्वनरूप है और दूसरा व्यवहारध्यान परके अवलम्बनरूप है ।'

व्याख्या—यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंकी दृष्टिसे ध्यानके आगमानुसार दो भेद करके एकको स्वरूपावलम्बी और दूसरेको परावलम्बी बतलाया है। स्वरूपावलम्बी ध्यानमें आत्माके शुद्धस्वरूपके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ध्यानका विषय नहीं रहती, जब कि परावलम्बी ध्यानमें दूसरी वस्तुओंका अवलम्बन लिया जाता है—उन्हें ध्यानका विषय (ध्येय) बनाया जाता है। निश्चयनयका स्वरूप ही 'अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक' है और इसलिये उसमें किसी दूसरेका अवलम्बन लिया ही नहीं जा सकता—ध्याता भिन्न, ध्येय भिन्न और करणादिक भिन्न हों, ऐसा उसमें कुछ भी नहीं बनता—और इसीलिये उसे निरालम्ब तथा दूसरेको सालम्ब ध्यान भी कहा जाता है; जैसाकि श्रीपद्मसिंह मुनिके ज्ञानसारगत निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है—

किं बहुणा सालंबं झाणं परमत्थणएण णाऊणं ।
परिहरह कुणह पच्छा झाणब्भासं निरालंबं ।।३७।।

इसमें पूर्वसे किये जाने वाले व्यवहारनयाश्रित सालम्बध्यानको छोड़ कर निरालम्ब-ध्यानके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है, और इससे दोनों ध्यानोंके अभ्यासका क्रम भी स्पष्ट हो जाता है।

निश्चयकी अभिन्न, व्यवहारकी भिन्न संज्ञा और
भिन्न ध्यानाभ्यासकी उपयोगिता

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते ।
भिन्ने तु[1] विहिताऽभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ।।९७।।

'अथवा पहला निश्चयनयावलम्बी ध्यान 'अभिन्न' और दूसरा व्यवहारनयावलम्बी ध्यान 'भिन्न' कहा जाता है। जो 'भिन्न' ध्यानमें अभ्यास कर लेता है वह निराकुल हुआ 'अभिन्न' ध्यानको ध्यानेमें प्रवृत्त होता है।'

---

१. मु मे भिन्ने हि ।

व्याख्या—निश्चयनयाश्रित स्वावलम्बी-ध्यानको अभिन्नध्यान और व्यवहारनयाश्रित परावलम्बी-ध्यानको 'भिन्नध्यान कहते हैं। भिन्नध्यानमें जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब अभिन्नका ध्यान निराकुलतापूर्वक ठीक बनता है। इसी बातको 'आत्म-प्रबोध' ग्रन्थमें "**सालम्बनाऽभ्यासनिबद्धलक्ष्यो भवेन्निरालम्बनयोगयोग्यः**" इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट किया है। अतः पहले आत्म-स्वरूपसे भिन्न अन्य वस्तुओंके ध्यानको परिपुष्ट बनाना चाहिये, जिससे अभ्यासी चाहे जिसके चित्रको अपने हृदय-पटल पर अंकित करसके और उसे अधिकसे अधिक समय तक स्थिर रखनेमें समर्थ हो सके। इस प्रकारका अभ्यास बढ़ जानेपर आत्मध्यानरूप जो अभिन्नध्यान है वह बिना किसी आकुलताके सहज ही बन सकेगा। जो ध्याता भिन्नध्यानके अभ्यासमें परिपक्व हुए विना एकदम आत्मध्यानमें प्रवृत्त होता है वह प्रायः अनेक आकुलताओं तथा आपदाओंका शिकार बनता है। अतः ध्यानका राजमार्ग यही है कि पहले व्यवहारनयाश्रित भिन्न (सालम्बन) ध्यानके अभ्यासको बढ़ाया जाय। तत्पश्चात् निश्चयनयाश्रित अभिन्न (निरा-लम्बन) ध्यानके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध-स्वरूपमें लीन हुआ जाय। भिन्नध्यानमें परमात्माका ध्यान सर्वोपरि मुख्य है, जिसके सकल और निष्कल ऐसे दो भेद हैं—सकल-परमात्मा अरहंत और निष्कल-परमात्मा सिद्ध कहलाते हैं[1]।

भिन्नरूप धर्म्यध्यानके चार ध्येयोंकी सूचना

आज्ञाऽपायौ[2] विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च।
यथागममविक्षिप्त-चेतसा चिन्तयेन्मुनिः ॥९८॥

---

१. दुविहो तह परमप्पा सयलो तह णिक्कलो त्ति णायव्वो।
सकलो अरुहसरूवो सिद्धो पुण णिक्कलो भणिओ ॥३२॥
—ज्ञानसार

२. मु मे आज्ञापायो।

‘(भिन्नरूप व्यवहार-ध्यानमें) मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोक-संस्थानका आगमके अनुसार चित्तकी एकाग्रताके साथ चिन्तन करे।’

व्याख्या—यहाँ भिन्नध्यानके विषयभूत आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाकविचय और लोकसंस्थानविचय नामक धर्म्यध्या-नके चार भेदों[1] की सूचना करते हुए उनके आगमानुसार स्वरूप-चिन्तनकी प्रेरणा की गई है। यद्यपि यह प्रेरणा मुख्यतः मुनियोंको लक्ष्य करके की गई है परन्तु गौणतः देशव्रती श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि भी उसके लक्ष्यभूत हैं, जो धर्म्यध्यानके अधिकारी हैं।

धर्म्यध्यानके जिन प्रकारोंका उल्लेख पद्य ५१ से ५५ तक किया गया है उनसे भिन्न ये चार भेद आगम-परम्पराके अनुसार कहे गये हैं, जिसे ‘आम्नाय’ भी कहते हैं[2]। और इसलिये इनका अनुष्ठान जैन आम्नायके अनुसार हो होना चाहिये, जिसके लिये ‘**यथागमं**’ वाक्यका प्रयोग यहाँ खास तौरसे किया गया है।

धर्म्यध्यानके ध्येय-दृष्टिसे प्रकल्पित हुए इन चार भेदोंमें प्रथम-भेदगत ‘आज्ञा’ शब्द सर्वज्ञ-वीतराग-जिन-प्रणीत आगमके उस आदेश एवं निर्देशका वाचक है जिसका विषय सूक्ष्म है, प्रत्यक्ष तथा अनुमान-प्रमाणके गोचर नहीं और किसी भी युक्तिसे बाधित नहीं होता; जैसे धर्मास्तिकायादि द्रव्योंका कथन। ऐसे आज्ञाग्राह्य-विषयोंका जो विचार, विचय, विवेक अथवा संचिन्तन है उसे

---

१. आज्ञा-पाय-विपाक-संस्थानविचयाय (स्मृतिसमन्वाहारः) धर्म्यम्।
(त० सू० ९-३६)

२. तदाज्ञापाय-संस्थान-विपाक-विचयात्मकम्।
चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभिः॥ (आर्ष २१-१३४)

आज्ञाविचय-धर्म्यध्यान कहते हैं[१]। द्वितीयभेदगत 'अपाय' शब्द तापत्रयादिरूप उन दुःखों-कष्टों तथा भयादिकका, जिनसे सांसारिक प्राणी पीड़ित हैं, और उनसे छूटनेके प्रतीकारात्मक अथवा कल्याणात्मक उपायोंका वाचक है। ऐसे सोपाय अपायका जो विवेचन अथवा संचिन्तन है उसे अपायविचय-धर्म्यध्यान कहते हैं। तृतीयभेदगत 'विपाक' शब्द शुभ-अशुभ कर्मोंके फलका वाचक है। इस कर्मफलके चिन्तनका नाम विपाकविचय है, जिसमें ज्ञानावरणादि-कर्मोंकी मूलोत्तर-प्रकृतियाँ, उनका बन्ध-उदय-सत्व-उदीरणा-संक्रमण और मोक्षादि सबका चिन्तन आजाता है। चतुर्थभेद तीनों लोकके आकार-प्रकारादिके संचिन्तनरूप है, जिसमें तदन्तर्गत पदार्थोंका चिन्तन और द्वादशानुप्रेक्षाका चिन्तन भी शामिल है। इन चारों ध्यानोंका विशेष जाननेके लिये मूलाचार, आर्षादि आगमग्रन्थों[२] और तत्त्वार्थसूत्रकी तत्त्वार्थराजवार्तिकादि[३] टीकाओंको देखना चाहिये।

---

१. आत्मप्रबोधके निम्न दो पद्योंमें इस आज्ञाविचय-धर्म्यध्यानका अच्छा सार खींचा गया है:—

> सत्तैका द्विविधो नयः शिवपथस्त्रेधा चतुर्धा गतिः
> कायाः पंच षडंगिनो च निचयाः सा सप्तभंगीति च।
> अष्टौ सिद्धगुणाः पदार्थनवकं धर्मं दशांगं जिनः
> प्राहैकादशदेशसंयतदशाः सद्द्वादशांगं तपः॥८९॥
> सम्यक्प्रेक्षा-चक्षुषा वीक्ष्यमाणो यद्यादृक्षं सर्ववेद्याचचक्षे।
> तत्तादृक्षं चिन्तयन्वस्तु यायादाज्ञाधर्म्यध्यानमुद्रां मुनीन्द्रः॥९०॥

२. मूलाचार अ० ५, २०१-२०५। आर्ष २१,१३४-१५१

३. तत्त्वार्थवा० अ० ९, सू० २८-४४।

ध्येयके नाम-स्थापनादिरूप चार भेद

नाम च स्थापना[1] द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम् ।
समस्तं व्यस्तमप्येतद् ध्येयमध्यात्म-वेदिभिः ॥९९॥

'अध्यात्म-वेत्ताओंके द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-रूप चार प्रकारका ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनों रूपसे ध्यान-के योग्य माना गया है।'

व्याख्या—यहाँ ध्येय-वस्तुओंको चार भेदोंमें विभक्त किया गया है—१ नाम-ध्येय, २ स्थापना-ध्येय, ३ द्रव्य-ध्येय, ४ भाव-ध्येय-और यह सूचना की गई है कि आत्मज्ञानी इन सभीको अथवा इनमेंसे चाहे जिसको अपनी इच्छानुसार ध्येय बना सकता है। इन चारोंके लक्षण तथा स्वरूपादिका निर्देश आगे किया गया है।

नाम-स्थापनादि ध्येयोंका संक्षिप्त-रूप

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुण-पर्ययवद्द्रव्यं[2] भावः स्याद्गुण-पर्ययौ ॥१००॥

'वाच्यका जो वाचक वह 'नाम' है; प्रतिमा 'स्थापना' मानी गई है; गुण-पर्यायवान्को 'द्रव्य' कहते हैं और गुण तथा पर्याय दोनों 'भाव' रूप हैं।'

व्याख्या—इस पद्यमें पूर्व पद्योल्लिखित चारों ध्येयोंका संक्षिप्त-स्वरूप दिया है। वाच्यका वाचक शब्द होता है। अतः संज्ञा शब्दको यहाँ नामध्येय कहा गया है। प्रतिमाका अभि-प्राय प्रतिबिम्बसे है—चाहे वह कृत्रिम हो या अकृत्रिम—और इसलिये स्थापनाध्येय यहाँ तदाकार-स्थापनाके रूपमें गृहीत है—अतदाकार स्थापनाके रूपमें नहीं। द्रव्यका जो लक्षण गुण-

१. मु मे स्थापनं। २. त० सू० ५-३८

पर्यायवान् तत्त्वार्थसूत्रसम्मत है उसीको द्रव्यध्येयके रूपमें यहाँ ग्रहण किया गया है और भावध्येयमें गुण तथा पर्याय दोनों-को लिया गया है।

नामध्येयका निरूपण

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हताम्[1] ॥१०१॥

'अपने आदि, मध्य और अन्तमें (प्रयुक्त अ-र्-ह् अक्षरों-द्वारा) जो **वाङ्मयको**—वाणी वा वर्णमालाको—**व्याप्त होकर तिष्ठता है वह अर्हन्तोंका वाचक 'अर्हं' पद है, जो कि हृदयमें ऊँची उठती हुई ज्योतिके रूपमें नामध्येय है।'**

व्याख्या—यहाँ अर्हन्तोंके वाचक 'अर्हं' मंत्रको नामध्येय बतलाया गया है, जिसके आदिमें वाङ्मय अथवा वर्णमालाका आदि अक्षर 'अ', मध्यमें मध्याक्षर 'र्' और अन्तमें अन्ताक्षर 'ह्' है और इस तरह जो सारे वाङ्मयको अपनेमें व्याप्त कर 'अक्षर-ब्रह्म'के रूपमें स्थित हुआ परंब्रह्म अर्हत्परमेष्ठिका वाचक है। इसे अन्यत्र 'सिद्धचक्रका सद्बीज' भी बतलाया गया है, जैसा कि निम्न प्रसिद्ध श्लोकसे प्रकट है:—

अर्हमित्यक्षरब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम् ॥

इस अक्षरब्रह्मको, जिसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं, ऊँची उठती हुई ज्योतिके रूपमें ध्यानका विषय बनाना चाहिये। इसके ध्यान-का स्थान हृदय-स्थल है।

सिद्धचक्रका बीज होनेसे श्रीजिनसेनाचार्यने इसे परमबीज लिखा है :—

---

१. सि जु तदर्हतः।

अकारादि-हकारान्त-रेफमध्यान्तबिन्दुकं ।
ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नाऽवसीदति ।।
—आर्ष २१-२३१

'अर्हं' इस परंब्रह्मके वाचक अक्षरब्रह्ममें 'अ' अक्षर साक्षात् य मूर्तिके रूपमें स्थित सुखका कर्ता है, स्फुरायमान रेफ (̊) अक्षर अविकल रत्नत्रयरूप है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्रतिमूर्ति है और 'हं' अक्षर मोहसहित सारे पापसमूहके हंताका रूप धारण किये हुए है। इस तरह अभिन्नाक्षर पदके रूपमें यह बीजाक्षर स्मरणीय है। इस पदके 'अ' और 'ह' अक्षरोंके मध्यमें वर्णमालाके शेष सब अक्षर वास करते हैं और इसीसे मुनियोंने इसे अनघ शब्दब्रह्मात्मक बतलाया है। यह उज्ज्वल बिन्दुको धारण किये हुए 'अर्धचन्द्र' कलासे युक्त और रेफसे व्याप्त सकिरण ज्योतिः पद परंब्रह्मके ध्यानको ध्वनित करता है—सिद्ध परमात्माके ध्यानकी अनुभूति कराता है। जैसा कि श्रीकुमारकविके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

अकारोऽयं साक्षादमृतमयमूर्तिः सुखयति ।
स्फुरद्रेफो रत्नत्रयमविकलं संकलयति ।
समोहं हंकारो दुरितनिवहं हंति सहसा ।
स्मरेदेवं बीजाक्षर [पद] मभिन्नाक्षरपदम् ।।११८।।
वधति वसंति मध्ये वर्णा अकार-हकारयो-
रिति यदनघं शब्दब्रह्मास्पदं मुनयो जगुः ।
यदमृतकलां बिभ्रद्बिन्दूज्वलां रचितार्चिषं
ध्वनयति परंब्रह्म ध्यानं तदस्तु पदं मुदे ।।११९।।
—आत्मप्रबोध

हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।
अ-सि-आ-उ-साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ।।१०२।।

'चार पत्रोंवाले हृदय-कमलमें पंचपरमेष्ठियोंके वाचक अ, सि, आ, उ, सा ये पाँच अक्षर ज्योतिष्मान् रूपमें (कमलपत्रादिक पर) **प्रदक्षिणा करते हुए ध्यान किये जानेके योग्य हैं।'**

व्याख्या—जिन पाँच अक्षरों अ, सि, आ, उ, सा को यहाँ ध्येय बतलाया है वे क्रमशः अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीके वाचक, उनके आद्याक्षररूप, नाम हैं। इनका ध्यान हृदयमें चार पत्रोंवाले कमलकी कल्पना करके किया जाता है। कमलकी कर्णिका पर 'अ' अक्षरकी, सम्मुखवाले पत्र पर 'सि' की, दक्षिणपत्र पर 'आ' की, पश्चिमपत्र पर 'उ' की और उत्तराभिमुखीपत्र पर 'सा' अक्षरकी स्थापना की जाती है। पाँचों अक्षर ज्योतिष्मान् हैं, उनसे ज्योति छिटक रही है और वे अपने स्थानों पर प्रदक्षिणा करते हुए घूम रहे हैं, ऐसा चिन्तन किया जाना चाहिए।

ध्यायेद-इ-उ-ए-ओ च तद्वन्वर्णानुदर्चिषः[1] ।
मत्यादि-ज्ञान-नामानि मत्यादि-ज्ञानसिद्धये ॥१०३॥

'उसी प्रकार ध्याता चार पत्रोंवाले हृदय-कमलमें मति आदि पाँच ज्ञानके नामरूप जो अ, इ, उ, ए, ओ ये पाँच अक्षर हैं उन्हें मतिज्ञानादिकी सिद्धिके लिये ऊँची उठती हुई ज्योतिः-किरणोंके रूपमें ध्यावे—अपने ध्यानका विषय बनावे।'

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व पद्यमें अ-सि-आ-उ-सा रूप पाँच अक्षरोंके ध्यानका विधान है, उसी प्रकार इस पद्यमें अ, इ, उ, ए, ओ नामक पाँच अक्षरोंके ध्यानका विधान है। ये पाँच अक्षर क्रमशः मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और

---

१. मु मे मन्त्रानुदर्चिषः।

केवल ऐसे पाँच ज्ञानोंके वाचक हैं। इन अक्षरोंका ऐसे ज्योतिष्मान् अक्षरोंके रूपमें ध्यान किया जाता है जिनसे किरणें ऊपरको उठ रही हों। इन अक्षरोंकी स्थापना भी चार पत्र-वाले हृदयस्थ कमलपर उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार कि अ-सि-आ-उ-सा-की की जाती है। इन अक्षरोंको भी पूर्ववत् अपने-अपने स्थानोंपर प्रदक्षिणा करते हुए ध्यानका विषय बनाना चाहिये। इन अक्षरोंके ध्यानसे मति आदि ज्ञानोंकी सिद्धिमें सहायता मिलती है। परन्तु ये अक्षर मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंके वाचक किस दृष्टिसे हैं, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका। 'अ'कार अभिनिबोधका वाचक हो सकता है, जो कि मतिज्ञानका नामान्तर है; 'इ'कार 'इरा' का वाचक हो सकता है, जिसका अर्थ वाणी है और इसलिये उससे श्रुतज्ञानका अर्थ लिया जा सकता है; 'उ'कार 'उहि'–अवधिका वाचक हो सकता है। परन्तु ए'कार मनःपर्ययका और 'ओ'कार केवलज्ञानका वाचक कैसे हैं, यह कुछ समझमें नहीं बैठा। विशेष ज्ञानी इस मंत्र-विषयको स्वयं समझ लें।

सप्ताक्षरं महामन्त्रं मुख-रन्ध्रेषु सप्तसु।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकम् ॥१०४॥

'सप्ताक्षरवाला जो महामन्त्र—णमो अरहंताणं—है, उसे गुरुके उपदेशानुसार मुखके सात रन्ध्रों–छिद्रोंमें स्थापित करके वह ध्याता ध्यान करे जो दूरसे सुनने-देखने आदिरूप आत्म-शक्तियोंको विकसित करना अथवा तद्विषयक दूरश्रवादि-ऋद्धि-योंको प्राप्त करना चाहता है।'

व्याख्या—जिस पंचणमोकाररूप मंत्रके एकाग्रचित्तसे जपको परम स्वाध्याय बतलाया गया है (८०) उसके पंच-पदोंमेंसे प्रथमपद 'णमो अरहंताणं' को यहाँ सप्ताक्षर-महामंत्र

सूचित किया है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि इस मंत्रके सात अक्षरोंको मुखके सात छिद्रोंमें गुरुके उपदेशानुसार स्थापित करके ध्यान करनेसे दूरसे सुनने, दूरसे देखने, दूरसे सूंघने और दूरसे रसास्वादनकी शक्ति प्राप्त होती है। सात छिद्रोंमें दो कानोंके, दो आँखोंके, दो नाकके नथनोंके और एक रसनालयका है। इन छिद्रोंमेंसे कौनसे छिद्रमें और उसके बहिर्मुख या अन्तर्मुख किस प्रदेश या भागमें कौनसा अक्षर किस प्रकारसे स्थापित किया जाय, यह गुरु-उपदेश अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। कुछ मुनियोंसे पूछने पर भी कोई पता नहीं चल सका। अतः यह सब अभी रहस्यमय है। जिन योगियों अथवा विद्वानोंको इस गुप्त रहस्यका पता हो उन्हें उसको लोकहितकी दृष्टिसे प्रकट करनेकी कृपा करनी चाहिये।

जहाँ तक मैंने इस विषयमें विचार किया है, मुझे पद्यमें प्रयुक्त हुए '**इच्छन् दूरश्रवादिकम्**' पदों परसे यह आभास होता है कि चूँकि इसमें श्रोत्रेन्द्रियके शक्ति-विकासकी बातको पहले लिया गया है तब 'आदि' शब्दसे पश्चात्आनुपूर्वीके क्रमानुसार नेत्र, नासिका और रसना इन्द्रियके विकासकी बात क्रमशः आती है और इसलिए अक्षरोंका विन्यास भी इसी क्रमसे होना चाहिये अर्थात् कानोंके रन्ध्रोंमें प्रथम दो अक्षर, नेत्रके रन्ध्रोंमें द्वितीय दो अक्षर, नासिकाके रन्ध्रोंमें तृतीय दो अक्षर स्थापित किये जाने चाहिये और उनकी स्थापनाका क्रम वामसे दक्षिणकी ओर रहना चाहिये—वामकर्ण-रन्ध्रमें यदि 'ण' तो दक्षिण कर्णरन्ध्रमें 'मो' होना चाहिये ; क्योंकि वर्णोंकी दक्षिण-गति है। शेष सातवें 'ण' अक्षरकी स्थापना रसना इन्द्रियके रन्ध्रमार्गमें की जानी चाहिये, ऐसा प्रतीत होता है। निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि यह कल्पना ठीक हो तो चूँकि इन चारों इन्द्रियोंके रन्ध्र बहिर्मुख और अन्तर्मुख

दोनों प्रकारके हैं तब रन्ध्रके किस भागपर और कैसे अक्षरका विन्यास किया जाय, यह समस्या फिर भी हल होनेके लिये रह जाती है। अतः इस विषयमें सम्यक्गुरूपदेश प्राप्त होना ही चाहिये।

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभिः ।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाऽधिष्ठितमर्हताम् ॥१०५
गणभृद्वलयोपेतं त्रिःपरीतं च मायया ।
क्षौणी-मण्डल-मध्यस्थं ध्यायेदभ्यर्चयेच्च तत् ॥१०६

'(ध्याता) हृदयमें पृथ्वीमण्डलके मध्यस्थित आठ दलके कमलको दलोंके आठ वर्गोंसे—स्वर, क, च, ट, त, प, य, श, वर्गके अक्षरोंसे—पूरित, और कर्णिकामें 'अर्हं' नामसे अधिष्ठित, गणधर-वलयसे युक्त और मायासे त्रिःपरीत—ह्रीं बीजाक्षरको तीन परिक्रमाओंसे वेष्ठित—रूपमें ध्यावे और उसकी पूजा करे।

व्याख्या—यहाँ सारे मन्त्राक्षरोंसे पूरित जिस अष्टदल कमलके हृदयमें ध्यान तथा पूजनका विधान किया गया है उसके विषयमें तीन बातें और जाननेकी हैं—एक तो यह कि वह जिस गणधरवलयसे युक्त है उसका रूप क्या है, दूसरे 'ह्रीं' की तीन परिक्रमाओंका अभिप्राय क्या है, और तीसरे उस पृथ्वी-मण्डलका रूप क्या है जिसके मध्यमें वह गणधरवलयादिसहित स्थित हुआ ध्यानका विषय होता है। पृथ्वीमण्डल चतुरस्र, मध्यमें दो वज्रोंसे परस्पर विद्ध, मध्यमें अथवा वज्रकोणोंपर पूर्वादि चारों महादिशाओंमें पृथ्वीबीज 'क्षि' अक्षरसे युक्त, मण्डलके चारों कोणों पर 'लं' अक्षरसे युक्त और पीतवर्ण होता है। जैसा कि विद्यानुशासनके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

अन्योऽन्यवज्रविद्धं पीतं चतुरस्रमवनि-बीजयुतं ।
कोणेषु लान्तयुक्तं भूमण्डलसञ्ज्ञकं ज्ञेयम् ॥३-१७७॥
मण्डलानां यदा मध्ये नामादिन्यास उच्यते ।
तदा मध्यस्थितं बीजं महादिक्षु निवेशयेत् ॥३-१८५॥

गणधरवलय नामका एक यंत्र है, जिसका नामान्तर गणेश-यन्त्र है, प्रतिष्ठापाठोंमें भी जिसका उल्लेख है और जिन-बिम्बादि-प्रतिष्ठाओंके समय जिसका पूजन होता है। इसका प्रारम्भ षट्कोणयन्त्र (चक्र) से विहित है, जिसके ऊपर क्रमशः तीन वलय रहते हैं जिन्हें गणधरवलय कहा जाता है। प्रथम वलयमें आठ, दूसरेमें सोलह और तीसरेमें चौबीस कोष्ठक होते हैं, जिनमें ऋद्धिप्राप्त जिनोंके नमस्काररूप क्रमशः ये मन्त्रपद रहते हैं :—

(प्रथम वलयमें) १ णमो जिणाणं, २ णमो ओहिजिणाणं, ३ णमो परमोहिजिणाणं, ४ णमो सव्वोहिजिणाणं, ५ णमो अणतोहिजिणाणं, ६ णमो कोट्ठबुद्धीणं, ७ णमो बीजबुद्धीण, ८ णमो पदाणुसारीण।

(द्वितीय वलयमें) ९ णमो संभिण्णसोदाराणं, १० णमो पत्तेयबुद्धाणं, ११ णमो सयंबुद्धाणं, १२ णमो बोहियबुद्धाणं १३ णमो उजुमदीणं, १४ णमो विउलमदीणं, १५ णमो दस-पुव्विया (व्वी)णं, १६ णमो चउदसपुव्विया (व्वी)णं, १७ णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं, १८ णमो विउव्वणइड्ढि-पत्ताणं, १९ णमो विज्जाहराणं, २० णमो चारणाणं, २१ णमो पण्णसमणाणं, २२ णमो आगासगामीणं, २३ णमो आसीविसाणं, २४ णमो दिट्ठिविसाणं।

(तृतीय वलयमें) २५ णमो उग्गतवाणं, २६ णमो दित्तत-वाणं, २७ णमो तत्ततवाणं, २८ णमो महातवाणं, २९ णमो

घोरतवाण, ३० णमो घोरपरक्कमाणं, ३१ णमो घोरगुणाणं, ३२ णमो घोरगुणबंभचारीणं, ३३ णमो आमोसहिपत्ताणं, ३४ णमो खेलोसहिपत्ताणं, ३५ णमो जल्लोसहिपत्ताणं, ३६ णमो विट्ठोसहिपत्ताणं, ३७ णमो सव्वोसहिपत्ताणं, ३८ णमो मणबलीणं, ३९ णमो वचिबलीणं, ४० णमो कायबलीणं, ४१ णमो खीर-सवीणं, ४२ णमो सप्पिसवीणं, ४३ णमो महुसवीणं, ४४ णमो अमियसवीणं, ४५ णमो अक्खीणमहाणसाणं, ४६ णमो वड्ढमा-णाणं, ४७ णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं, ४८ णमो भयवदो महदो महावीरवड्ढमाणबुद्धरिसिस्स।

ये ही तीनों वलय उक्त मंत्रों-सहित यहाँ '**गणभृद्वलयोपेत**' पदके द्वारा परिगृहीत अथवा विवक्षित जान पड़ते हैं[1]।

गणधरवलय-यंत्रमें तृतीय वलयकी ऊपरी वृत्तरेखा पर पूर्वकी ओर मध्यमें 'ह्रीं' बीजमंत्र विराजता है, इसकी ईकार मात्रासे वलयको त्रिगुणवेष्टित करके अन्तमें उसे 'क्रौं' बीजसे निरुद्ध किया जाता है, जैसा कि आशाधरप्रतिष्ठापाठके "चतुर्वि-शतिपदान्यालिख्य ह्रींकार-मात्रया त्रिगुणं वेष्टयित्वा क्रौंकारेण निरुद्ध्य वहिः पृथ्वीमंडलं" इस वाक्यसे प्रकट है। इस प्रकार

---

१. इन ४८ मंत्रोंमें ११, १२, १३, और ४६ नं० के मंत्रोंको छोड़ कर शेष ४४ मंत्र वे ही हैं जो षट्खण्डागम-गत वेदनाखण्डके प्रारम्भमें महाकम्मपयडिपाहुडसे उद्धृत हैं और इसलिये गौतम-गणधरकृत कहे जाते हैं। कुछ प्रतिष्ठापाठोंमें इनके तथा अन्य चार मंत्रोंके भी पूर्व में 'ॐ ह्रीं ह्रूं' जैसे बीजपद जोड़े गये हैं; परन्तु श्रीआशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धारमें ऐसा नहीं किया गया—इन्हें मूलरूपमें ही रहने दिया गया है, जो ठीक जान पड़ता है।

ह्रींकारके वेष्टन अथवा परिक्रमणका जो रूप बनता है, वही 'त्रि:परीत्य च मायया' इस वाक्यका यहाँ अभिप्राय है।

विवक्षित कमलादिके रूपमें ध्यानका यह विषय बहुत ही गहन-गम्भीर तथा अर्थ-गौरवको लिये हुए है और आत्मविकास-में बहुत बड़ा सहायक जान पड़ता है। इसी ध्यानका उल्लेख मुनि श्रीपद्मसिंहने अपने 'ज्ञानसार' ग्रन्थ (वि० १०८६) की निम्न दो गाथाओंमें किया है और उसका फल इच्छित कार्यकी तत्क्षण सिद्धि बतलाया है:—

अट्ठदलकमलमज्झे अरुहं वेढेइ परमबीयेहिं।
पत्तेसु तह य वग्गा दलतरे सत्त वण्णा (?) य ॥२६॥
गणहरवलयेण पुणो मायाबीएण धरयलक्कंतं।
जं जं इच्छइ कम्मं सिज्झइ तं तं खणद्धेण ॥२७॥

[1]अकारादि-हकारान्ता मंत्राः परमशक्तयः।
स्वमण्डल-गता ध्येया लोकद्वय-फलप्रदाः ॥१०७॥

'अकारसे लेकर हकार पर्यन्त जो मन्त्ररूप अक्षर हैं वे अपने अपने मण्डलको प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं और दोनों लोकके फलोंको देनेवाले हैं।'

व्याख्या—यहाँ मंत्ररूपमें जिन अक्षरोंकी सूचना की गई है उनमें वर्णमालाके सभी अक्षर आजाते हैं; क्योंकि वर्णमालाके आदिमें 'अ' और अन्तमें 'ह' अक्षर है। सब अक्षरोंके नाम इस प्रकार हैं—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ, ए ऐ ओ औ अं अः, ये १६ अक्षर स्वरवर्ण कहलाते हैं; क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ,

---

१. अकारादि-हकारान्ता वर्णा मंत्राः प्रकीर्तिताः।
सर्वज्ञैरसहाया वा संयुक्ता वा परस्परम् ॥
—विद्यानुशासन २-३ तथा मंत्रसारसमुच्चय २-५

ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व (अन्तस्थ), श ष स ह (ऊष्माण), ये ३३ अक्षर व्यंजन कहे जाते हैं; और ये क च ट त प य श ऐसे सात वर्गोंमें विभाजित हैं। स्वरोंका एक वर्ग मिलाकर वर्गोंकी पूरी संख्या आठ होजाती है, जिसकी सूचना पिछले एक पद्य (१०५) में '**वर्गैः पूरितमष्टभिः**' इस वाक्यके द्वारा की गई है। इन अक्षरोंके अलग अलग मंडल हैं— स्वर तथा ऊष्मवर्ण जलमडलके, कवर्गी तथा अन्तस्थवर्ण अग्निमंडलके, च-प-वर्गीवर्ण पृथ्वीमंडलके और ट-त-वर्गीवर्ण वायु-मंडलके हैं। इन मंडलगत अक्षरोंकी जाति क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है तथा रंग क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत और श्याम है[1]। इनमें जलमंडल कलश या अर्धचन्द्रके आकार, अग्निमंडल त्रिकोण, पृथ्वीमंडल चतुरस्र और वायुमंडल गोलाकार होता है। इन मूलाक्षरोंकी शक्तियोंका वर्णन विद्यानुशासन ग्रन्थमें पाया जाता है। यहाँ इन सब अक्षरोंको मन्त्र कहा गया है सो ठीक है, '**अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधं**' इस प्रसिद्ध सिद्धान्तोक्तिके अनुसार जिस प्रकार ऐसी कोई मूल (जड़) नहीं जो औषधिके काममें न आती हो, उसी प्रकार ऐसा कोई अक्षर नहीं जो मंत्रके काममें न आता हो; परन्तु प्रत्येक मूलसे औषधिका काम लेनेवाला जिस प्रकार दुर्लभ है उसी प्रकार प्रत्येक अक्षरको मंत्रके रूपमें योजना करनेवाला भी दुर्लभ है। इसीसे '**योजकस्तत्र दुर्लभः**' यह वाक्य भी उक्त सिद्धान्तोक्ति-के साथ कहा गया है।

---

१. स्वरोष्माणो द्विजाः श्वेता अम्बुमंडलसंस्थिताः।
क्ष्वन्तस्था भूभुजो रक्तास्तेजोमंडलमध्यगाः ॥४॥
चु-पू वैश्यान्वयौ पीताः पृथ्वीमडलभागिनौ
टु-तू कृष्णत्विषौ शूद्रौ वायुमडलसंभवौ ॥५॥
—विद्यानुशासन परि० २

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि आठों वर्गों-के उक्त अलग-अलग अक्षर ही मंत्र नहीं हैं किन्तु उनके परस्पर संयोगसे बने हुए संयुक्ताक्षर भी मंत्र होते हैं; जैसे ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, अर्हं आदि। ऐसे मंत्रोंकी संख्या मूलाक्षर मंत्रोंसे, जो अनादि-सिद्धान्तप्रसिद्ध-वर्णमात्रिकाके रूपमें स्थित हैं, बहुत अधिक है। अनादिसिद्धान्त-प्रसिद्ध वर्णमातृकाके ध्यानकी प्रेरणा करते हुए उसे निःशेष शब्द-विन्यासकी जन्मभूमि कहा गया है—

ध्यायेदनादिसिद्धान्त-प्रसिद्ध-वर्णमातृकाम्।
निःशेषशब्दविन्यास-जन्मभूमिं जगन्नुताम्॥

—ज्ञानार्णव ३८-२। मंत्रसारसमुच्चय अ०२

नामध्येयका उपसंहार

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्र-पुरस्सरान्।
ध्यायन्ति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवेहि तत्॥१०८॥

'इन 'अर्हं' मंत्रपुरस्सर मंत्रोंको आदि लेकर और भी मंत्र हैं जिन्हें नामध्येयरूपसे मांत्रिक ध्याते हैं, उन सबको भी स्पष्टरूपसे नाम-ध्येय समझो।'

व्याख्या—नाम-ध्येयके रूपमें कुछ मंत्रोंका उल्लेख करनेके अनन्तर यहाँ उसी प्रकारके दूसरे मंत्रोंको भी नाम-ध्येयके रूपमें समझनेकी प्रेरणा की गई है। ऐसे बहुतसे मंत्र हैं, जो आर्ष (महापुराण), ज्ञानार्णव, योगशास्त्र तथा विद्यानुशासनादि ग्रन्थोंसे जाने जा सकते हैं। द्रव्यसंग्रहमें ऐसे कुछ मंत्रोंकी सूचना निम्न गाथा-द्वारा की गई है—

पण तीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥४९॥

इसमें पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर-वाले प्रसिद्ध मंत्रोंकी सूचना की गई है; साथ ही परमेष्ठिवाचक दूसरे मंत्रोंको भी गुरु-उपदेशानुसार जपने तथा ध्यानेकी प्रेरणा की गई है। पैंतीस अक्षरोंका प्रसिद्ध मंत्र '**णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं**' है, जिसे णमोकारमंत्र, मूलमंत्र तथा अपराजितमंत्र भी कहते हैं; सोलह अक्षरका मंत्र '**अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू**' तथा '**अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः**; छह अक्षरोंके मंत्र '**अरहंत सिद्ध, अर्हद्भ्यः नमोस्तु, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः**'; पंचाक्षर-मंत्र '**णमो सिद्धाणं, असिआउसा, नमः सिद्धेभ्यः**'; चतुरक्षर मंत्र '**अरहंत**'; दो अक्षरों के मंत्र '**सिद्ध, अर्हं**' तथा एक अक्षरके मंत्र '**ॐ, ह्रीं, ह्रँ** तथा अकारादि' हैं। दूसरे मंत्रोंमें पापभक्षिणी विद्याका मंत्र सुप्रसिद्ध है और वह इस प्रकार है :—

ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वाला-सहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा।

स्थापना-ध्येय

जिनेन्द्र-प्रतिबिम्बानि कृत्रिमाण्यकृतानि च।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशंकितम् ॥१०९॥

'**जिनेन्द्रकी जो प्रतिमाएँ कृत्रिम और अकृत्रिम हैं तथा आगममें जिस रूपमें कही गई हैं उन्हें उसी रूपमें ध्याता निःशंक होकर अपने ध्यानका विषय बनावे**—यह स्थापना-ध्येय है।'

व्याख्या—यहाँ जिनेन्द्र-प्रतिबिम्बोंको स्थापना-ध्येयमें परिगणित किया गया है और उसके दो भेदोंकी सूचना की गई है—

एक कृत्रिम और दूसरा अकृत्रिम। शिल्पियोंके द्वारा रचित कृत्रिम जिन-बिम्ब जगह-जगह उपलब्ध हैं, जिनमें बाहुबली तथा महावीरजी जैसे कुछ प्रतिबिम्ब सातिशय कोटिमें स्थित हैं, अकृत्रिम जिनबिम्ब कहां-कहां पाये जाते हैं और उनका क्या कुछ स्वरूप है, यह जैनागममें जिस प्रकार से वर्णित है उसी प्रकारसे उनको अपने ध्यानका विषय बनाना चाहिये। यह सब स्थापना-ध्येयका विवक्षित-रूप है।

द्रव्य-ध्येय

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्।
तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं[1] विचिन्तयेत् ॥११०॥

'जिस प्रकार एक द्रव्य एक समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होता है उसी प्रकार सर्वद्रव्य सदा काल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होते रहते हैं, इस तत्त्वको ध्याता चिन्तन करे।'

व्याख्या—द्रव्यध्येयका निरूपण करते हुए, यहाँ सबसे पहले द्रव्य-सामान्यको ध्यानका विषय बनानेको प्रेरणा की गई है। द्रव्य-का सामान्य स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह जैसे एक द्रव्य-का स्वरूप है वैसे ही सब द्रव्योंका स्वरूप है और जैसे वह एक समयवर्ती है वैसे ही सर्वसमयवर्ती है अर्थात् प्रत्येक द्रव्यमें उक्त सामान्य स्वरूप प्रतिक्षण रहता है और उसीसे द्रव्यका द्रव्यत्व बना रहता है। इस तत्त्वको ध्यानका विषय बनाना चाहिये।

तत्त्वार्थसूत्रके **'सद्द्रव्यलक्षणम्'** तथा **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'** इन दो सूत्रोंमें जो बात द्रव्यके स्वरूप-विषयमें कही गई है और जो स्वामी समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनमें **'प्रतिक्षणं स्थित्यु-दय-व्ययात्म-तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम्'** इस रूपसे व्यवस्थित

---

१. सि जु तथ्यं।

हुई है उसीको यहाँ दूसरे स्पष्ट शब्दोंमें द्रव्य-ध्येयका विषय बनाते हुए निर्दिष्ट किया गया है।

याथात्म्य-तत्त्व-स्वरूप

चेतनोऽचेतनो वाऽर्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥१११॥

'जो चेतन या अचेतन पदार्थ जिस प्रकारसे व्यवस्थित है उसका उसी प्रकारसे जो भाव है उसको 'याथात्म्य' तथा 'तत्त्व' कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'अर्थ' शब्द द्रव्यका वाचक है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वह स्वामी समन्तभद्रके '**सविहार्थरूपम्**' इस वाक्यमें उसका वाचक है। उस द्रव्यके मूल दो भेद हैं—एक चेतन, दूसरा अचेतन। कोई भी द्रव्य, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, जिस रूपसे व्यवस्थित है उस रूपसे ही उसका जो भाव है—परिणाम है—उसको 'याथात्म्य' कहते हैं और उसीका नाम 'तत्त्व' है। जो कि '**तस्य भावस्तत्त्वं**'[1] इस निरुक्तिको चरितार्थ करता है।

अनादि-निधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥११२॥

'द्रव्य, जो कि अनादिनिधन है—आदि-अन्तसे रहित है—उसमें प्रतिक्षण स्वपर्यायें जलमें जल-कल्लोलोंकी तरह उपजती तथा विनशती रहती हैं।'

व्याख्या—यहाँ द्रव्यका 'अनादिनिधन' विशेषण अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि कोई द्रव्य

---

१. तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। (सर्वार्थ० १-२)

कभी उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी नाशको प्राप्त होगा। हाँ, द्रव्योंमें जो स्वपर्यायें हैं वे जलमें जलकल्लोलोंकी तरह प्रतिक्षण ऊपरको उठती तथा नीचेको बैठती रहती हैं, यही द्रव्यका प्रतिक्षण स्वाश्रित उत्पाद-व्यय है, जो उसके लक्षणका अंग बना हुआ है।

'स्वपर्यायाः' पद भी यहाँ अपनी खास विशेषता रखता है और वह पराश्रित-पर्यायोंके व्यवच्छेदका सूचक है। जो पर्यायें परके निमित्तसे अथवा परके मिश्रणसे उत्पन्न होती हैं उनका स्वपर्यायोंमें ग्रहण नहीं है; क्योंकि स्वपर्यायें द्रव्यमें सदा अवस्थित और इसलिए नित्य होती हैं, भले ही उन्हें उदय, अनुदय तथा उदीर्णकी दृष्टिसे भूत, भावी तथा वर्तमान क्यों न कहा जाय[1]।

यद्विवृतं यथापूर्वं[2] यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति।
विवर्तते यदत्राऽद्य तदेवेदमिदं च तत् ॥११३॥

'**जो यथापूर्व**—पूर्वक्रमानुसार—पहले (गुण-पर्यायोंके साथ) **विवर्तित हुआ, जो पीछे विवर्तित होगा और जो इस समय यहाँ विवर्तित हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही उन सबरूप है।**'

व्याख्या—यहाँ द्रव्यका अपने त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायोंके साथ और गुण-पर्यायोंका अपने सदा ध्रौव्यरूपसे स्थित रहनेवाले द्रव्यके साथ अभेद प्रदर्शित किया गया है—कहा गया है कि जो वे हैं वही यह द्रव्य है और जो यह है वही वे गुण-पर्यायें हैं।

---

१. अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥ (तत्त्वानु० १९२)

२. ज तथापूर्वं।

सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः ।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥११४॥

'**द्रव्यमें गुण सहवर्ती**—एक साथ युगपत् प्रवृत्त होनेवाले—**और पर्यायें क्रमवर्ती**—क्रमशः प्रवृत्त होनेवाली—हैं। **द्रव्य इन गुण-पर्यायात्मक है और ये गुण-पर्याय द्रव्यात्मक हैं**—द्रव्यसे गुण-पर्याय जुदे नहीं और न गुण-पर्यायोंसे द्रव्य कोई जुदी वस्तु है।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१००) में '**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**' इस वाक्यके द्वारा द्रव्य उसे बतलाया है जो गुणों तथा पर्यायोंको आत्मसात् किये हुए हो। इस पद्यमें गुणों तथा पर्यायोंका स्वरूप बतलानेके साथ-साथ इस बातको स्पष्ट किया गया है कि कैसे द्रव्य गुण-पर्यायवान् है। जो द्रव्यमें सदा सहभावी हैं और एकसाथ प्रवृत्त होते हैं उन्हें गुण कहते हैं; जो द्रव्यमें क्रमभावी हैं और क्रमशः प्रवृत्ति करते हैं उन्हें पर्याय कहते हैं। ये गुण और पर्याय द्रव्यात्मक हैं और द्रव्य इन गुण-पर्यायात्मक है—एकसे दूसरा जुदा नहीं; इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् कहा गया है।

एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकम् ।
प्रतिक्षणमनाद्यन्तं सर्वं ध्येयं यथास्थितम् ॥११५॥

'**इस प्रकार यह द्रव्य नामकी वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्यय रूप है तथा अनादि-निधन है वह सब यथास्थितरूपमें ध्येय है**—ध्यानका विषय है।'

व्याख्या—यहाँ, द्रव्य-ध्येयके कथनका उपसंहार करते हुए, यह सार निकाला है कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययरूप है, आदि-अन्तसे रहित है और जिस रूपमें अवस्थित है उसी रूपमें ध्यानका विषय है—अन्य रूपमें नहीं।

भाव-ध्येय

अर्थ-व्यंजन-पर्यायाः मूर्ताऽमूर्ता गुणाश्च ये ।

यत्र द्रव्ये यथाऽवस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत्[1] ॥११६॥

'**जो अर्थ तथा व्यंजनपर्यायें और मूर्तिक तथा अमूर्तिक गुण जिस द्रव्यमें जैसे अवस्थित है उनको वहाँ उसी रूपमें ध्याता चिन्तन करे**—यह भावध्येयका स्वरूप है।'

व्याख्या—पिछले जिस पद्य (१००) में गुणपर्यायवान्‌को द्रव्यध्येय बतलाया है उसीमें मुख्यतः गुण तथा पर्यायके ध्यानको भावध्येय सूचित किया है। यहाँ भावध्येयको स्पष्ट करते हुए पर्यायोंके दो भेद किये हैं—एक अर्थपर्याय और दूसरी व्यंजनपर्याय ये पर्यायें और गुण, जो सामान्य तथा विशेषकी दृष्टिसे अनेक प्रकारके होते हैं, जिस द्रव्यमें जहाँ जिस प्रकारसे अवस्थित हों उस द्रव्यमें वहाँ उसी प्रकारसे उनका जो ध्यान है वह सब भावध्येय है।

अर्थपर्यायें छहों द्रव्योंमें होती हैं, जब कि व्यंजनपर्यायें केवल जीव तथा पुद्गल द्रव्योंसे ही सम्बन्ध रखती हैं[2]। ये व्यंजन-पर्यायें स्थूल, वाग्गम्य, प्रतिक्षण-विनाश-रहित तथा कालान्तर-स्थायी होती हैं, जब कि अर्थपर्यायें सब सूक्ष्म तथा प्रतिक्षणक्षयी होती है।[3]

द्रव्यके छह भेद और उनमें ध्येयतम आत्मा

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माऽधर्मौ तथाऽम्बरम् ।

षड्विधं द्रव्यमाख्यातं[4] तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥११७॥

---

१. मे स्मरेः ।

२. व्यजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीव-पुद्गलौ ॥ (आलापपद्धति)

३. मूर्तो व्यजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थगोचरः ॥ ज्ञानार्णव ६-४५

४. मु मे माम्नातं ।

'पुरुष (जीवात्मा), पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसे छह भेदरूप द्रव्य कहा गया है। उन द्रव्य-भेदोंमें सबसे अधिक ध्यानके योग्य पुरुषरूप आत्मा है।'

व्याख्या—द्रव्यके जीव, पुद्गल, धर्म, अधम, आकाश और काल ऐसे मूल छह भेद जैनागममें प्रसिद्ध हैं। यहाँ जीवद्रव्यको 'पुरुष' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया गया है। इसके दो कारण जान पड़ते हैं। एक तो जीव और उसका पर्याय नाम आत्मा दोनों शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे पुल्लिग हैं। दूसरे आगे पुरुषविशेषों-पंचपरमेष्ठियोंको मुख्यतः भिन्न-ध्यानका विषय बनाना है। अतः प्रकृतमें सहजबोधकी दृष्टिसे जीवके स्थान पर पुरुषशब्दका प्रयोग किया गया है। अगले पद्यमें इसी पुरुषको 'आत्मा' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया ही है।

इन छहों द्रव्योंमें जीवद्रव्य चेतनामय चेतन और शेष चेतना-रहित अचेतन हैं; पुद्गलद्रव्य मूर्तिक और शेष अमूर्तिक हैं; काल-द्रव्य प्रदेश-प्रचयसे रहित होनेके कारण अकाय है और शेष प्रदेश-प्रचयसे युक्त होनेके कारण अस्तिकाय कहे जाते हैं। परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य यद्यपि एकप्रदेशी है, परन्तु नानास्कन्धोंका कारण तथा उनसे मिलकर स्कन्धरूप हो जानेके कारण उपचारसे 'सकाय' कहा जाता है[1]। जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष सब निष्क्रिय हैं; ये ही दोनों द्रव्य कथंचित् विभावरूप भी परिणमते हैं, शेष सब सदा स्वाभाविक परिणमनको ही लिये रहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य संख्यामें एक-एक ही हैं, कालद्रव्य असंख्यात हैं, जीवद्रव्य अनन्त हैं और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। जीव, पुद्गल दोनों द्रव्योंमें संकोच-विस्तार संभव है, शेष द्रव्योंमें वह

---

१. एय-पदेसो वि अणू णाणा-खंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू॥ (द्रव्यसं० २६)

नहीं होता अथवा उसकी संभावना नहीं। आकाश अखण्ड एक-द्रव्य होते हुए भी उसके दो भेद कहे जाते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाशके जिस बहुमध्यप्रदेशमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य अवलोकित होते हैं उसे 'लोकाकाश' और शेषको 'अलोकाकाश' कहते हैं। धर्म और अधर्म दो द्रव्य सदा सारे लोकाकाशको व्याप्त कर स्थिर रहते हैं, जब कि दूसरे द्रव्योंकी स्थिति वैसी नहीं। कालाणुरूप काल-द्रव्य तो लोकाकाशके एक-एक प्रदेशमें स्थिर है और इसलिये लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं। एक जीवकी अपेक्षा जीव लोकके एक असंख्यातवें भागसे लेकर दो आदि असंख्येय भागोंमें व्याप्त होता है और लोकपूर्ण-समुद्घातके समय सारे लोकाकाशको व्याप्त कर तिष्ठता है। नाना जीवोंकी अपेक्षा सारा लोकाकाश जीवोंसे भरा है। पुद्गल द्रव्यके अणु और स्कन्ध दो भेद हैं। अणुका अवगाहन-क्षेत्र आकाशका एक प्रदेश है, द्व्यणुकादिरूप स्कन्धोंका अवगाह्य-क्षेत्र लोकाकाशके द्विप्रदेशादिकोंमें है।

द्रव्यका लक्षण सत् है और सत् उसे कहते हैं जो प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक हो अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त हो। जीवद्रव्यका लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान-दर्शनके भेदसे दो प्रकार-का है और इसलिये जीवद्रव्यको 'ज्ञान-दर्शनलक्षण' भी कहा जाता है। जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद हैं; संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो भेदोंमें विभक्त हैं, जिनमें पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पतिकायके एकेन्द्रियजीव स्थावर कहलाते और शेष द्वीन्द्रियादि जीव 'त्रस' कहे जाते हैं। त्रसजीवोंका निवासस्थान लोकके मध्यवर्तिनी त्रसनाड़ी है और स्थावरजीव त्रसनाड़ी और उससे बाहर सारे ही लोकमें निवास करते हैं।

जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणवाले होते हैं उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं; स्पर्शके कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे आठ; रसके तिक्त (चरपरा), कटुक, अम्ल, मधुर और कषायला ऐसे पाँच; गंधके सुगन्ध, दुर्गन्ध ऐसे दो; और वर्णके नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ऐसे पाँच मूलभेद हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योतवालोंको भी पुद्गल कहा जाता है, अथवा यों कहिये कि पुद्गलके इन दस विशेषों अथवा पर्यायोंमेंसे जिस किसीसे भी कोई विशिष्ट अथवा युक्त है वह पुद्गल है।

गतिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलोंको जो उनके गमनमें उस प्रकार सहायक–उपकारक होता है जिस प्रकार जलमछलियों-के चलनेमें, परन्तु गमन न करनेवालोंको उनके गमनमें प्रेरक नहीं है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं[1]। अधर्मद्रव्य[2] उसका नाम है जो स्थितिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलोंको उनके ठहरनेमें उस प्रकार सहकारी-उपकारी होता है जिस प्रकार पथिकोंको ठहरनेमें वृक्षादिककी छाया, परन्तु चलते हुओंको ठहरनेको प्रेरणा नहीं करता और न उन्हें बलपूर्वक ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्योंको अपनेमें अवगाह–अवकाश-दान देनेकी योग्यता रखता है उसे आकाशद्रव्य[3] कहते हैं, जिसके लोक-अलोकके विभागसे दो भेद ऊपर बतलाये जा चुके हैं। जो द्रव्योंके परिवर्तनरूप है—

---

१. गइ-परिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥ (द्रव्यसंग्रह)

२. ठाण-जुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥ (द्रव्यसंग्रह)

३. अवगास-दाण-जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ॥१९॥ (द्रव्यसं०)

उनके परिवर्तनमें सहकारी है—उसे कालद्रव्य[1] कहते हैं। काल-द्रव्यके भी दो भेद हैं—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहार-काल। लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें जो अनादि-निधन एक-एक कालाणु स्थित है और जिसका वर्तना लक्षण है–जो जीव-पुद्गलादि सभी द्रव्योंको उनके प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्रूप वर्तनमें सहायक अथवा स्वसत्तानुभूतिमें कारण है—उसे निश्चय-कालद्रव्य कहते हैं। यह कालद्रव्य असंख्य है और रत्नोंकी राशिकी तरह माना गया है। व्यवहारकालद्रव्य उसका नाम है जो समय (क्षण), पल, घड़ी, घंटा, मुहूर्त, पहर, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदिके भेदको लिये हुए आदि-अन्त-सहित है। निश्चयकाल द्रव्यके पर्यायरूप है और जिसके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये चार लक्षण हैं। द्रव्यमें अपनी जातिको न छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक स्थूल परिवर्तन—पर्यायसे पर्यायान्तर–होता है उसे 'परिणाम' कहते हैं। बाह्य तथा आभ्य-न्तर कारणोंसे द्रव्यमें जो परिस्पन्दात्मक परिणाम होता है उसका नाम 'क्रिया' है। कालकृत बड़ापनको 'परत्व' और छोटापनको 'अपरत्व' कहते हैं।

इस प्रकार छहों द्रव्योंका यह संक्षिप्त-सार' है, विशेष तथा विस्तृत परिचयके लिये तत्त्वार्थसूत्रकी तत्त्वार्थराजवार्तिकादि टीकाओं तथा दूसरे आगमग्रन्थोंको देखना चाहिये।

इन सब द्रव्योंमें सबसे अधिक ध्यानके योग्य आत्मद्रव्य है।

आत्मद्रव्य सर्वाधिक ध्येय क्यों ?

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥११८॥

---

१. दव्व-परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ, ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥ (द्रव्यसं०)

'ज्ञाताके होने पर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है। इसलिये ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम—सर्वाधिक ध्येय है।'

व्याख्या—आत्मा सबसे अधिक ध्येय क्यों है? इस प्रश्नके उत्तरके लिये ही प्रस्तुत पद्यकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। उत्तर बहुत साफ़ दिया गया है, जिसका स्पष्ट आशय यह है कि जब कोई भी ज्ञेय-वस्तु ज्ञाताके विना ध्येयताको प्राप्त नहीं होती तब यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सबसे अधिक महत्वका ध्येय ठहरता है।

आत्मद्रव्यके ध्यानमें पंचपरमेष्ठिके ध्यानकी प्रधानता।

तत्राऽपि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्वामी तु[1] निष्कलः ॥११९॥

'आत्माके ध्यानोंमें भी वस्तुतः (व्यवहार ध्यानकी दृष्टिसे) **पंच परमेष्ठी ध्यान किये जानेके योग्य है, जिसमें चार**—अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी **सकल हैं**—शरीर सहित हैं—**और सिद्ध-परमेष्ठी निष्कल**—शरीर-रहित—**हैं तथा स्वामी हैं।'**

व्याख्या—पिछले दो पद्योंमें जिस पुरुषात्माको ध्येयतम बतलाया गया है उसके भेदोंमें यहाँ मुख्यतः पंच परमेष्ठियोंके ध्यानकी प्रेरणा की गई है, जिनमें चार सशरीर और सिद्ध अशरीर है। सिद्धका 'स्वामी' विशेषण अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातका स्पष्ट सूचक है कि वस्तुतः सिद्धात्मा ही स्वात्म-सम्पत्तिका पूर्णतः स्वामी होता है—दूसरा कोई नहीं।

सिद्धात्मक-ध्येयका स्वरूप

अनन्त-दर्शन-ज्ञान-सम्यक्त्वादि-गुणात्मकम्।
स्वोपात्ताऽनन्तर-त्यक्त-शरीराऽऽकार-धारिणम्[2] ॥१२०॥

---

१. मु मे स्वामीति। सि जु सिद्धस्वामी तु।
२. मु धारिणः।

साकारं च निराकारममूर्तमजराऽमरम् ।
जिन-बिम्बमिव स्वच्छ-स्फटिक-प्रतिबिम्बितम् ॥१२१॥

लोकाऽग्र-शिखराऽऽरूढमुदूढ-सुखसम्पदम् ।
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्धूत-कल्मषम् ॥१२२॥

'जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और सम्यक्त्वादि गुणमय है, स्वगृहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीरके आकार-का धारक है, साकार और निराकार दोनों रूप है, अमूर्त है, अजर है, अमर है, स्वच्छ-स्फटिकमें प्रतिबिम्बित जिनबिम्बके समान है, लोकके अग्रशिखर पर आरूढ है, सुख-सम्पदासे परिपूर्ण है, बाधाओंसे रहित और कर्मकलंकसे विमुक्त है उस सिद्धात्मा-को ध्याता ध्यावे—अपने ध्यानका विषय बनावे ।'

व्याख्या—यहाँ सिद्धात्माके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसके ध्यानकी प्रेरणा की गई है अथवा यों कहिये कि सिद्धात्माको निर्दिष्ट-रूपमें ध्यानेकी व्यवस्था की गई है । इस स्वरूप-निर्देशमें 'आदि' शब्दके द्वारा सिद्धोंके प्रसिद्ध अष्टगुणोमेंसे, जो आठ कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होते हैं, शेष पाँच गुणों—अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु और अव्याबाधकी सूचना की गई है । सिद्धोंको साकार और निराकार दोनों रूपमें जो प्रतिपादित किया है उसका आशय इतना ही है कि जिस पर्यायसे उन्हें मुक्तिकी प्राप्ति हुई है उसमें जो शरीर उन्हें प्राप्त था और जिसे त्याग करके वे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं उस शरीराकार आत्माके प्रदेश बने रहते हैं इसलिये वे साकार हैं; परन्तु वह आकार त्यक्तशरीरसदृश पौद्गलिक नहीं होता और न इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है इसलिये निराकार हैं । इन दोनों बातोंको स्पष्ट करनेके लिये जिनबिम्ब

और निर्मल स्फटिकका जो उदाहरण दिया है वह बड़ा ही सुन्दर तथा हृदयग्राही है—निर्मल स्फटिकमें प्रतिबिम्बित हुए जिन-बिम्बका आकार तो है परन्तु उसका पौद्गलिक शरीर नहीं है। 'लोकाग्रशिखरारूढ' विशेषणमें 'लोकाग्रशिखर' लोकके मध्यमें स्थित त्रसनाड़ीका वह सर्वोपरि भाग है जिसके नीचे अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला रहती है। कर्म-बन्धनसे छूटते ही सिद्धात्मा ऊर्ध्व-गमन-स्वभावसे एक क्षणभरमें वहाँ पहुँच जाता है। सिद्धात्मा-के इस ध्यानमें उसे प्रायः वहीं स्थित ध्याया जाता है।

अर्हदात्मक-ध्येयका स्वरूप

तथाऽऽद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतम्[1]।
प्रक्षीण-घातिकर्माणं प्राप्ताऽनन्त-चतुष्टयम् ॥१२३॥
दूरमुत्सृज्य भू-भागं नभस्तलमधिष्ठितम्।
परमौदारिक-स्वाऽङ्ग-प्रभा-भर्त्सित-भास्करम् ॥१२४॥
चतुस्त्रिंशन्महाऽऽश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितम्।
मुनि-तिर्यङ्-नर-स्वर्गि-सभाभिः सन्निषेवितम् ॥१२५॥
जन्माऽभिषेक-प्रमुख-प्राप्त-पूजाऽतिशायिनम्[2]।
केवलज्ञान-निर्णीत-विश्वतत्त्वोपदेशिनम् ॥१२६॥
प्रशस्त-लक्षणाकीर्ण[3]-सम्पूर्णोदग्र-विग्रहम्।
आकाश-स्फटिकान्तस्थ-ज्वलज्ज्वालानलोज्ज्वलम् ॥१२७॥
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
परमात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निश्रेयसाऽऽप्तये ॥१२८॥

---

१. आ मधिदेवतां। २. आ ज ऽतिशायनं। ३. मु प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णं

'तथा जो आप्तोंका प्रमुख आप्त है, देवोंका अधिदेवता है, घातिकर्मोंको अत्यन्त क्षीण किये हुए है, अनन्त-चतुष्टयको प्राप्त है, भूतलको दूर छोड़कर नभस्तलमें अधिष्ठित है, अपने परम औदारिक शरीरकी प्रभासे भास्करको तिरस्कृत कर रहा है, चौंतीस महान् आश्चर्यों–अतिशयों और (आठ) प्रातिहार्योंसे सुशोभित है, मुनियों-तिर्यंचों-मनुष्यों और स्वर्गादिके देवोंकी सभाओंसे भले प्रकार सेवित है, जन्माभिषेक आदिके अवसरों पर सातिशय पूजाको प्राप्त हुआ है, केवलज्ञान-द्वारा निर्णीत सकल-तत्त्वोंका उपदेशक है, प्रशस्त-लक्षणोंसे परिपूर्ण उच्च शरीरका धारक है, आकाश-स्फटिकके अन्तमें स्थित जाज्वल्यमान ज्वालावाली अग्निके समान उज्ज्वल है, तेजोंमें उत्तम तेज और ज्योतियोंमें उत्तम ज्योति है, उस अर्हन्त परमात्माको ध्याता निःश्रेयसकी—जन्म-जरा-मरणादिके दुःखोंसे रहित शुद्ध सुखस्वरूप निर्वाणकी[१]—प्राप्तिके लिये ध्यावे—अपने ध्यानमें उतारे।'

व्याख्या—इन पद्योंमें अर्हत्परमात्माको जिस रूपमें ध्याना चाहिये उसकी व्यवस्था दी गई है और उसका उद्देश्य निःश्रेयस (मोक्ष)-सुखकी प्राप्ति बतलाया है। अर्थात् मोक्ष-सुखकी साक्षात् प्राप्ति तथा प्राप्तिकी योग्यता सम्पादन करनेके लक्ष्यको लेकर यह ध्यान किया जाना चाहिये। इस ध्यानकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अर्हत्परमात्माको भूतलसे दूर आकाशमें स्थित ध्यान किया जाता है और इस रूपमें देखा जाता है कि उनके परम औदारिकशरीरकी प्रभाके आगे सूर्यकी ज्योति फीकी पड़ रही है। वे ज्योतियोंमें उत्तमज्योति और तेजोंमें उत्तमतेज-युक्त हैं, चौंतीस अतिशयों (महान् आश्चर्यों) तथा आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित हैं और मुनियों, देवों, मानवों तथा

तिर्यंचोंकी सभाओंसे निषेवित हुए उन्हें उन सब तत्त्वोंका उपदेश देरहे हैं जो केवलज्ञान-द्वारा निर्णीत हुए हैं। उनका शरीर प्रशस्त लक्षणोंसे पूर्ण पूरी ऊँचाईको लिये हुए, अतीव उज्वल है। जन्माभिषेकादि कल्याणकोंके अवसर पर वे जिस पूजातिशय-को प्राप्त हुए हैं उसे भी ध्यानमें लिया जाता है। संक्षेपमें जिन जिन विशेषणोंका उनके लिये प्रयोग हुआ है उन उनरूपसे उन्हें ध्यानमें देखा जाता है।

यहाँ अतिशयों तथा प्रातिहार्योंके नामादिकका निर्देश न करके एकका संख्या-सहित और दूसरेका बिना संख्याके ही बहु-वचनमें उल्लेख करके प्रकारान्तरसे उनके नाम तथा स्वरूपको अनुभवमें लेनेकी प्रेरणा की गई है। ये अतिशय और प्रातिहार्य सुप्रसिद्ध हैं, अनेकाऽनेक जैनग्रन्थोंमें इनके नामादिकका उल्लेख पाया जाता है। अतः ये अन्यत्रसे सहज हो जाने जासकते हैं।

अर्हन्तदेवके ध्यानका फल

[1]वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षिभिः।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥१२६॥

'मुमुक्षुओंके द्वारा ध्यान किया गया यह अर्हन्तदेव वीतराग होते हुए भी उन्हें स्वर्ग तथा अपवर्ग–मोक्षरूप फलका देनेवाला है। उसकी वैसी शक्ति सुनिश्चित है।'

व्याख्या—जिस अर्हन्त परमात्माके ध्येयरूपका वर्णन इससे पूर्व पद्योंमें किया गया है उसके ध्यानका फल इस पद्यमें बतलाया है और वह फल है स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति। इस फलका दाता उस अर्हन्तदेवको ही लिखा है जो कि वीतराग है। वीतरागके

---

१. वीतरागोऽप्यसौ ध्येयो भव्यानां भवच्छिदे।
विच्छिन्नबन्धनस्याऽस्य तादृग्नैसर्गिका गुणः ॥(आर्ष २१-१२९)

रागमात्रका अभाव होजानेसे किसीको कुछ देने-दिलानेकी इच्छादिक नहीं होती तब वह स्वर्ग-मोक्ष-फलका दाता कैसे ? यह प्रश्न पैदा होता है। इस प्रश्नके उत्तर-रूपमें ही **'शक्तिस्तस्य हि तादृशी'** इस वाक्यकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। और इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि भले ही वीतरागके इच्छाका अभाव होजानेसे देने-दिलानेका कोई प्रयत्न न भी बनता हो, फिर भी उसमें ऐसी शक्ति है जिसके निमित्तसे विना इच्छाके ही उस फलकी प्राप्ति स्वतः होजाती है। वह शक्ति है कर्म-कलंकके विनाश-द्वारा स्वदोषोंकी शान्ति होजानेसे आत्मामें शान्तिकी पूर्णप्रतिष्ठा रूप। जिसकी आत्मामें शान्तिकी पूर्णप्रतिष्ठा होजाती है वह विना इच्छा तथा विना किसी प्रयत्नके ही शरणागतको शान्तिका विधाता होता है[1], उसी प्रकार जिस प्रकार कि शीतप्रधान-प्रदेश, जहाँ हिमपात होरहा हो, विना इच्छादिकके ही अपने शरणागतको शीतलता प्रदान करता है। अर्हत्परमात्माने घातिया-कर्मोंका नाश कर अपने भव-बन्धनोंका छेदन किया है, इसलिये उनके ध्यानसे दूसरोंके भव-बन्धनोंका सहज ही छेदन होता है; जैसा कि कल्याणमन्दिरके निम्नवाक्यसे जाना जाता है :—

> **हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति**
> **जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ।**
> **सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-**
> **मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥**

प्रस्तुत ग्रन्थमें ही आगे बतलाया है कि अर्हत्सिद्धके ध्यानसे चरमशरीरीको तो मुक्तिकी प्राप्ति होती है, जो चरमशरीरी नहीं उसको ध्यानके पुण्य-प्रतापसे भोगोंकी प्राप्ति होती है। इससे

---

१. स्वदोष शान्त्या विहितात्मशान्तिः—शान्तेर्विधाता शरणं गतानां।
स्वयंभूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

स्पष्ट है कि अर्हत्सिद्धके ध्यानका स्वाभाविक फल तो मोक्ष ही है, उसीके लिए वह ध्यान किया जाता है; जैसाकि **'निःश्रेयसाप्तये'** (१२८) इस पदके द्वारा व्यक्त किया गया है। परन्तु उसकी प्राप्तिमें दूसरा कारण जो चरमशरीर है वह यदि नहीं है तो फिर स्वर्गोंमें जाना होता है, जहाँ अनुपम भोगोंकी प्राप्ति होती है; और इस तरह दोनों फल बनते हैं।

आचार्य-उपाध्याय-साधु-ध्येयका स्वरूप

सम्यग्ज्ञानादि-सम्पन्नाः प्राप्तसप्तमहर्द्धयः[1] ।
[2]यथोक्त-लक्षणा ध्येया सूर्युपाध्याय-साधवः ॥१३०॥

'जो सम्यग्ज्ञानादिसे सम्पन्न हैं—सम्यग्ज्ञान, सम्यक्श्रद्धान और सम्यक्चारित्र जैसे सद्गुणोंसे समृद्ध हैं—, **जिन्हें सात महा-ऋद्धियाँ–लब्धियाँ** (समस्त अथवा व्यस्त-रूपमें) **प्राप्त हुई हैं और जो यथोक्त**—आगमोक्त—**लक्षणके धारक हैं, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यानके योग्य हैं।'**

व्याख्या—सिद्ध और अर्हन्त इन दो परमेष्ठियोंके ध्येयरूपका निरूपण करनेके अनन्तर अब इस पद्यमें शेष आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेष्ठियोंकी ध्येयरूपताका निर्देश किया गया है। इस निर्देशमें 'सम्यग्ज्ञानादि सम्पन्नाः' यह विशेषणपद तो सबके लिये सामान्य है—आचार्यादि तीनों परमेष्ठी सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भले प्रकार युक्त होने ही चाहियें। **'यथोक्तलक्षणाः'** पद प्रत्येकके अलग-अलग आगमोक्त-लक्षणों-गुणोंका सूचक है; जैसे आचार्यके ३६, उपाध्यायके २५

---

१. बुद्धि तओ वि य लद्धी विकुव्वणलद्धी तहेव ओसहिया।
रस-बल-अक्खीणा वि य लद्धीओ सत्त पण्णत्ता। (वसु० श्रा० ५१२)

२. मु तथोक्तलक्षणाः।

और साधुके २८ मूलगुण। 'प्राप्तसप्तमहर्द्धयः' विशेषण सात महाऋद्धियों (लब्धियों) की प्राप्तिका सूचक है, जिनके नाम हैं—१ बुद्धि, २ तप, ३ विक्रिया, ४ औषधि, ५ रस, ६ बल, ७ अक्षीण, और जो सब अनेक भेदोंमें विभक्त हैं। ये सब ऋद्धियाँ, जिनका भेद-प्रभेदों-सहित स्वरूप आगममें वर्णित है, सभी आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओंको प्राप्त नहीं होतीं—किसीको कोई ऋद्धि प्राप्त होती है तो किसीको दूसरी, किसीको एक ऋद्धि प्राप्त होती है तो किसीको अनेक और किसीको एक भी ऋद्धिकी प्राप्ति नहीं होती है। फिर भी चूँकि यहाँ आचार्यों आदिमेंसे किसी व्यक्ति-विशेषका ध्यान विवक्षित नहीं है, आचार्यादि किसी भी पद-विशिष्टको उसके ऊँचेसे ऊँचे आदर्श-रूपमें, ग्रहणकी विवक्षा है, इसलिये पदविशिष्टके ध्यानके समय सभी ऋद्धियोंका संचिन्तन उसके साथमें आजाता है।

प्रकारान्तरसे ध्येयके द्रव्य-भावरूप दो ही भेद

एवं नामादि-भेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधम्।
अथवा द्रव्य-भावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम्॥१३१॥

'इस प्रकार नाम आदिके भेदसे ध्येय चार प्रकारका कहा गया है। अथवा द्रव्य और भावके भेदसे वह दो प्रकारका ही अवस्थित है।'

व्याख्या—यहाँ नामादि चतुर्विध ध्येयके कथनकी समाप्तिको सूचित करते हुए प्रकारान्तरसे ध्येयको द्रव्य और भाव ऐसे दो रूपमें ही अवस्थित बतलाया है। अगले पद्योंमें इन दो भेदोंकी दृष्टिसे ध्यानके विषयभूत ध्येयका निरूपण किया गया है।

द्रव्यध्येय और भाव-ध्येयका स्वरूप

द्रव्य-ध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाऽचेतनात्मकम् ।
भाव-ध्येयं पुनर्ध्येय[1]-सन्निभ-ध्यानपर्ययः ॥१३२॥

'चेतन-अचेतनरूप जो बाह्य वस्तु है वह सब द्रव्य ध्येयके रूपमें अवस्थित है और जो ध्येयके सदृश ध्यानका पर्याय है—ध्यानारूढ आत्माका ध्येय-सदृश परिणमन है—वह भाव-ध्येय-के रूपमें परिगृहीत है।'

व्याख्या—इस द्विविध-ध्येय-प्ररूपणमें स्वात्मासे भिन्न जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, चाहे वे चेतन हों या अचेतन, सब द्रव्यध्येय-की कोटिमें स्थित हैं, और भावध्येयमें उन सब ध्यान-पर्यायोंका ग्रहण है जिनमें ध्याता ध्येयसदृश परिणमन करता है—ध्येय-रूप धारण करके तद्वत् क्रिया करनेमें समर्थ होता है।

द्रव्यध्येयके स्वरूपका स्पष्टीकरण

ध्याने हि विभ्रति[2] स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम् ।
आलेखितमिवाऽऽभाति ध्येयस्याऽऽसन्निधावपि ॥१३३॥

'ध्यानमें स्थिरताके परिपुष्ट हो जाने पर ध्येयका स्वरूप, ध्येयके संनिकट न होते हुए भी, स्पष्टरूपसे आलेखित-जैसा प्रतिभासित होता है—ऐसा मालूम होता है कि वह ध्याता आत्मामें अंकित है अथवा चित्रित हो रहा है।'

व्याख्या—यहाँ, द्रव्यध्येयके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए, यह बतलाया है कि जब द्रव्यध्येयका रूप ध्यानमें पूरी तरह स्थिरता-को प्राप्त होता है तब वह ध्येयके वहाँ मौजूद न होते हुए भी आत्मामें उत्कीर्ण-कीलित अथवा प्रतिबिम्बित-जैसा प्रतीत होता है।

---

१. मु पुनर्ध्येय । २. मु विभ्रते ।

द्रव्यध्येयको पिण्डस्थध्येयकी संज्ञा

[1]ध्यातुः पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।
[2]ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन[3] ॥१३४॥

'ध्येयपदार्थ चूंकि ध्याताके शरीरमें स्थितरूपसे ही ध्यान-का विषय किया जाता है इसलिये कुछ आचार्य उसे 'पिण्डस्थ-ध्येय' कहते हैं।'

व्याख्या—इस द्रव्यध्येयको कुछ आचार्योंके मतानुसार-'पिण्डस्थध्येय' भी कहते हैं और उसका कारण यह है कि वह द्रव्यध्येय ध्याताके शरीरसे बाहर नहीं किन्तु उसके शरीरमें स्थित-जैसा ध्यानका विषय बनाया जाता है। किन पूर्ववर्ती आचार्योंका ऐसा युक्तिपुरस्सर मत है यह बात अनुसंधान-द्वारा स्पष्ट किये जानेके योग्य है। हाँ, श्रीपद्मसिंह मुनिने अपने 'ज्ञानसार' ग्रन्थ (सं० १०८६) में ऐसे ध्यानके विषयभूत ध्येयको पिण्डस्थध्येयके रूपमें उल्लेखित जरूर किया है, जैसा कि उसकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है :—

णिय-णाहि-कमलमज्झे परिट्ठियं विप्फुरंत-रवितेयं ।
झाएह अरुहरूवं झाणं तं मुणह पिण्डत्थं ॥१९॥
झायह णिय-कुरमज्झे भालयलेहिय-कंठ-देसम्मि ।
जिणरूवं रवितेयं पिंडत्थं मुणह झाणमिणं ॥२०॥

ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थोंमें पिण्डस्थध्यानको पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसी पांच धारणाओंके रूपमें ही वर्णित किया है।[4]

---

१. मु धातुपिण्डे स्थितेश्चैवं । २. मु ध्येयपिण्डस्थं । ३. मु केवलं ।
४. " पिण्डस्थं पंच विज्ञेया धारणा वीर-वर्णिताः ।
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना चाऽथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥" (ज्ञाना० ३७-२-३)
" पार्थिवी स्यादाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्र(त्व)भूः पंचमी चेति पिण्डस्थे पंच धारणाः ॥" (योगशा० ७-९)

भावध्येयका स्पष्टीकरण

यदा ध्यान-बलाद्ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहम् ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् सम्पद्यते स्वयम् ।।१३५।।
तदा तथाविध-ध्यान-संवित्ति-ध्वस्त-कल्पनः ।
[1]स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः ।।१३६।।

'जिस समय ध्याता ध्यानके बलसे अपने शरीरको शून्य बनाकर ध्येयस्वरूपमें आविष्ट-प्रविष्ट होजानेसे अपनेको तत्सदृश बना लेता है उस समय उस प्रकारकी ध्यान-संवित्तिसे भेद-विकल्पको नष्ट करता हुआ वह ही परमात्मा, गरुड़ अथवा काम देव हो जाता है—परमात्मस्वरूपको ध्यानाविष्ट करनेसे परमात्मा, गरुड़रूपको ध्यानाविष्ट करनेसे गरुड़ और कामदेवके स्वरूपको ध्यानाविष्ट करनेसे कामदेव बन जाता है।

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१३२)में भाव-ध्येयका जो स्वरूप ध्यानारूढ आत्माका ध्येय-सदृश परिणमन बतलाया गया है उसीके स्पष्टीकरणको लिये हुए ये दोनों पद्य हैं। इनमें यह दर्शाया है कि जिस समय ध्याता ध्यानाऽभ्यासके सामर्थ्यसे अपने शरीरको शून्य (सुन्न) बना लेता है—उस पर बाह्य पदार्थका असर नहीं होता—और ध्येयके स्वरूपको अपनेमें आविष्ट कर लेनेसे तत्सदृश हो जाता है उस समय वह उस प्रकारके तद्रूप ध्यानकी अनुभूतिसे ध्याता और ध्येयके भेद-भावको मिटा देता है और इस तरह जिसका ध्यान करता है भावसे उस रूप हो जाता तथा उस रूप क्रिया करने लगता है। यहाँ ध्येयमें उदाहरण-रूप परमात्मा, गरुड़ और कामदेवको रक्खा गया है, इनमेंसे जिस ध्येयका भी ध्यान हो ध्याता उसी रूप बन जाता और क्रिया करने लगता है, यही भावध्येयका सार है।

---

१. जं परमप्पय तच्चं तमेव विष-काम-तत्तमिह भणियं ।।४८।।
—ज्ञानसारे—पद्मसिंहः

इस विषयका दूसरा कितना ही वर्णन एवं संसूचन समरसी-भावकी सफलताको प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थमें कुछ पद्योंके बाद आगे दिया है[1]।

यहाँ '**स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः**' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इसके द्वारा उन शिव, गरुड़, तथा काम नामके तीन तत्त्वोंकी सूचना की गई है जिन्हें जैनेतर योगीजन अपने ध्यानका मुख्य विषय बनाते हैं और जिनके विषय-का स्पष्टीकरण एवं महत्वपूर्ण वर्णन 'ज्ञानार्णव' के 'त्रितत्व-प्ररूपण' नामक २१ वें प्रकरणमें, आत्माकी अचिन्त्यशक्ति-सामर्थ्यका ख्यापन करते हुए, गद्य-द्वारा किया गया है। साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनों तत्त्व आत्मासे भिन्न कोई जुदे पदार्थ नहीं हैं—संसारस्थ आत्माके ही शक्ति-विशेष हैं; जैसा कि उसके निम्न पद्य तथा गद्यसे स्पष्ट है:—

"शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः।
अणिमादि-गुणाऽनर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः" ॥६॥

"तदेवं यदिह जगति शरीरविशेषसमवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलात्मन एवेति विनिश्चयः। आत्मप्रवृत्ति-परंपरोत्पादितत्वाद्विग्रह-ग्रहणमस्येति।"

समरसीभाव और समाधिका स्वरूप

[2]सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
एतदेव समाधिः स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रदः ॥१३७॥

---

१ देखो, पद्य १९७ से २१२।

२ "सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥ (ज्ञाना० ३१-३८)
"सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं मतं।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ (योगशास्त्र १०-४)
"ध्यातृ-ध्यानोभयाऽभावे ध्येयेनैक्यं यदा व्रजेत्।
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं मतं ॥ (योगप्रदीप ६५)

'उन दोनों ध्येय और ध्याताका जो यह एकीकरण है वह समरसीभाव, माना गया है, यही एकीकरण समाधिरूप ध्यान है, जो इन दोनों लोकके फलको प्रदान करनेवाला है।'

व्याख्या—यह भावध्येय, जिसमें ध्याता अपना पृथक् अस्तित्व भुला कर ध्येयमें ऐसा लीन हो जाता है कि तद्रूप-क्रिया करने लगता है, समरसीभाव कहलाता है। इसीका नाम वह समाधि है जिससे इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी दोनों प्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है।

द्विविध-ध्येयके कथनका उपसंहार

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता॥१३८॥

'इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या? इस समस्त ध्येयका स्वरूप वस्तुतः जानकर तथा श्रद्धानकर उसमें मध्यस्थता—वीतरागता धारण करनेवालेको उसे अपने ध्यानका विषय बनाना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ प्रकारान्तरसे निर्दिष्ट हुए द्विविधध्येयके कथनका उपसंहार करते हुए साररूपमें इतना ही कहा गया है कि वह सब वस्तु इस ध्येयकी कोटिमें स्थित है जिसे यथार्थरूपसे जानकर और श्रद्धान करके उसमें राग-द्वेषादिके अभावरूप मध्यस्थ-भावको धारण किया गया हो। इस कथन-द्वारा प्रस्तुत ध्येयके मौलिक सिद्धान्तका निरूपण किया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार कोई भी बाह्य वस्तु ध्यानका विषय बनाई जा सकती है बशर्ते कि उसके यथार्थ स्वरूपके परिज्ञान और श्रद्धानके साथ काम-क्रोध-लोभादिकी निवृत्तिरूप समताभाव, उपेक्षाभाव या वीतरागभाव जुड़ा हो। इसी आशयको लिये हुए कुछ पुरातन आचार्योंके निम्न वाक्य भी ध्यानमें लेने योग्य हैं:—

[1]ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्यर्थसंचयम् ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावात्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ।।
[2]वीतरागो भवद्योगी यत्किंचिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थ-विस्तरः ।।
[3]जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं तदा हु तस्स तं णिच्छयं झाणं ।।

इनमेंसे प्रथम वाक्य (पद्य)में यह बतलाया है कि विश्ववर्ती सारा पदार्थसमूह उस वीतराग-साधुके ध्यानका विषय है जो ध्येयके स्वरूपमें विपरीतताके अभावसे उसमें मध्यस्थताको धारण किये हुए है। दूसरेमें यह प्रतिपादित किया है कि योगी वीतराग होता हुआ जो कुछ भी चिन्तन करता है वह सब ध्यान है। इस संक्षिप्त कथनसे भिन्न अन्य सब ग्रन्थका विस्तार है। और तीसरेमें यह दर्शाया है कि चाहे जिस पदार्थका चिन्तन करता हुआ साधु जब एकाग्र होकर निरोहवृत्ति (वीतराग या मध्यस्थ) हो जाता है तब उसके निश्चयध्यान बनता है।

माध्यस्थ्यके पर्यायनाम

**माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा[4] ।
वैतृष्ण्यं प्रशमः[5] शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते ।।१३६।।**

'**माध्यस्थ्य** (मध्यस्थता), **समता**, **उपेक्षा**, **वैराग्य**, **साम्य**, **अस्पृहा** (निःस्पृहता), **वैतृष्ण्य** (तृष्णाका अभाव), **प्रशम और शान्ति ये सब एक ही अर्थको लिये हुए हैं।**'

१, २. ये दोनों पद्य ज्ञानार्णवके ३८ वें प्रकरणमें ११३ वें पद्यके अनन्तर 'उक्तं च' 'पुनः उक्तं च' रूपसे उद्धृत हैं।

३. यह द्रव्यसंग्रहका ५५ वां पद्य है।

४. मु मस्पृहः । ५. मु परमः ।

व्याख्या—यहाँ माध्यस्थ्यके पर्याय नाम दिये गये हैं। इससे पूर्व पद्यमें ध्याताको ध्येयके प्रति माध्यस्थ्य धारणकी जो बात कही गई है वह इन सब शब्दोंके आशयको लिये हुए समझनी चाहिये। इन उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निःस्पृहता, वितृष्णा, प्रशम और शान्ति शब्दोंके द्वारा माध्यस्थ्यका विषय बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। ये सब शब्द संज्ञाकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी अर्थकी दृष्टिसे वस्तुतः एक ही मूल आशयको लिये हुए हैं। अतः इनमेंसे किसीका भी कहीं प्रयोग होने पर, प्रकरणको ध्यानमें रखते हुए, दूसरे किसी शब्दके द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

जो संज्ञा-शब्द होते हैं वे अपने-अपने बाह्य अर्थको साथ लिये रहते हैं[1]। जिन संज्ञा-शब्दोंके बाह्यार्थ परस्परमें एक दूसरेके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखते हैं वे सब एकार्थ कहे जाते हैं। अथवा यों कहिये कि प्रत्येक वस्तुमें अनेक गुण, धर्म, शक्ति, विशेष या अंश होते हैं, उन सबको एक ही शब्दके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता—शब्दमें उतनी शक्ति ही नहीं है। इसीसे विवक्षित गुण-धर्मादिको यथावसर व्यक्त करनेके लिये तत्तत् शक्तिविशिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, यही एक वस्तुके अनेक नाम होनेका प्रधान कारण है। इसीसे उक्त नौ नाम भिन्न होते हुए भी सर्वथा भिन्न नहीं हैं—वास्तविक अर्थकी दृष्टिसे एक ही हैं[2]। विशेष व्याख्याके द्वारा इन सबके एकार्थको भले प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ समानार्थक संज्ञा शब्द

---

१. जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्। —देवागमे, समन्तभद्रः

२. संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः।
प्रयोजनादि-भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥

—देवागमे, समन्तभद्रः

इनके साथ और भी जोड़े जा सकते हैं जैसे उदासीनता, वीत-रागता, राग-द्वेष-विहीनता, लालसा-विमुक्ति, अनासक्ति आदि। श्रीपद्मनन्दिआचार्यने 'एकत्वसप्तति' में 'साम्य' के साथ स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोगको भी एकार्थक बतलाया है[1]।

परमेष्ठियोंके ध्याए जाने पर सब कुछ ध्यात

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तरात्परमागमे ।
तत्सर्वं ध्यातमेव[2] स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिसु ॥१४०॥

'यहाँ—इस शास्त्रमें—जो कुछ संक्षेपरूपसे कहा गया है उसे परमागममें विस्ताररूपसे बतलाया है। पंचपरमेष्ठियोंके ध्याये जाने पर वह सब ही ध्यातरूपमें परिणत हो जाता है—उसके पृथक्रूपसे ध्यानकी जरूरत नहीं रहती अथवा पंचपरमेष्ठियोंका ध्यान कर लिए जानेपर सभी श्रेष्ठ व्यक्तियों एवं वस्तुओंका ध्यान उसमें समाविष्ट हो जाता है।'

व्याख्या—इस पद्यमें यह सूचना की गई है कि व्यवहारनयकी दृष्टिसे ध्येयके विषयमें जो कुछ कथन संक्षेपरूपसे ऊपर कहा गया है उसका विस्तारसे कथन परमागममें है, विस्तारसे जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको उसके लिये आगमग्रन्थोंको देखना चाहिये। साथ ही यह भी सूचित किया है कि अर्हन्तादि पंचपरमेष्ठियोंके ध्यानमें इस प्रकारके ध्यानका सब कुछ विषय आजाता है और यह सब ठीक ही है; क्योंकि पाँचों परमेष्ठियोंके वास्तविक ध्यानके बाद ऐसा कोई विषय ध्यानके लिए अवशिष्ट नहीं रहता, जो आत्म-विकासमें विशेष सहायक हो।

---

१. साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥६४॥

२. मु मे ध्यानमेव ।

निश्चय-ध्यानका निरूपण

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयम् ।
निश्चयादधुना स्वात्मालम्बनं तन्निरूप्यते ।।१४१।।

'इस प्रकार व्यवहारनयकी दृष्टिसे यह पराश्रितध्यान कहा गया है। अब निश्चयनयकी दृष्टिसे जो स्वात्मालम्बनरूप ध्यान है उसका निरूपण किया जाता है।'

व्याख्या—यहाँ व्यवहारनयाश्रित उस परालम्बनरूप भिन्न-ध्यानके कथनकी समाप्तिको सूचित किया है जिसका प्रारम्भ 'आज्ञापायौ' इत्यादि पद्य (६८) से किया गया था। साथ ही आगेके लिये निश्चयनयाश्रित स्वात्मालम्बन-रूप ध्यानके कथनकी प्रतिज्ञा की है, जिसका उद्देश्यरूपमें निर्देश पहले (प० ६६ में) आ चुका है।

ब्रुवता ध्यान-शब्दार्थं यद्रहस्यमवादि तत्[1] ।
तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते ।।१४२।।

'यद्यपि ध्यानशब्दके अर्थको बतलाते हुए (इस विषयमें) रहस्यकी जो बात थी वह कही जा चुकी है तो भी स्पष्टरूप व्याख्याकी दृष्टिसे उसे (यहाँ) फिरसे कहा जाता है।'

व्याख्या—ध्यानके जिस पूर्वकथनकी यहाँ सूचना की गई है वह ग्रन्थमें '**ध्यायते येन तद्ध्यानं**' इस ६७वें पद्यसे प्रारम्भ होकर 'स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन' नामक ७४ वें पद्य तक दिया हुआ है। वह सब कथन निश्चयनयकी दृष्टिको लिये हुए है; यहाँ भी उसी दृष्टिसे कुछ विशेष एवं स्पष्ट कथन करनेकी विज्ञापना की गई है।

---

१. मु मे मवादि सत् ।

दिध्यासुः[1] स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितं[2] ।
विहायाऽन्यदनर्थित्वात् स्वमेवाऽवैतु पश्यतु ॥१४३॥

'**जो स्वावलम्बी निश्चयध्यान करनेका इच्छुक है वह स्वको और परको यथावस्थित-रूपमें जान कर तथा श्रद्धान कर और फिर परको निरर्थक होनेसे छोड़कर स्वको** (अपने आत्माको) **ही जानो और देखो।**'

व्याख्या—यहाँ स्वके साथ परके यथार्थज्ञान-श्रद्धानकी जो बात कही गई है वह अपना खास महत्व रखती है। जब तक परका यथार्थ-बोधादिक नहीं होता तब तक उसको स्वसे भिन्न एवं अनर्थक समझकर छोड़ा नहीं जाता और जब तक परसे छुटकारा नहीं मिलता तब तक स्वात्मालम्बन-रूप निश्चय-ध्यानमें यथार्थ-प्रवृत्ति नहीं बनती।

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।
तत्रैकाग्र्यं[3] समासाद्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१४४॥

'अतः **पहले श्रुत** (आगम) **के द्वारा अपने आत्मामें आत्म-संस्कारको आरोपित करे**—आगममें आत्माको जिस यथार्थरूपमें वर्णित किया है उस प्रकारकी भावनाओं-द्वारा उसे संस्कारित करे—**तदनन्तर उस संस्कारित स्वात्मामें एकाग्रता** (तल्लीनता) **प्राप्त करके और कुछ भी चिन्तन न करे।**'

व्याख्या—यहाँ निश्चयध्यानकी यथार्थसिद्धिके लिये पहले आत्माको श्रुतकी भावनाओंसे संस्कारित करनेकी बात कही गई है, जिससे आत्माको अपने स्वरूपके विषयमें सुदृढ़ताकी

---

१. मु दिधासु। २. मु यथास्थिर्ति।
३. मु मे तत्रैकाग्रं।

प्राप्ति हो और वह अन्य चिन्ता छोड़कर अपनेमें ही लीन हो सके। और यह बात बड़े ही महत्वकी है, जिसे अगले दो पद्योंमें स्पष्ट किया गया है।

श्रौती-भावनाका अवलम्बन न लेनेसे हानि

[1]यस्तु नालम्बते[2] श्रौतीं भावनां कल्पना-भयात्।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन्बहिश्चिन्तां बिभर्ति च ॥१४५

'जो ध्याता कल्पनाके भयसे श्रौती (श्रुतात्मक) भावनाका आलम्बन नहीं लेता वह अवश्य अपने आत्म-विषयमें मोहको प्राप्त होता है और बाह्य चिन्ताको धारण करता है।'

व्याख्या—जो ध्याता निर्विकल्प-ध्यान न बन सकनेके भयसे पूर्वावस्थामें भी श्रौती भावनाको, जो कि सविकल्प होती है, नहीं अपनाता वह मोहसे अभिभूत अथवा दृष्टिविकारको प्राप्त होता है[3] और बाह्य-पदार्थोंकी चिन्तामें भी पड़ता है। इससे उसे सबसे पहले श्रौती-भावनाके संस्कार-द्वारा अपने आत्माको उसके स्वरूप-विषयमें सुनिश्चित और सुदृढ बनाना चाहिये, तभी निर्विकल्प-ध्यान अथवा समाधिकी बात बन सकेगी।

श्रौती-भावनाकी दृष्टि

तस्मान्मोह-प्रहाणाय बहिश्चिन्ता-निवृत्तये।
स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमेकाग्र्यस्य[4] च सिद्धये ॥१४६॥

---

१. सि जु प्रतियोंमें यह पद्य १४८ वें पद्यके बाद दिया है, जो ठीक नहीं है।

२. मु० नालम्ब्यते।

३. गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्ज।
जो ण हु सुयमवलम्बइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे ॥
—अन० टी० ३-१ तथा इष्टो० टी० में उद्धृत

४. मु मेकाग्रस्य

'अतः मोहका विनाश करने, बाह्यचिन्तासे निवृत्त होने और एकाग्रताकी सिद्धिके लिये ध्याता पहले स्वात्माको श्रौती-भावनासे भावे—संस्कारित करे।'

व्याख्या—जब श्रौती-भावना का आलम्बन न लेनेसे मोह-को प्राप्त होना तथा बाह्य चिन्तामें पड़ना अवश्यंभावी है तब मोहके विनाश तथा बाह्य-चिन्ताकी निवृत्तिके लिये और एका-ग्रताकी सिद्धिके लिये अपने आत्माको पहले श्रौती-भावनासे भावित अथवा संस्कारित करना चाहिए। ऐसी यहाँ सातिशय प्रेरणा की गई है और इससे श्रौती-भावनाकी दृष्टि तथा उसका महत्व स्पष्ट होजाता है।

श्रौती-भावनाका रूप

तथा हि चेतनोऽसंख्य-प्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्ध-रूपोऽस्मि ज्ञान-दर्शन-लक्षणः[1] ॥१४७॥

'वह श्रौतीभावना इस प्रकार है :—

'मैं चेतन हूँ, असंख्यप्रदेशी हूँ, मूर्तिरहित-अमूर्तिक हूँ सिद्धसदृश शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षणसे युक्त हूँ।

व्याख्या—यहाँ आत्मा अपने वास्तविक रूपकी भावना कर रहा है, जोकि चेतनामय है, असंख्यातप्रदेशी है, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप मूर्तिसे रहित अमूर्तिक है, सिद्धोंके समान शुद्ध है और ज्ञान-दर्शन-लक्षणसे लक्षित है। ज्ञान और दर्शन गुणोंको जो लक्षण कहा गया है वह इसलिये कि ये उसके व्यावर्तक गुण हैं—अन्य सब पदार्थोंसे आत्माका स्पष्ट भिन्नबोध कराने वाले हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें **'उपयोगो लक्षणं'** सूत्रके द्वारा जीवात्माका जो उपयोग लक्षण दिया है वह भी इन दोनोंका सूचक है। क्योंकि

---

१. एगो मे सस्सदो आदा णाण-दंसण-लक्खणो
नियमसारे, कुन्दकुन्दः

उपयोगके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ऐसे दो मूलभेद किये गये हैं; जिनमें ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार उत्तर-भेद हैं; जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके **'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः'** इत्यादि अगले सूत्रोंसे जाना जाता है।

[1]नाऽन्योऽस्मि नाऽहमस्त्यन्यो नाऽन्यस्याऽहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाऽहमन्योऽन्यस्याऽहमेव मे ॥१४८॥

'मैं अन्य नहीं हूँ, अन्य मैं (आत्मा) नहीं है। मैं अन्यका नहीं न अन्य मेरा है। वस्तुतः अन्य अन्य है, मैं ही मैं हूँ, अन्य अन्यका है और मैं ही मेरा हूँ।'

व्याख्या—यहाँ, स्व-परके भेद-भावको दृढ़ करते हुए, आत्मा भावना करता है—'मैं किसी भी पर-पदार्थरूप नहीं हूँ; कोई परपदार्थ मुझ-रूप नहीं है; मैं पर-पदार्थका कोई सम्बन्धी नहीं हूँ, न पर-पदार्थ मेरा कोई सम्बन्धी है। वस्तुतः पर-पदार्थ पर ही है, मैं मैं ही हूँ; पर-पदार्थ परका सम्बन्धी है, मैं ही मेरा सम्बन्धी हूँ।'

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनम्।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥१४९॥

'शरीर **अन्य है, मैं अन्य** हूँ; (क्योंकि) **मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन** है, यह शरीर **अनेकरूप** है, **मैं एकरूप हूँ, यह क्षयी** (नाशवान्) **है, मैं अक्षय** (अविनाशी) **हूं।'**

---

१. मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नाऽन्योऽहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥ (आत्मानु० २४३)

व्याख्या—यहाँ शरीरसे आत्माके भिन्नत्वकी भावना की गई है और उसके मुख्य तीन रूपोंको लिया गया है—१ चेतन-अचेतन-का भेद, २ एक-अनेकका भेद, ३ और क्षयी-अक्षयीका भेद। इन तीनों भेदोंको अनेक प्रकारसे अनुभवमें लाया जाता है। आत्मा चेतन है—ज्ञान-स्वरूप है, शरीर अचेतन है—ज्ञान-रहित जड़रूप है; शरीर अनेकरूप है—अनेक ऐसे पदार्थों तथा अंगोंके संयोगसे बना है, जिन्हें भिन्न किया जा सकता है, आत्मा वस्तुतः अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे एक है, जिसमें किसी पदार्थका मिश्रण नहीं और न जिसका कोई भेद अथवा खण्ड किया जा सकता है; शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है—यदि एक दो दिन भी भोजनादिक न मिले तो स्पष्ट क्षीण दिखाई पड़ता है, जबकि आत्मा क्षयरहित है—अविनाशी है, कोई भी प्रदेश उसका कभी उससे जुदा नहीं होता, भले ही भवान्तर-ग्रहणादिके समय उसमें संकोच-विस्तार होता रहे और ज्ञानादिक गुणों पर आवरण भी आता रहे; परन्तु वे गुण कभी आत्मासे भिन्न नहीं होते।

अचेतनं [1]भवेन्नाऽहं नाऽहमप्यस्म्यचेतनम्[2]।
ज्ञानात्माऽहं न मे कश्चिन्नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ॥१५८

'**अचेतन मैं (आत्मा) नहीं होता; न मैं अचेतन होता हूँ; मैं ज्ञानस्वरूप हूं; मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी दूसरे का हूँ।**'

व्याख्या—यहाँ आत्मा यह भावना करता है कि कोई भी अचेतन पदार्थ कभी आत्मा (मैं) नहीं बनता और न आत्मा (मैं) कभी किसी अचेतन पदार्थके रूपमें परिणमन करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दूसरा कोई भी पदार्थ उसका अपना नहीं और न वह किसी दूसरे पदार्थका कोई अंग अथवा सम्बन्धी है।

---

१. मु भवे नाहं। २. मु आ मप्यस्त्यचेतनं।

यहाँ तथा आगे पीछे जहाँ भी 'अहं' (मैं) शब्दका प्रयोग हुआ है वह सब आत्माका वाचक है।

योऽत्र स्व-स्वामि-सम्बन्धो ममाऽभूद्वपुषा सह ।
यस्त्वेकत्व-भ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥१५१॥

'इस संसारमें मेरा शरीरके साथ जो स्व-स्वामि-सम्बन्ध हुआ है—शरीर मेरा स्व और मैं उसका स्वामी बना हूँ—**तथा दोनोंमें एकत्वका जो भ्रम है वह सब भी परके निमित्तसे है, स्वरूपसे नहीं।'**

व्याख्या—यहाँ 'परस्मात्' पदके द्वारा जिस पर-निमित्तका उल्लेख है वह नामकर्मादिकके रूपमें अवस्थित है, जिससे शरीर तथा उसके अंगोपांगादिकी रचना होकर आत्माके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ता है और जिससे शरीर तथा आत्मामें एकत्वका भ्रम होता है वह दृष्टि-विकारोत्पादक दर्शनमोहनीय कर्म है। इस पर-निमित्तकी दृष्टिसे ही व्यवहारनय-द्वारा यह कहनेमें आता है कि 'शरीर मेरा है'। अन्यथा आत्माके स्वरूपकी दृष्टि-से शरीर आत्माका कोई नहीं और न वस्तुतः उसके साथ एक-मेकरूप तादात्म्य-सम्बन्धको ही प्राप्त है—मात्र कर्मोंके निमित्त-से संयोग-सम्बन्धको लिये हुए है, जिसका वियोग अवश्यंभावी है। यह सब इस श्रौती-भावनामें आत्मा चिन्तन करता है और इसके द्वारा शरीरके साथ स्व-स्वामि-सम्बन्ध तथा एकत्वके भ्रमको दूर भगाता है।

जीवादि-द्रव्य-याथात्म्य [1]ज्ञानात्मकमिहाऽऽत्मना ।
पश्यन्नात्मन्यथाऽऽत्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥१५२॥

---

१. मु ज्ञातात्मक।

'मैं इस संसारमें जीवादि-द्रव्योंकी यथार्थताके ज्ञानस्वरूप आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामें देखता हुआ (अन्य) वस्तुओंमें उदासीन रहता हूं—उनमें मेरा कोई प्रकारका रागादिक भाव नहीं है।'

व्याख्या—इस श्रौती-भावनामें आत्मा अपनेमें स्थित हुआ अपने द्वारा अपने आपको इस रूपमें देखता है कि वह जीवादि-द्रव्योंके यथार्थ-ज्ञानको लिये हुए है, और इस प्रकार देखता हुआ वह अन्य पदार्थों से स्वतः विरक्तिको प्राप्त होता है—उनमें उसकी रुचि नहीं रहती।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाऽप्युदासीनः।
स्वोपात्त-देहमात्रस्ततः परं[1] गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

'मैं सदा सत् द्रव्य हूं; चिद्रूप हूं, ज्ञाता-दृष्टा हूं, उदासीन हूं, स्वग्रहीत देह परिमाण हूं और शरीर-त्यागके पश्चात् आकाशके समान अमूर्तिक हूं।'

व्याख्या—इस श्रौतीभावनामें आत्मा अपनेको सद्द्रव्य, चिद्द्रव्य और उदासीनरूप कैसे अनुभव करता है, इसका स्पष्टी-करण अगले पद्योंमें किया गया है। ज्ञाता-दृष्टा पदोंका वाच्य स्पष्ट है। '**स्वोपात्तदेहमात्रः**' इस पदके द्वारा आत्माके आकारकी सूचना की गई है। ससार-अवस्थामें आत्मा जिस शरीरको ग्रहण करता है उस शरीरके आकार-प्रमाण आत्माका आकार रहता है। शरीरका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाने पर मुक्ति-अवस्थामें यद्यपि आत्मा आकाशके समान अमूर्तिक हो जाता है परन्तु आकाशके समान अनन्तप्रदेशी नहीं हो जाता, उसके प्रदेशोंकी सख्या असंख्यात ही रहती है और वे असंख्यातप्रदेश भी सारे

१. सि जु देहमात्रः स्मृतः पृथग्।

लोकाकाशमें व्याप्त होकर लोकाकाशरूप आकार नहीं बनाते ; किन्तु आकार आत्माका प्रायः अन्तिम शरीरके आकार-जितना ही रहता है; क्योंकि आत्म-प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार कर्म-के निमित्तसे होता था, जब कर्मोंका अस्तित्व नहीं रहता तब आत्माके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार सदाके लिये रुक जाता है। इसी बातको ग्रन्थमें आगे '**पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मितौ**' इत्यादि पद्यों (२३२, २३३) के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

[1]सन्नेवाऽहं सदाऽप्यस्मि स्वरूपादि-चतुष्टयात् ।
असन्नेवाऽस्मि चात्यन्तं पररूपाद्यपेक्षया ॥१५४॥

'**स्वरूपादि-चतुष्टयको दृष्टिसे**—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावकी अपेक्षासे—**मैं सदा सत्‌रूप ही हूँ और पर-स्वरूपा-दिकी दृष्टिसे**—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे—**अत्यन्त असत्‌रूप ही हूँ**।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें '**सद्द्रव्यमस्मि**' यह जो भावना-वाक्य दिया है उसीके स्पष्टीकरणरूपमें इस पद्यका अवतार हुआ है। यहाँ आत्मद्रव्य सत्‌रूप ही नहीं किन्तु असत्‌रूप भी है, इस-का सहेतुक प्रतिपादन किया है, लिखा है कि—आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा सत्‌रूप ही है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा असत्‌रूप ही है। इस कथनका पूर्वकथनके साथ कोई विरोध नहीं है; क्योंकि आत्माको सत् और असत् दोनों रूप बतलाना अपेक्षा-भेदको लिए हुए है—एक ही अपेक्षासे सत् तथा असत्-रूप नहीं कहा गया है। वास्तवमें इस सत् (अस्ति) और असत् (नास्ति) का परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है—एकके बिना

---

१. सन्नेवाऽहं मया वेद्यो स्वद्रव्यादि-चतुष्टयात् ।
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मत्वादसन्नेव विपर्ययात् ॥—अध्यात्मरहस्य ३१

दूसरेका अस्तित्व बनता[1] नहीं। इसीसे सत्के स्पष्टीकरणमें उसके सत्-असत् दोनों रूपोंको दिखाया गया है।

यहाँ सत्के विषयमें स्वामी समन्तभद्रकी प्रतिक्षण-ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक–दृष्टिसे भिन्न उन्हींकी दूसरी स्वद्रव्यादि-चतुष्टयकी दृष्टिको अपनाया गया है; जैसा कि उनके देवागम-गत निम्न-वाक्यसे स्पष्ट जाना जाता है :—

सदेव सर्व को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।१५।।

इसमें बतलाया है कि सर्वद्रव्य स्वरूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे–स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे—सत्रूप ही हैं और पर-रूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षासे –असत्रूप ही हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो सत्-असत् दोनोंमें किसीकी भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी; क्योंकि दोनों पर-स्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिए हुए हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं बनता। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप सत्द्रव्य यदि पर-द्रव्यादि-चतुष्टयके अभावको अपनेमें लिये हुए नहीं है तो उसके स्वरूपकी कोई प्रतिष्ठा ही नहीं बनती और न तब संसारमें किसी वस्तुकी व्यवस्था ही बन सकती है।

यन्न चेतयते किंचिन्नाऽचेतयत् किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नाऽस्म्यहम् ।।१५५।।

'जो कुछ चेतता-जानता नहीं, जिसने कुछ चेता–जाना नहीं और जो कुछ चेतेगा–जानेगा नहीं वह शरीरादिक मैं नहीं हूँ।'

---

१. जैसा कि स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत देवागमके निम्नवाक्योंसे विदित है-
'अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद-विवक्षया ।।१७।।
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया ।।१८।।

व्याख्या—पिछले पद्य (१५३) में '**चिदहं**' और उससे कुछ पूर्ववर्ती पद्य (१४६) में '**चिदहं तदचेतनम्**' इन पदोंका जो प्रयोग हुआ है, उन्हींके स्पष्टीकरणको लिये हुए यह पद्य है। इसमें शरीरको लक्ष्य करके कहा गया है कि वर्तमानमें वह कुछ जानता नहीं, भूतकालमें उसने कभी कुछ जाना नहीं और भविष्यमें वह कभी कुछ जानेगा नहीं, ऐसी जिसकी वस्तुस्थिति है वह शरीर मैं (आत्मा) नहीं हूँ। 'आदि' शब्दसे तत्सदृश और भी जितने अचेतन (जड) पदार्थ हैं उनरूप भी मैं (आत्मा) नहीं हूँ।

[1]यदचेतत्तथा[2]पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा[3] ।
चेततीत्थं[4]यदत्राऽद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहम् ॥१५६॥

'जिसने पहले उस प्रकारसे चेता–जाना है, जो (भविष्यमें) अन्य प्रकारसे चेतेगा–जानेगा और जो आज यहाँ इस प्रकारसे चेतता–जानता है वह सम्यक् चेतनात्मक द्रव्य मैं हूँ।'

व्याख्या—यहाँ चिद्द्रव्यकी सत्‌दृष्टिको प्रधान कर कहा गया है कि जिसने भूतकालमें उस प्रकार जाना, जो भविष्यमें अन्य प्रकार जानेगा और जो वर्तमानमें इस प्रकार जान रहा है वह चेतनद्रव्य मैं (आत्मा) हूँ। चेतनाकी धारा आत्मामें शाश्वत चलती है, भले ही आवरणोंके कारण वह कहीं और कभी अल्पाधिक रूपमें दब जाय; परन्तु उसका अभाव किसी समय भी नहीं होता। कुछ प्रदेश तो उसमें ऐसे हैं जो सदा अनावरण ही बने रहते हैं और इसलिये आत्मा चित्स्वरूपकी दृष्टिसे सदा चिद्रूप ही है, इसी आशयको लेकर यहाँ उक्त प्रकारकी भावना की गई है।

---

१. यदचेतत्तथाऽनादि चेततीत्थमिहाऽद्य यत् ।
चेतयिष्यत्यन्यथाऽनन्तं यच्च चिद्द्रव्यमस्मि तत् ॥(अध्यात्मरहस्य ३३)

२. सि जु यदा। ३. सि जु अन्यदा। ४. मु चेतनीयं।

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
[1]नाऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥१५७॥

'**यह दृश्य जगत् न तो स्वयं**—स्वभावसे—**इष्ट है**—इच्छा तथा रागका विषय है—, **न द्विष्ट है**—अनिष्ट अथवा द्वेषका विषय है—, **किन्तु उपेक्ष्य है**—उपेक्षाका विषय है। **मैं स्वयं-स्वभावसे एष्टा**—इच्छा तथा राग करनेवाला—**नहीं हूं; न द्वेष्टा**—द्वेष तथा अप्रीति करनेवाला—**हूं; किन्तु उपेक्षिता हूं**—उपेक्षा करनेवाला समवृत्ति हूँ।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१५२) में आत्माने अपने ज्ञानात्मक-स्वरूपको देखते हुए जो परद्रव्योंसे उदासीन होनेकी भावना की है उसीके स्पष्टीकरणको लिये हुए यह भावना-पद्य है। इसमें वस्तु-स्वभावकी दृष्टिको लेकर यह भावना की गई है कि यह दृश्य जगत्-जगत्का प्रत्येक पदार्थ—न तो स्वयं स्वभावसे इष्ट है और न अनिष्ट। यदि कोई भी पदार्थ स्वभावसे सर्वथा इष्ट या अनिष्ट हो तो वह सबके लिये और सदाके लिय इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं है। एक ही पदार्थ जो एक प्राणीके लिए इष्ट है वह दूसरेके लिए अनिष्ट है; एक रूपमें जो इष्ट है दूसरे रूपमें वह अनिष्ट है; एक कालमें जो इष्ट होता है दूसरे कालमें वही अनिष्ट होजाता है; एक क्षेत्रमें जिसे अच्छा समझा जाता है दूसरे क्षेत्रमें वही बुरा माना जाता है; एक भावसे जिसे इष्ट किया जाता है दूसरे भावसे उसीको अनिष्ट कर दिया जाता है। ऐसी स्थितिमें कोई भी वस्तु स्वरूपसे इष्ट या अनिष्ट नहीं ठहरती। इष्टता और अनिष्टताकी यह सब कल्पना प्राणियोंके अपने-अपने तात्कालिक राग-द्वेष अथवा लौकिक प्रयोजनादिके

१. मु नो।

आधीन है। यदि ये जगतके क्षणभंगुर पदार्थ किसीके राग-द्वेषके विषय न बनें तो स्वयं उपेक्षाके विषय ही रह जाते हैं।

इसी तरह आत्मा भी स्वभावसे राग करनेवाला (एष्टा) अथवा द्वेष करनेवाला (द्वेष्टा) नहीं है। उसमें राग-द्वेषकी यह कल्पना तथा विभाव-परिणति परके निमित्तसे अथवा कर्माश्रित है। उसके दूर होते ही आत्मा स्वयं उपेक्षित अथवा वीतरागी के रूपमें स्थित होता है। उसी रूपमें स्थित होने की यहाँ भावना की गई है।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाऽप्येते न किंचन ॥१५८

'वस्तुतः ये शरीरादिक मुझसे भिन्न हैं, मैं भी इनसे भिन्न हूं, मैं इन शरीरादिकका कुछ भी (सम्बन्धी) नहीं हूं और न ये मेरे कुछ होते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'कायादयः' पदमें प्रयुक्त 'आदि' शब्द शरीर-से सम्बन्धित तथा असम्बन्धित सभी बाह्य-पदार्थोंका वाचक है और इसलिए उसमें माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, दूसरे सगे-सम्बन्धी, जमीन, मकान, दुकान, घर-गृहस्थी का सामान, बाग-बगीचे, धन-धान्य, वस्त्र-आभूषण. बर्तन-भाण्डे, पालतू अपालतू जन्तु और जगतके दूसरे सभी पदार्थ शामिल हैं। सभी पर-पदार्थोंसे ममत्वको हटानेकी इस भावनामें यह कहकर व्यवस्था की गई है कि यथार्थता अथवा वस्तु-स्वरूपकी दृष्टिसे शरीर-सहित ये सब पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, मैं इनका कुछ नहीं लगता और न ये मेरे कुछ लगते हैं।

श्रौती-भावनाका उपसंहार

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधाय तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतयेत्[1] ॥१५९॥

---

१. मु चिन्तये।

'इस प्रकार (भावना-कार) अपने आत्माको अन्य शरीरादिकसे वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और उसमें तन्मय होकर अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करे।'

व्याख्या—यहाँ, श्रौती-भावनाका उपसंहार करते हुए, बतलाया गया है कि इस प्रकार भावना-द्वारा स्वात्माको अन्य सब पदार्थोंसे वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और उसीमें लीन होकर दूसरे किसी भी पदार्थकी चिन्ता न करके चिन्ताके अभावको प्राप्त होवें।

चिन्ताका अभाव तुच्छ न होकर स्वसंवेदन-रूप है

चिन्ताऽभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव ।
दृग्बोध-साम्य-रूपस्य स्वस्य[1] संवेदनं हि सः ॥१६०॥

' (यह) **चिन्ताका अभाव जैनियोंके** (मतमें) **मिथ्यादृष्टियों** (वैशेषिकों) **के समान तुच्छ अभाव नहीं है; क्योंकि वह चिन्ताका अभाव वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और समतारूप आत्माके संवेदन-रूप है।'**

व्याख्या—जैनदर्शनमें अभावको भी वस्तुधर्म माना है, जो कि वस्तु-व्यवस्थाके अंगरूप है[2]। एक वस्तुमें यदि दूसरी वस्तुका अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तुकी कोई व्यवस्था नहीं बनती। इस दृष्टिसे अभाव सर्वथा असत्रूप तुच्छ नहीं है, जिससे चिन्ताके अभावरूप होनेसे ध्यानको ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिन्ताओंके अभावकी दृष्टिसे असत् होते हुए भी स्वात्मचिन्तात्मक-स्वसंवेदनकी दृष्टिसे असत् नहीं है, और इसलिये

---

१. मु यत्स्व।

२. भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदर्हतस्ते ।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तु-व्यवस्थाङ्गममेयमन्यत् ॥
—युक्त्यनुशासने, समन्तभद्रः

तुच्छ नहीं है। ध्यानके लक्षणमें प्रयुक्त 'निरोध' अथवा 'रोध' शब्दका अभाव अर्थ करने पर उसका यही आशय लिया जाना चाहिये, न कि सर्वथा चिन्ताके अभावरूप, जिससे ध्यानका ही अभाव ठहरे। अन्य सब चिन्ताओंके अभावके विना एकचिन्तात्मक जो आत्मध्यान है वह नहीं बनता।

स्वसंवेदनका लक्षण

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्व-संवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥

'योगीके अपने आत्माका जो अपने द्वारा वद्यपना और वेदकपना है उसको स्व-संवेदन कहते हैं; जो कि आत्माका दर्शनरूप अनुभव है।'

व्याख्या—स्वसंवेदन आत्माके उस साक्षात् दर्शनरूप अनुभवका नाम है जिसमें योगी आत्मा स्वयं ही ज्ञेय तथा ज्ञायकभावको प्राप्त होता है—अपनेको स्वयं ही जानता, देखता अथवा अनुभव करता है। इससे स्वसंवेदन, आत्मानुभवन और आत्मदर्शन ये तीनों वस्तुतः एक ही अर्थके वाचक हैं, जिनका यहाँ स्पष्टीकरणकी दृष्टिसे एकत्र संग्रह किया गया है।

स्वसंवेदनका कोई करणान्तर नहीं होता

स्व-पर-ज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य करणान्तरम्[1]।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥

'स्व-परकी जानकारीरूप होनेसे उस स्वसंवेदन अथवा स्वानुभवका आत्मासे भिन्न कोई दूसरा करण—ज्ञप्तिक्रियाकी निष्पत्तिमें साधकतम—नहीं होता। अतः चिन्ताका परित्याग-

१. मु मे कारणान्तरम्।

कर स्वसंवित्तिके द्वारा ही उसे जानना चाहिये ।'

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया है कि स्वसंवेदनमें ज्ञप्ति-क्रिया-को निष्पत्तिके लिये दूसरा कोई करण अथवा साधकतम नहीं होता। क्योंकि वह स्वयं स्व-पर-ज्ञप्तिरूप है। अतः करणान्तर-की चिन्ताको छोड़कर स्वज्ञप्तिके द्वारा ही उसे जानना चाहिये।

स्वात्माके द्वारा संवेद्य आत्मस्वरूप

दृग्बोध-साम्यरूपत्वाज्जानन्पश्यन्नुदासिता ।
चित्सामान्य-विशेषात्मा स्वात्मनैवाऽनुभूयताम् ॥१६३॥

'दर्शन, ज्ञान और समतारूप होनेसे देखता, जानता और वीतरागताको धारण करता हुआ जो सामान्य-विशेष ज्ञानरूप अथवा ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोगरूप आत्मा है उसे स्वात्माके द्वारा ही अनुभव करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ जिस आत्माको अपने आत्माके द्वारा ही अनुभव करनेकी बात कही गई है उसके स्वरूप-विषयमें यह सूचना की गई है कि वह दर्शन, ज्ञान और समतारूप होनेसे ज्ञाता, दृष्टा तथा उपेक्षिता (वीतराग) के रूपमें स्थित है और चैतन्यके सामान्य तथा विशेष दोनों रूपोंको—दर्शन-ज्ञानको—लिए हुए है।

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम् ।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥१६४॥

'समस्त कर्मज भावोंसे सदा भिन्न ऐसे ज्ञानस्वभाव एवं उदा-सीन (वीतराग) आत्माको आत्माके द्वारा देखना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ भी स्वसंवेदनके विषयभूत आत्माके स्वरूपकी कुछ सूचना करते हुए उसे जिस रूपमें देखनेकी प्रेरणा की गई है वह स्वरूप यह है कि आत्मा सदा कर्मजनित समस्त विभाव-

भावोंसे भिन्न है—कभी उनसे तादात्म्यको प्राप्त नहीं होता है—ज्ञानस्वभाव है और उदासीन है—वीतरागतामय उपेक्षाभाव-को लिए हुए है।'

यस्मिन् मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितम् ।
तन्मध्यस्थं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयम् ॥१६५॥

'जो मिथ्याश्रद्धान तथा मिथ्याज्ञानसे रहित है और रागद्वेषसे रहित मध्यस्थ है उस निजरूपको स्वयं अपने आत्मामें अनुभव करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ भी स्वसंवेद्य आत्माके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है और यह बतलाया गया है कि वह मिथ्यादर्शन तथा मिथ्याज्ञानसे रहित है और अपने मध्यस्थरूपको लिये हुए है, जो कि समता, उपेक्षा अथवा वीतरागतामय है। साथ ही इस रूप आत्माको स्वयं स्वात्मामें देखने-जाननेकी प्रेरणा की गई है।

इन्द्रियज्ञान तथा मनके द्वारा आत्मा दृश्य नहीं

न होन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः ।
वितर्कास्तन्न[1] पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्ट-तर्कणाः ॥१६६॥

'रूपादिसे रहित होनेके कारण वह आत्मरूप इन्द्रिय-ज्ञानसे दिखाई देनेवाला नहीं है, तर्क करनेवाले उसे देखते नहीं। वे अपनी तर्कणामें विशेषरूपसे स्पष्ट नहीं हो पाते—उनके तर्क अस्पष्ट बने रहते हैं।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१६४) में आत्माको आत्माके द्वारा देखनेकी जो प्रेरणा की गई है, उसे यहाँ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वह इन्द्रियज्ञानके द्वारा दृश्य नहीं है; क्योंकि

---

१. मे स्तं न।

इन्द्रियाँ वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श-विशिष्ट पदार्थको ही देखती हैं और आत्मा इन वर्णादिगुणोंसे रहित है। अनुमानादि-द्वारा तर्क करनेवाले भी उसे देख नहीं पाते; क्योंकि (पराश्रित होनेसे) अपनी तर्कणामें वे सदा अस्पष्ट बने रहते हैं। वितर्क श्रुतको कहते हैं[1] और श्रुत अनिन्द्रिय (मन) का विषय है[2]। इससे मन भी आत्माको देख नहीं पाता, यह यहाँ फलितार्थ हुआ।

इन्द्रिय-मनका व्यापार रुकनेपर स्वसंवित्ति-द्वारा आत्मदर्शन

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्यैव दृश्यताम् ॥१६७॥

'इन्द्रिय और मन दोनोंके निरुद्ध होने पर अतीन्द्रियज्ञान विशेषरूपसे स्पष्ट होता है (अतः) अपना वह रूप जो स्वसंवेदन-के गोचर है उसे स्वसंवेदनके द्वारा ही देखना चाहिये।'

व्याख्या—जब इन्द्रिय और मन दोनोंके द्वारा आत्मा दृश्य नहीं है तब उसे किसके द्वारा देखा जाय? इस प्रश्नको लक्ष्यमें लेकर ही प्रस्तुत पद्यका अवतार हुआ जान पड़ता है। इसमें बतलाया है कि जब इन्द्रिय और मन दोनोंका व्यापार निरुद्ध होता है—रोक लिया जाता है—तब अतीन्द्रिय-ज्ञान प्रकट होता है, जो कि अपनेमें विशेषतः स्पष्टता अथवा विशदताको लिए रहता है। उस ज्ञानरूप स्वसंवित्तिके द्वारा ही उस आत्मस्वरूप-को देखना चाहिये जो कि स्वसंवेद्य है—अन्य किसीके द्वारा वह जाना नहीं जाता। इससे आत्म-दर्शनके लिये इन्द्रिय और मनके

---

१. वितर्कः श्रुतम् (त० सू० ९-४३)।

२. श्रुतमनिन्द्रियस्य (त० सू० २-२१)।

व्यापारको रोकनेकी बड़ी ज़रूरत है और वह तभी रुक सकता है जब कि इन्द्रियों तथा मनको जीतकर उन्हें अपने आधीन किया जाय।

स्वसंवित्तिका स्पष्टीकरण

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येन चकासती[1]।
चेतना ज्ञानरूपेयं[2] स्वयं दृश्यत एव[3] हि ॥१६८॥

'स्वतन्त्रतासे चमकती हुई यह ज्ञानरूपा चेतना शरीररूपसे प्रतिभासित न होने पर भी स्वयं ही दिखाई पड़ती है।'

व्याख्या—यहाँ, पूर्वपद्यमें उल्लिखित स्वसंवित्तिको स्पष्ट करते हुए, बतलाया गया है कि यह संवित्ति ज्ञानरूपा चेतना है जो कि परकी अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्रताके साथ चमकती हुई स्वयं ही दिखाई पड़ती है; शरीररूपसे उसका कोई प्रतिभास नहीं होता।

समाधिमें आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव न करनेवाला
योगी आत्मध्यानी नही

[4]समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं [5]मूर्च्छावन्मोह एव सः ॥१६९॥

'समाधिमें स्थित योगी यदि आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता तो समझना चाहिये उस समय उसक आत्मध्यान नहीं किन्तु मूर्च्छावाला मोह ही है।'

---

१. मु चकासते; सि जु चकास्ति च। २. मु रूपेऽयं।
३. सि जु आत्मना दृश्यतेव।
४. समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नाऽवभासते।
न तद्ध्यानं त्वया देव! गीतं मोहस्वभावकम् ॥५॥
—ध्यानस्तवे, भास्करनन्दी
५. मु मे मूर्च्छावान्।

व्याख्या—यहाँ उस योगीके ध्यानको आत्मध्यान न बतलाकर मूर्छारूप मोह बतलाया है जो समाधिमें स्थित होकर भी आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता । और इससे यह साफ़ फलित होता है कि जो योगी वस्तुतः समाधिमें स्थित होगा वह आत्माको ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करेगा, जिसे ऐसा अनुभव नहीं होगा उसकी समाधिको समाधि न समझ कर मूर्छावान् मोह समझना होगा।

आत्मानुभवका फल

[1]तमेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति[2] ।
[3]तथाऽऽत्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्[4] ॥१७०॥

'उस ज्ञान-स्वरूप आत्माको अनुभवमें लाता हुआ यह समाधिस्थ योगी परम-एकाग्रताको प्राप्त होता है तथा उस स्वाधीन आनन्दका अनुभव करता है जो कि वचनके अगोचर है।'

व्याख्या—यहाँ, आत्मानुभवके फलको बतलाते हुए, लिखा है, कि जो समाधिस्थ योगी उस ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करता है वह परम एकाग्रताको और उस स्वाधीन सुखको प्राप्त होता है जिसे वाणीके द्वारा नहीं कह सकते । इससे स्पष्ट है कि आत्माका दर्शन होने पर ध्यानकी एकाग्रता बढ़ जाती है और उससे जिस स्वाभाविक आत्मीय आनन्दकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

---

१. मु तदेवा । २. सि मात्मैकाग्र्यमृच्छति । ३. सि जु तदा ।
४. मामेवाऽहं तथा पश्यन्नैकाग्र्यं परमश्नुवे ।
भजे मत्कन्दमानन्दं निर्जरा-संवरावहम् ॥ (अध्या०र० ४७)

स्वरूपनिष्ठ योगी एकाग्रताको नहीं छोड़ता

यथा निर्वात-देशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥१७१॥

'जिस प्रकार पवनरहित स्थानमें स्थित दीपक नहीं काँपता उसी प्रकार अपने स्वरूपमें स्थित योगी एकाग्रताको नहीं छोड़ता ।'

व्याख्या—जहाँ वायुका संचार नहीं हो ऐसे स्थान पर रखे हुए दीपककी शिखा जिस प्रकार काँपती नहीं—अडोल बनी रहती है—उसी प्रकार आत्मा जब बाह्यद्रव्योंके संसर्गसे रहित हुआ अपने स्वरूपमें स्थित होता है तब वह एकाग्र बना रहता है—सहसा अपनी एकाग्रताको छोड़ता नहीं—बाह्य-पदार्थोंके संसर्गरूप वायुके संचारसे ही उसकी एकाग्रता भंग होती है ।

स्वात्मलीन योगीको बाह्य पदार्थोंका कुछ भी प्रतिभास नहीं होता

[1]तदा च [2]परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यत्र किंचनाऽऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७२॥

'उस समाधिकालमें स्वात्मामें देखनेवाले योगीको परम-एकाग्रताके कारण बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी उसे आत्माके अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता ।'

व्याख्या—जिस समय योगी परम-एकाग्रताको प्राप्त हुआ अपनेको अपने आत्मामें देखता है उस समय बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी उसे उनका कुछ भी भान नहीं होता । यह सब परमैकाग्रताकी महिमा है । और यही कुछ भी न चिन्तन-

१. यह पद्य सि जु प्रतियोंमें नहीं है । २. मु परमे ।

का वह रूप है जिसकी सूचना पहले 'पूर्वं श्रुतेन संस्कारं' इत्यादि पद्य (१४४) में की गई है।

अन्यशून्य भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नहीं होता

'अत एवाऽन्य-शून्योऽपि नाऽऽत्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याऽशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥१७३॥

'**इसीलिये अन्य बाह्यपदार्थोंसे शून्य होता हुआ भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नहीं होता**—अपने निजरूपको साथमें लिये रहता है। **आत्माका यह शून्यता और अशून्यतामय स्वभाव आत्माके द्वारा ही उपलब्ध होता है**—दूसरे किसी बाह्य-पदार्थके द्वारा नहीं।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जो यह बात कही गई है कि स्वात्मलीन योगीको बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता उसका फलितार्थ इतना ही है कि वह उस समय अन्यसे—दूसरे किसी भी पदार्थके सम्पर्कसे—शून्य होता है; परन्तु अन्यसे शून्य होता हुआ भी वह स्वरूपसे शून्य नहीं होता—स्वरूपको तो वह तल्लीनताके साथ देख ही रहा है। इस तरह आत्मा उस समय शून्याऽशून्य स्वभावको प्राप्त होता है—परद्रव्यादि-चतुष्टयके अभावकी अपेक्षा शून्य और स्वद्रव्यादि-चतुष्टयके सद्भावकी अपेक्षा अशून्य होता है, और यह शून्याऽशून्य स्वभाव भी आत्माके द्वारा ही उपलक्षित होता है—स्वसंवेद्य है।

मुक्तिके लिये नैरात्म्याद्वैतदर्शनकी उक्तिका स्पष्टीकरण

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याऽद्वैत-दर्शनम्।
तदेतदेव यत्सम्यगन्याऽपोढाऽऽत्मदर्शनम् ॥१७४॥

---

१. ध्वस्ते मोहतमस्यन्तर्दृशाऽस्तेऽक्षमनोऽनिले।
शून्योऽप्यन्यैः स्वतोऽशून्यो मया द्रष्टव्येयमप्यहम्—अध्या० २० ४६

'और इसलिये मुक्तिकी प्राप्तिके अर्थ जो नैरात्म्य-अद्वैत-दर्शनकी बात कही गई है वह यही है, जो कि अन्यके आभाससे रहित सम्यक् आत्मदर्शनके रूप है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिकी प्राप्तिके लिये 'नैरात्म्याद्वैत-दर्शन'के कथनकी जिस उक्तिका निर्देश है वह किस आगम-ग्रन्थमें कही गई है यह अभी तक मालूम नहीं हो सका। परन्तु वह कहीं भी कही गई हो, उसका स्पष्ट आशय यहाँ यह व्यक्त किया गया है कि वह अन्यके आभाससे रहित केवल आत्मदर्शनके रूपमें है—उस आत्मदर्शनके समय दूसरी किसी भी वस्तुका कोई प्रतिभास नहीं होता; यदि दूसरी कोई वस्तु साथमें दिखाई पड़ रही है तो समझ लेना चाहिये कि वह अद्वैतदर्शन नहीं है।

[1]परस्पर-परावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन।

[2]नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथाऽऽत्मनः ॥१७५॥

'**सर्व पदार्थ कथंचित् परस्पर परावृत्त हैं**—एक दूसरेसे पृथक्त्व (भिन्न स्वभाव)को लिए हुए हैं। **जिस प्रकार देहादिरूप जगतके नैरात्मता**—आत्म-रहितता—**है उसी प्रकार आत्माके नैर्जगतता**—जगतसे रहितता—**है**। कोई भी एक दूसरेके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर तद्रूप नहीं हो जाता।'

व्याख्या—यहाँ 'नैरात्म्याद्वैतदर्शन'के विषयको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि सर्वपदार्थ कथंचित्-किसी एक दृष्टिसे-परस्पर परावृत्त हैं, सर्वथा नहीं। देहादिकके जिस प्रकार आत्मता नहीं उसी प्रकार आत्माके देहादिकता नहीं। परस्पर व्यावृत्त होते हुए भी कोई भी पदार्थ एक दूसरेके स्वभावमें प्रविष्ट होकर तादात्म्यको प्राप्त नहीं होता।

---

१. सि जु परस्परं परावृत्ताः; ज परस्परं पराहृक्षाः।

२. यथा जातु जगन्नाऽहं तथाऽहं न जगत् क्वचित् (अध्या० २०)

अन्यात्माऽभावो[1] नैरात्म्यं स्वात्म-सत्तात्मकश्च सः ।
स्वात्म-दर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्य-दर्शनम् ॥१७६॥

'अन्य आत्मरूपके अभावका नाम नैरात्म्य है और वह स्वात्मा-की सत्ताको लिये हुए है। अतः स्वात्माके दर्शनका नाम ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।'

व्याख्या—यहाँ, 'नैरात्म्य' को उसकी निरुक्ति-द्वारा अन्यात्मा-के अभावरूप बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया है कि वह नैरात्म्य स्वात्माके अभाव-रूप नहीं, किन्तु स्वात्माकी सत्ताको लिये हुए है, और इसलिये आत्मदर्शन ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।

आत्मानमन्य-संपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन्विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम् ॥१७७॥

'जो आत्माको अन्यसे संपृक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो अन्य सब पदार्थोंसे आत्माको विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है।'

व्याख्या—यहाँ, नैरात्म्यके साथ अद्वैतदर्शनकी बातको और स्पष्ट करते हुए, बतलाया गया है कि जो आत्माको अन्य देहादिक-से संयुक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो आत्माको दूसरों-से विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है।

इस तरह 'नैरात्म्याद्वैतदर्शन' का अभिप्राय केवल शुद्धात्मा-के दर्शनसे ही है।

एकाग्रतासे आत्मदर्शनका फल

पश्यन्नात्मानमेकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताऽहं-ममोभावः[2] संवृणोत्यप्यनागतान् ॥१७८॥

---

१. मे अनात्माभावो।
२. ब निरस्ताहंममीभावान्।

'अहंकार-ममकारके भावसे रहित योगी एकाग्रतासे आत्माको देखता हुआ (आत्मा में) संचित हुए कर्ममलोंका जहाँ विनाश करता है वहाँ आनेवाले कर्ममलोंको भी रोकता है—इस तरह विना किसी विशेषप्रयत्नके संवर और निर्जरारूप प्रवृत्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ एकाग्रतासे आत्म-दर्शनके फलका निर्देश करते हुए उसके दो फल बतलाये हैं—एक आत्मासे संचित कर्ममलोंकी निर्जरा (निकासी) और दूसरा आत्मामें नये कर्ममलोंके प्रवेशको रोकनेरूप संवर। ये दोनों फल एक ही शुद्धात्मभावकी दो शक्तियोंके कारण उसी प्रकार घटित होते हैं, जिस प्रकार सचिक्कणताका अभाव हो जाने पर पहलेसे चिपटी हुई धूलि स्वयं झड़ जाती है और नई धूलिको आकर चिपटनेका कोई अवसर नहीं रहता। यही बात 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' के निम्न दो पद्योंमें एक ही शुद्धभाव भावसंवर तथा भावनिर्जरा ऐसे दो कार्यरूप कैसे परिणमता है, इस शंकाका समाधान करते हुए, स्पष्ट की गई है:—

एकः शुद्धो हि भावो ननु कथमिति जीवस्य शुद्धात्मबोधाद्
भावाख्यः संवरः स्यात्स इति खलु तथा निर्जरा भावसंज्ञा।
भावस्यैकत्वतस्ते मतिरिति यन्नैव शक्तिद्वयात्स्यात्
पूर्वोपात्तं हि कर्म स्वयमिह विगलेन्नैव बध्येत नव्यम् ॥४-१०॥
स्नेहाभ्यंगाभावे गलति रजः पूर्वबद्धमिह नूनम्।
नाऽप्यागच्छति नव्यं यथा तथा शुद्धभावतस्तौ द्वौ ॥४-११॥

स्वात्मामें स्थिरताकी वृद्धिके साथ समाधि-प्रत्ययोंका प्रस्फुटन

'यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम्।
समाधिप्रत्ययाश्चाऽस्य स्फुटिष्यन्ति तथा' तथा ॥१७९॥

---

१. सि जु यदा। २. सि जु तदा।

'समाधिमें प्रवृत्त होनेवाला योगी जैसे-जैसे स्वात्मामें स्थिरताको प्राप्त होता जायगा तैसे-तैसे समाधिके प्रत्यय भी उसके प्रस्फुटित होते जायेंगे।'

व्याख्या—'सम्यग्गुरूपदेशेन' इत्यादि पद्य (८७) में ध्यानके प्रत्ययों–चमत्कारोंका जो आश्वासन दिया गया था उसीको पूर्ववर्ती इतने गुरूपदेशके बाद, स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि समाधिमें स्थित ध्याता जैसे-जैसे अपने आत्मामें स्थिरताको प्राप्त होता जायगा समाधिके अतिशय अथवा चमत्कार भी वैसे-वैसे प्रस्फुटित होते जायेंगे। इससे समाधि-प्रत्ययोंका प्रस्फुटन स्वात्मामें उस अधिकाधिक लीनता एवं स्थिरता पर निर्भर है जिसका ग्रन्थमें इससे पहले निरूपण किया गया है। और इसलिये जो ध्याता उस प्रकारकी स्वात्मस्थिति प्राप्त किये विना ही साधारण जप-जाप्य अथवा ध्यान-सामायिकादिके बल पर चमत्कारोंकी आशा रखता है वह उसकी भूल है। उसे अहंकार-ममकारके त्याग और इन्द्रिय-मनके निग्रहपूर्वक ध्यानका दृढताके साथ सम्यक् अभ्यास कर स्वात्म-ध्यानमें स्थिरताको उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिये। जैसे-जैसे यह स्थिरता बढ़ेगी वैसे-वैसे ही ध्यान अथवा समाधिके अतिशय-चमत्कारोंको प्रकट होनेका अवसर मिलेगा।

स्वात्मदर्शन धर्म्य-शुक्ल दोनों ध्यानोंका ध्येय है

[1]एतद्द्वयोरपि[2] ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धि-स्वामि-भेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यताम् ॥१८०॥

---

१. साधारणमिदं ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धि-स्वामि-भेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यताम् ॥ (आर्ष २१-१३१)
इस आर्ष-वाक्यमें प्रयुक्त 'ध्येयं' पद अर्हत्सिद्धरूप परमात्माका वाचक है।

२. ज एवं द्वयोरपि; सि जु एतयोरपि।

'यह स्वात्मदर्शन अथवा नैरात्म्याद्वैतदर्शन धर्म्य और शुक्ल दोनों ही ध्यानोंका ध्येय है। विशुद्धि और स्वामीके भेदसे दोनों ध्यानोंका भेद निश्चित किया जाना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ इस स्वात्मरूपके दर्शनको धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनोंका ही लक्ष्यभूत विषय बतलाया है और यह सूचना की है कि इन दोनों ध्यानोंमें परस्पर विशुद्धि और स्वामि-भेदकी अपेक्षासे जो भेद है, उसे अवधारण करना चाहिये। धर्म्य-ध्यानसे शुक्लध्यानमें परिणामोंकी विशुद्धि अधिकाधिक-असंख्या-तगुणी तथा अनन्तगुणी है। शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे प्रथम दो भेदोंके स्वामी पूर्ववेद-श्रुतकेवली हैं, जो कि श्रेण्यारोहणके पूर्व धर्म्यध्यानके भी स्वामी हैं, और शेष दो भेदों अथवा परमशुक्ल-ध्यानके[1] स्वामी केवली भगवान् हैं। धर्म्यध्यानके स्वामी अवि-रत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, प्रमत्तसंयत-अप्रमत्तसंयत-मुनि तथा श्रेण्यारोहणसे पूर्ववर्ती दूसरे मुनि भी हैं।

प्रस्तुत ध्येयके ध्यानकी दुःशक्यता और उसके अभ्यासकी प्रेरणा

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानाऽवलम्बनात्।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागेव[2] लक्ष्यते ॥१८१॥

---

१. शुक्लध्यानके शुक्ल और परमशुक्ल ऐसे दो भेद भी आगममें प्रतिपादित हुए हैं जिनमेंसे प्रथमके स्वामी छद्मस्थ और दूसरेके स्वामी केवली भगवान् होते हैं; जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद् द्विधोदितम्।
छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतः॥
—आर्ष २१-१६७

२. मु द्रागवलक्ष्यते।

तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टाऽदृष्टफलं[1] च यत्।
स्थूलं वितर्कमालम्ब्य तदभ्यस्यन्तु धीधनाः ॥१८२॥

'यह आत्माका अद्वैतदर्शन सूक्ष्म-ज्ञान पर अवलम्बित होनेसे ध्यानके लिये बड़ा ही कठिन विषय है और विशिष्ट ज्ञानियोंके द्वारा समझाया जाने पर भी शीघ्र ही लक्षित नहीं होता। अतः जो बुद्धिधनके धनी ज्ञानीजन हैं वे लक्ष्यको, शक्य (संभाव्य) को, दृष्ट और अदृष्टफलको स्थूल वितर्कका विषय बनाकर उसका अभ्यास करें।'

व्याख्या—यहाँ प्रस्तुत ध्येयके ध्यानकी दुःशक्यताका सहेतुक उल्लेख करते हुए बुद्धिमानोंको स्थूल वितर्कका आश्रय लेकर उसके ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा की गई है। स्थूलवितर्कके विषय लक्ष्य, शक्य, दृष्टफल और अदृष्टफल ये चार हैं।

अभ्यासका क्रमनिर्देश

[2]तत्राऽऽदौ पिण्डसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च।
मारुतीं तैजसीमाप्यां[3] विदध्याद्धारणां क्रमात् ॥१८३॥

'उस अभ्यासमें पहले पिण्ड (देह) की सिद्धि और शुद्धि (निर्मलीकरण) के लिये क्रमशः मारुती, तैजसी और आप्या (वारुणी) धारणाका अनुष्ठान करना चाहिये।'

व्याख्या—जिस अभ्यासकी पूर्वपद्यमें प्रेरणा की गई है उसकी अति संक्षिप्त सूचनामात्र विधि इस पद्य तथा अगले चार पद्योंमें दी गई है। इस पद्यमें सबसे पहले शरीरकी सिद्धि—स्ववशमें स्थिति—और शुद्धिके लिये क्रमशः मारुती, आग्नेयी और जलमयी

---

१. आ दृष्टं दृष्टफलं।
२. इसे मु मे प्रतियोंमें १८५वें पद्यके रूपमें दिया है। इससे अगले दो पद्योंके क्रमाङ्क भी उनमें बदले हुए हैं। ३. मु मार्या।

धारणा (वारुणी) के विधानकी सूचना है। यहाँ जिन तीन धारणाओंका विधान है वे ज्ञानार्णव तथा योगशास्त्रमें वर्णित पार्थिवी आदि पांच धारणाओंके अन्तर्गत प्रायः इन्हीं नामोंकी तीन धारणाओंसे कुछ भिन्नक्रम तथा भिन्नस्वरूपको लिये हुए हैं; जैसा कि अगले कुछ पद्यों और उनकी व्याख्यासे प्रकट है।

[1]अकारं मरुता पूर्यं कुम्भित्वा रेफवह्निना।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च ॥१८४॥
ह-मंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि।
तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् ॥१८५॥
ततः पंचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षराऽन्वितैः।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलीक्रियाम्[2] ॥१८६॥
पश्चादात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम्।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञान-भास्वरम्[3] ॥१८७॥

'(नाभिकमलकी कर्णिकामें स्थित) अर्हं मंत्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और (कुम्भकपवनके द्वारा) कुम्भित करके, रेफ (̊) की अग्निसे (हृदयस्थ) कर्मचक्रको अपने शरीर-सहित भस्म करके और फिर भस्मको (रेचकपवन-द्वारा) स्वयं विरेचित करके 'ह' मंत्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिये कि उससे आत्मामें अमृत झर रहा है और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है। तत्पश्चात् पंच पिण्डाक्षरों (ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः) से (यथाक्रम) युक्त और शरीरके पांच स्थानोंमें विन्यस्त हुए पंच-नमस्कारमंत्रोंसे—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरि-

---

१. मु मे आकारं। २. मु सकलां। ३. मु मे भासुरं।

याणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं, इन मूल णमोकारमंत्रके पाँच पदोंसे—**सकलीक्रिया करके तदनन्तर आत्माको निर्दिष्टलक्षण अर्हन्तरूप ध्यावे अथवा सकल-कर्म-रहित अमूर्तिक और ज्ञानभास्कर ऐसे सिद्धस्वरूप ध्यावे।'**

व्याख्या—इन पद्योंमेंसे प्रथम दो पद्योंमें मारुती, आग्नेयी और पीयूषमयी जलधारणाकी विधि-व्यवस्थाको सांकेतिक रूपमें सूचित किया है, जिसमें अन्तिम धारणा-द्वारा अमृतमय नवशरीरके निर्माणकी भी सूचना शामिल है। तीसरे पद्यमें नव-निर्मित शरीरको सकलीकरण-क्रियासे सुसज्जित करनेका विधान है, जो विघ्नबाधाओंसे अपनेको सुरक्षित करनेकी क्रिया कही जाती है[१]। चौथे पद्यमें सकलीकरण-क्रियाके अनन्तर अर्हन्त अथवा सिद्धको निर्दिष्ट लक्षणके रूपमें ध्यानेकी प्रेरणा की गई है। अर्हन्तका यह ध्यानके योग्य निर्दिष्ट लक्षण ग्रन्थके १२३ से १२८ तक छह पद्योंमें वर्णित है और सिद्धोंका निर्दिष्ट लक्षण प्रायः पद्य १२० से १२२ में दिया जा चुका है—उसके विवक्षित शेष रूपका संकलन यहाँ १८७ वें पद्यमें किया गया है, जो कि 'ध्वस्तकर्माणं' और 'ज्ञानभास्वरं' के रूपमें है।

जिस नाभि-कमलकी कर्णिकामें 'अर्हं' या 'अ'-पूर्वक 'हं' मंत्रकी स्थितिकी बात कही गई है वह अतिमनोहर सोलह उन्नत पत्रोंका होता है, जिनपर १६ स्वरोंको अंकित करके चिन्तन किया जाता है[२]। जिस कर्मचक्रको रेफकी अग्निसे जलानेकी बात कही

---

१. सिसाधयिषुणा विद्यामविघ्नेनेष्टसिद्धये।
यत्स्वस्य क्रियते रक्षा सा भवेत्सकलीक्रिया॥ (विद्यानु० परि०३)

२. "ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात् कमलं नाभिमण्डलं। स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम्॥ प्रतिपत्रसमासीनस्वरमालाविराजितम्। कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत्॥ (ज्ञाना० ३८-१०,११)
"नाभौ षोडश विद्यासद्रग्रष्टासु दलमध्यगं।
हकारं बिन्दुसंयुक्तं रेफाक्रान्तं प्रचिन्तयेत्।' (विद्यानु० ३-७८)

गई है वह हृदयस्थ आठ पत्रोंका मुकुलित अधोमुख कमल होता है, जिसके आठों पत्रों पर ज्ञानावरणादि आठ कर्म आत्माको घेरे हुए स्थित होते हैं। इस कमलके आठों दलोंको कुम्भक-पवनके बलसे खोलकर—फैलाकर उक्त 'हँ' बीजाक्षरके रेफसे उत्पन्न हुई प्रबलाग्निसे भस्म किया जाता है[1]। कर्मकमलके दहनानन्तर त्रिकोणाकार अग्निमण्डलके द्वारा स्वशरीरके दहन-का भी चिन्तन किया जाता है, जिसकी सूचना 'कर्म' के साथ 'स्ववपुषा' पदके प्रयोग-द्वारा की गई है और जिसका स्पष्टीकरण ज्ञानार्णवके निम्न पद्योंसे होता है:—

ततो वह्निः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमंडलम्।
स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥१६॥
वह्निबीज-समाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाऽङ्कितम्।
ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूतं निर्धूमं कांचनप्रभम् ॥१७॥
अन्तर्दहति मंत्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम्।
धगद्धगिति विस्फूर्जज्ज्वाला-प्रचय-भासुरम् ॥१८॥
भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पंकजं।
दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः ॥१९॥

अष्टकर्मदल कमल और शरीरके भस्मीभूत हो जाने पर उस भस्मके विरेचनका—उत्सर्गका—चिन्तन किया जाता है, जो

---

१. "हृद्यष्टकर्मनिर्माणं द्विचतुःपत्रमम्बुजं।
मुकुलीभूतमात्मानमावृत्यावस्थितं स्मरेत्।
कुंभकेन तदम्भोजपत्राणि विकचय्य च।
निर्दहेन्नाभिपंकेजं बीजबिन्दु-शिखाग्निना।
(विद्यानु० ३-७९,८०)

"तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम्।
दहत्येव महामन्त्र-ध्यानोत्थप्रबलोऽनलः ॥ (ज्ञाना० ३८-१५)

विरेचक पवनके द्वारा होता है[1]। इसके पश्चात् नभःस्थित 'ह' मन्त्रसे झरते हुए अमृतसे जिस अमृतमय एवं उज्ज्वल नव शरीर-का निर्माण होता है उसकी रक्षाके लिए जिस सकलीक्रिया-की व्यवस्थाका विधान किया गया है, वह नमस्कारमन्त्रके पाँच पदोंको क्रमशः 'ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः' इन पांच पिंडाक्षरोंसे (जिन्हें शून्यबीज भी कहते हैं) युक्त करके शरीरके पांच स्थानों पर विन्यस्त करनेसे बनती है। शरीरके वे पाँच स्थान कौनसे हैं ? यह मूलपद्यसे कुछ स्पष्ट नहीं होता। मल्लिषेणाचार्यकृत भैरव-पद्मावती-कल्पके 'सकलीकरण' नामक द्वितीय परिच्छेदमें शिर, मुख, हृदय, नाभि और पादद्वय इन पाँच स्थानोंका उल्लेख है और इनमें 'णमो अरिहंताणं' आदि पाँच मन्त्र-पदोंका क्रमशः 'ह्रां' आदि एक-एक बीज पदके साथ न्यासका विधान है—भले ही पूर्वमें ॐ और अन्तमें 'स्वाहा' शब्द भी वहाँ जोड़ा गया है[2], जो यहाँ विवक्षित नहीं है, परन्तु विद्यानुशासनके तृतीय परिच्छेदगत सकलीकरण-विधानमें 'ॐ ह्रां णमो अरिहंताणं' का हृदयमें 'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं' का शिरके पूर्व भागमें, 'ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं' का शिरके दक्षिण भागमें, 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं' का शिरके पश्चिम भागमें और 'ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं' पदका शिरके वामभागमें न्यासका विधान है। साथ ही, इन पाँचों नमस्कारमंत्रोंको अपने-अपने बीजपदके

---

१. दहनं कुंभकेन स्याद् भस्मोत्सर्गश्च रेचकः। (विद्यानु० परि० ३)

२. पंचनमस्कारपदैः प्रत्येकं प्रणवपूर्व-होमान्त्यैः।
पूर्वोक्तपंचशून्यैः परमेष्ठिपदाग्रविन्यस्तैः ॥३॥
शीर्षं वदनं हृदयं नाभिं पादौ च रक्ष रक्षेति।
कुर्यादेतैर्मंत्री प्रतिदिवसं स्वांगविन्यासम् ॥४॥

—भैरवपद्मा०

साथ द्वितीयवार शिर पर ही क्रमशः भाल, मस्तक, दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर भागमें न्यस्त करनेका विधान किया है[1]।

इन विभिन्न उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि सकलीकरण-विषयक-मन्त्रादि-पदोंके विन्यासका कोई एक ही क्रम निर्दिष्ट नहीं है। जहाँ जिस-जिस कार्यके साथ जैसी व्यवस्था है वहाँ उस-उस कार्यको उसी व्यवस्थाके साथ ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार मूल पद्योंमें सांकेतिकरूपसे स्थित गूढ़ अर्थका यह यत्किंचित् स्पष्टीकरण है, जो यथाशक्ति ग्रन्थान्तरोंके आधार पर किया गया है। विशेष जानकारी इस विषयके विशेषज्ञों अथवा अनुभवी विद्वानोंसे ही प्राप्त हो सकेगी।

स्वात्माके अर्हद्रूपसे ध्यानमें भ्रान्तिकी आशंका

नन्वनर्हन्तमात्मानमर्हन्तं ध्यायतां सताम्।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो[2] भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत् ॥१८८॥

'यहाँ कोई शिष्य शंका करता है कि जो आत्मा अर्हन्त नहीं उसको अर्हन्तरूपसे ध्यान करनेवाले आप सत्पुरुषोंके क्या जो वस्तु जिस रूपमें नहीं उसे उस रूपमें ग्रहणरूप भ्रान्ति नहीं होती है?'

---

१. हृदि न्यसेन्नमस्कारमों ह्रां पूर्वकमर्हताम्।
पूर्वे शिरसि सिद्धानामों ह्रीं पूर्वां स्तुतिं न्यसेत् ॥७२॥
ॐ ह्रूं पूर्वक्रमाचार्यस्तोत्रं शीर्षस्य दक्षिणे।
ॐ ह्रौं पूर्वमुपाध्यायस्तवं पश्चिमतो न्यसेत् ॥७३॥
वामे पार्श्वे न्यसेद् ॐ ह्रः पूर्वां साधुनमस्कृतिम्।
ततः पंचाप्यमून् मंत्रान् शिरस्येव पुनर्न्यसेत् ॥७४॥
प्राग्भागे शिरसो मूर्ध्नि दक्षिणे पश्चिमे तथा।
वामे चेत्येष विन्यासक्रमो वारे द्वितीयके ॥७५॥ —विद्यानु०

२. ज तद्ग्रहे।

व्याख्या—जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसे उस रूपमें ग्रहण न करके विपरीतरूपमें ग्रहण करना भ्रान्तिका सूचक होता है। अतः अपना आत्मा जो अर्हन्त नहीं उसे अर्हन्तरूपमें ध्यान करनेवाले आप जैसे सत्पुरुषोंके क्या भ्रान्तिका होना नहीं कहा जायगा ? ऐसा शिष्यने गुरुसे यहाँ प्रश्न किया है अथवा उनके सामने अपनी शंकाको उपस्थित किया है। इस शंकाका समाधान आगे (२१२ वें पद्य तक) किया गया है।

भ्रान्तिकी शंकाका समाधान

तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः ।
स चाऽर्हद्ध्यान-निष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ॥१८९॥

'उक्त शंका ठीक नहीं है; क्योंकि हमारे द्वारा यह भाव-अर्हन्त विवक्षित है और वह भाव-अर्हन्त अर्हन्तके ध्यानमें लीन आत्मा है, अतः उस अर्हद्ध्यान-लीन आत्मामें ही अर्हन्तका ग्रहण है—और इसलिये भ्रान्तिकी कोई बात नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ शंकाको ठीक न बतलाते हुए जो मुख्य बात कही गई है वह यह है कि हमारे उक्त ध्यानकथनमें 'भाव-अर्हन्त' विवक्षित है—द्रव्य-अर्हन्त नहीं। जो आत्मा अर्हद्ध्यानाविष्ट होता है—अर्हन्तका ध्यान करते हुए उसमें पूर्णतः लीन होजाता है—वह उस समय भावसे अर्हन्त होता है, उस भाव-अर्हन्तमें ही अर्हन्तका ग्रहण है। अतः 'अतस्मिंस्तद्ग्रहः' का—जो जिस रूपमें नहीं उसे उस रूपमें ग्रहणका—दोष नहीं आता।

परिणमते येनाऽऽत्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाऽऽविष्टो भावार्हन्[2] स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०॥

---

१. सि जु भावार्हद्ध्यान। २. मु सि जु भावार्हः।

'जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय होता है अतः अर्हद्ध्यानसे व्याप्त आत्मा स्वयं भाव-अर्हन्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हद्ध्यानाविष्ट आत्मा भावार्हन्त कैसे होता है, इस विषयके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है और वह यह है कि 'जो आत्मा जिस समय जिस भावसे परिणमन करता है वह उस समय उस भावके साथ तन्मय होता है और तन्मय होनेसे ही तद्रूप कहा जाता है'। इसीसे अर्हन्तके ध्यानमें तद्रूप परिणत हुआ आत्मा स्वयं भाव-अर्हन्त होजाता है। इस तद्रूप-परिणमनके सिद्धान्तका निरूपण श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचन-सारके निम्नवाक्यमें भी किया है, जिसमें 'धर्म-परिणत आत्माको धर्म' बतलाया है :—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

[1]येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

'आत्मज्ञानी आत्माको जिस भावसे जिस रूप ध्याता है उसके साथ वह उसी प्रकार तन्मय होजाता है जिस प्रकार कि उपाधिके साथ स्फटिक।'

---

१. जेण सरुवि झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।
तेण सरुवि परिणवइ जह फलिहउ-मणिमंतु ॥ (परमात्मप्र० २-१७३)
येन येनैव भावेन युज्यते यंत्रवाहकः।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ (अमितगतियोगसार ९-५१)
येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहकः।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ (ज्ञानार्णव, योगशास्त्र)

व्याख्या—यहाँ, सोपाधि-स्फटिकके उदाहरण-द्वारा तन्मयता-की बातको स्पष्ट करते हुए, यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार स्फटिकमणि, जिसे विश्वरूपमणि भी कहते हैं, जिस-जिस रूप-की उपाधिके साथ सम्बन्ध करता है उस-उस रूपकी उपाधिके साथ तन्मयता (तद्रूपता) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञानी आत्माको जिस भावके साथ जिस रूप ध्याता है उसके साथ वह उसी रूप तन्मयताको प्राप्त होता है।

अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः ।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ।।१९२।।
ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा ।
भव्येष्वास्ते सतश्चाऽस्य ध्याने को नाम विभ्रमः ।।१९३

'**अथवा सर्वद्रव्योंमें भूत और भावी स्वपर्यायें तदात्मक हुई द्रव्यरूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। अतः यह भावी अर्हत्पर्याय भव्यजीवोंमें सदा विद्यमान है, तब इस सत्‌रूपसे स्थित अर्हत्प-र्यायके ध्यानमें विभ्रमका क्या काम ?**—अपने आत्माको अर्हन्त-रूपसे ध्यानेमें विभ्रमकी कोई बात नहीं है। यही भ्रान्तिके अभावकी बात अपने आत्माको सिद्धरूप ध्यानेके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ शंकाका समाधान एक दूसरी सैद्धान्तिकदृष्टि-से किया गया है और वह यह कि सर्वद्रव्योंमें उनकी भूत और भावी स्वपर्यायें द्रव्यरूपसे तदात्मक हुई सदा स्थिर रहती हैं—द्रव्यसे उसकी स्वपर्यायें कभी जुदा नहीं होतीं और न द्रव्य ही स्वपर्यायोंसे कभो जुदा होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार भव्य-जीवोंमें यह भावी अर्हत्पर्याय द्रव्यरूपसे तदात्मक हुई सदा विद्य-मान है। अतः भव्यात्मामें सदा स्थित इस सत्‌रूप अर्हत्पर्यायके ध्यानमें विभ्रमकी कौनसी बात है ? कोई भी नहीं।

यहाँ द्रव्यकी जिन स्वपर्यायोंका उल्लेख है वे द्रव्यान्तरके संयोगके विना ही स्वभावसे होनेवाली वस्तु-प्रदेशपिण्डके रूपमें स्वाभाविक द्रव्यज-पर्यायें हैं। इनके विपरीत जो द्रव्यान्तरके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रदेशपिण्डरूप पर्यायें होती हैं उन्हें वैभाविक द्रव्यज पर्यायें कहते हैं और वे जीव तथा पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही होती हैं—शेषमें नहीं; जैसा कि अध्यात्मकमलमार्तण्डके द्वितीय परिच्छेदके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है :—

यो द्रव्यान्तर-समिति विनैव वस्तुप्रदेशसपिण्डः ।
नैसर्गिकपर्यायो द्रव्यज इति शेषमेव गदितं स्यात् ॥११॥
द्रव्यान्तर-संयोगादुत्पन्नो देशसंचयो द्व्यजः ।
वैभाविकपर्यायो द्रव्यज इति जीव-पुद्गलयोः ॥१२॥

जो संयोगज पर्यायें होती हैं उनका द्रव्यमें सदा अस्तित्व नहीं बनता, जिसके लिये मूलमें 'सर्वदा' 'सतः' जैसे पदोंका प्रयोग किया गया है, और इसलिए उनको परपर्याय तथा बाह्यभाव कहा जाता है [1]।

अर्हद्रूप ध्यानको भ्रान्त मानने पर ध्यान-फल नहीं बनता

[2]किं च भ्रान्तं यदीदं स्यात्तदा नाऽतः फलोदयः ।
नहि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः ॥१९४॥
प्रादुर्भवन्ति चाऽमुष्मात्फलानि ध्यानवर्त्तिनाम् ।
धारणा-वशतः शान्त-क्रूर-रूपाण्यनेकधा ॥१९५॥

'**और यदि किसी तरह इस ध्यानको भ्रान्तरूप मान भी लिया जाय तो इससे फलका उदय नहीं बन सकेगा; क्योंकि मिथ्याजलसे**

---

१. एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसण-लक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग-लक्खणा (नियमसार)

२. मे किं विभ्रान्तं । ३. आ ज मे धारणा वसतः ।

कभी तृषाका नाश नहीं होता—प्यास नहीं बुझती। किन्तु इस ध्यानसे ध्यानवर्तियोंके धारणाके अनुसार शान्तरूप और क्रूररूप अनेक प्रकारके फल उदयको प्राप्त होते हैं—ऐसा देखनेमें आता है।'

व्याख्या—यहाँ एक तीसरी दृष्टिसे शंकाके समाधानकी बात-को लिया गया है और वह यह कि 'यदि इस अर्हद्‌रूपमें आत्म-ध्यानको भ्रान्त मान लिया जाय तो इससे किसी फलकी प्राप्ति नहीं बनती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिथ्याजलसे कभी प्यास नहीं बुझती। परन्तु ऐसा नहीं है, ध्यान करनेवालोंके इस ध्यान-से धारणाके अनुसार अनेक प्रकारके शान्त तथा क्रूररूप फलोंकी प्रादुर्भूति देखनेमें आती है और इसलिए इस ध्यानको भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

आगे इस ध्यानके फलोंको स्पष्ट किया गया है।

ध्यान-फलका स्पष्टीकरण

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।
अनन्तशक्तिरात्माऽयं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥

'सम्यक्‌गुरुके उपदेशको प्राप्त हुए एकाग्र-ध्यानियोंके द्वारा ध्यान किया जाता हुआ यह अनन्त शक्तियुक्त अर्हन् आत्मा मुक्ति तथा भुक्तिको प्रदान करता है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हद्रूप आत्मध्यानके बलसे मुक्ति तथा भुक्ति-को प्राप्ति होती है, ऐसा सूचित किया गया है। किसको मुक्तिकी और किसको भुक्तिको प्राप्ति होती है, यह आगे बतलाया गया है।

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये।
तद्ध्यानोपात्त-पुण्यस्य स एवाऽन्यस्य भुक्तये ॥१९७॥

'अर्हद्रूप अथवा सिद्ध-रूपसे ध्यान किया गया (वह आत्मा) चरमशरीरी ध्याताके मुक्तिका और उससे भिन्न अन्य ध्याताके भुक्तिका कारण बनता है, जिसने उस ध्यानसे विशिष्ट पुण्यका उपार्जन किया है।'

व्याख्या—यहाँ, अर्हद्रूप अथवा सिद्धरूप दोनों प्रकारके आत्म-ध्यानसे मुक्ति तथा भुक्ति-प्राप्तिकी सूचना करते हुए, यह स्पष्ट किया गया है कि जो चरमशरीरी है—जिसको अपने वर्तमान शरीरके अनन्तर दूसरा शरीर धारण करना नहीं है—उसको तो मुक्तिकी प्राप्ति होती है और जो चरमशरीरी नहीं है—जिसे अभी संसारमें दूसरा जन्म लेना है—उसे भुक्तिकी—स्वर्गादिके सातिशय भोगोंकी-प्राप्ति होती है।

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं[1] तुष्टिः[2] पुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहाऽन्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥१६८॥

'ज्ञान, श्री (लक्ष्मी, विभूति, वाणी, शोभा, प्रभा, उच्चस्थिति) **आयु, आरोग्य, सन्तोष, पोष, शरीर, धैर्य तथा और भी जो कुछ इस लोकमें प्रशस्तरूप वस्तुएं हैं वे सब ध्याताको** (इस ध्यानके बलसे) प्राप्त होती हैं।'

व्याख्या—यहाँ आत्माके अर्हत्सिद्धरूप ध्यानसे होनेवाले लाभोंकी सूचना की गई है और यह बतलाया गया है कि और भी जो कुछ अच्छी वस्तुओंका लाभ है वह सब इस ध्यानसे प्राप्त होता है।

तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकम्पन्ते महाग्रहाः ।
नश्यन्ति भूत-शाकिन्यः क्रूराः शाम्यन्ति च क्षणात् ॥१६९

---

१. मे श्रीरारोग्यं। २. मु तुष्टिपुष्टि।

'उस अर्हत् अथवा सिद्धके ध्यानसे व्याप्त आत्माको देखकर महाग्रह—सूर्य-चन्द्रमादिक—प्रकम्पित होते हैं, भूत तथा शाकिनियाँ नाशको प्राप्त हो जाती हैं—अपना कोई प्रभाव जमाने नहीं पातीं—और क्रूर जीव क्षणमात्रमें अपनी क्रूरता छोड़कर शान्त बन जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ दूसरों पर इस ध्यानका क्या प्रभाव पड़ता है उसे यत्किंचित् सूचित किया गया है और उसमें महाग्रहोंके प्रकम्पन, भूतों तथा शाकिनियोंके पलायन और क्रूर-जन्तुओंके क्षणभरमें शमनकी बात कही गई है।

ध्यान-द्वारा कार्यसिद्धिका व्यापक सिद्धान्त

यो यत्कर्म-प्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्ट-मानसः[1]।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्म-वांछितम् ॥२००

'जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमें समर्थ देव है उसके ध्यानसे व्याप्तचित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपना वांछित अर्थ सिद्ध करता है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके फलका व्यापक सिद्धान्त बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया गया है कि जो देवता (शक्ति या व्यक्ति-विशेष) जिस कर्मके करनेमें समर्थ अथवा उसका अधिष्ठाता-स्वामी है उसको ध्यानाविष्ट करनेवाला ध्याता तदात्मक होकर अपने वांछित कार्यको सिद्ध करता है।

वैसे कुछ ध्यानों और उनके फलका निर्देश

पार्श्वनाथ-भवन्मंत्री सकलीकृत-विग्रहः।
महामुद्रां महामंत्रं महामण्डलमाश्रितः ॥२०१॥

१. मु मे मात्मनः। २. मु सि जु पार्श्वनाथो।

[1]तैजसो-प्रभृतीर्बिभ्रद्धारणाश्च यथोचितम् ।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहाणां कुरुते द्रुतम् ॥२०२॥

'**जो मंत्री**—मन्त्राराधक योगी—**शरीरको सकलीक्रियासे सम्पन्न किए हुए है, महामुद्रा, महामन्त्र तथा महामण्डलका आश्रय लिए हुए है और तैजसी आदि धारणाओंको यथोचितरूपमें धारण किए हुए है वह पार्श्वनाथ होता हुआ**—अपनेको पार्श्व-नाथरूपमें ध्याता हुआ—**शीघ्र ही उग्रग्रहोंके निग्रहादिकको करता है।**'

व्याख्या—यहाँ देवताविशेषके ध्यान करनेका निरूपण करते हुए प्रथम ही श्रीपार्श्वनाथके ध्यानको लिया है। इस ध्यान-द्वारा पार्श्वनाथ होता हुआ मन्त्री-योगी शीघ्र ही उग्रग्रहोंका निग्रह आदिक करनेमें समर्थ होता है। पार्श्वनाथके ध्यान-द्वारा इस कर्मको करनेवाला योगी 'सकलीकृत-विग्रह' होना चाहिये; महामुद्रा, महामन्त्र और महामण्डलको आश्रित किये हुए होना चाहिए और साथ ही तैजसी (आग्नेयी) आदि धारणाओंको यथोचित-रूपमें धारण किये हुए होना चाहिए।

यहाँ उल्लिखित सकलीकरण, महामुद्रा, महामन्त्र, महामण्डल, और तैजसी आदि धारणाओंका क्या रूप है यह सब उस मंत्रा-राधक योगीके जाननेका विषय है, जिसे यथावश्यक ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये।

स्वयमाखण्डलो भूत्वा महीमण्डल[2]-मध्यगः ।
[3]किरीटी कुण्डली वज्री पीत-भूषा[4]ऽम्बरादिकः ।२०३।

---

१. मु तैजसीं प्रभृतिर्बिभ्रद्धाणाश्च । २. मु महामडल ।
३. मु मे किरीटकुंडली । ४. मु भूषा ।

कुम्भको स्तम्भ-मुद्राढ्यः[1] स्तम्भनं मंत्रमुच्चरन् ।
स्तम्भ-कार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्र-मानसः ॥२०४

'(उक्त विशेषण-विशिष्ट मन्त्री) **स्वयं मुकुट-कुण्डल-वज्र-विशिष्ट और पीत-भूषण-वसनादिकको धारण किये हुए इन्द्र होकर पृथ्वीमण्डलके मध्यमें प्राप्त हुआ, कुम्भकपवनको साधे हुए, स्तम्भमुद्रासे युक्त और एकाग्रचित्त हुआ स्तम्भन-मन्त्रका उच्चारण करता हुआ सारे स्तम्भन-कार्यों को करता है ।'**

व्याख्या—यहाँ दूसरे देवताविशेष इन्द्रके ध्यान-फलको लिया गया है। इस ध्यानमें इन्द्रको ध्यानाविष्ट करके स्वयं इन्द्र होता हुआ वह एकाग्रचित्त मन्त्री सारे स्तम्भनकार्योंको करनेमें समर्थ होता है। इन्द्रका रूप मुकुट, कुण्डल, वज्र और पीले वस्त्राभूषणों आदिसे युक्त है और वह स्वर्गसे महीमण्डलके मध्य प्राप्त होकर ही यहाँ स्वयं कुछ कार्य करनेमें समर्थ होता है। तदनुरूप ही मन्त्री अपनेको उन विशेषणोंसे विशिष्ट अनुभव करे। साथ ही कुम्भकीपवनको साधे हुए स्तम्भ-मुद्रासे युक्त होकर स्तम्भन-मन्त्रका उच्चारण करे, जो कि स्तम्भन-कार्यके लिये इन्द्रानुभूतिके साथ अतीव आवश्यक है। स्तम्भ-मुद्राका और स्तम्भन-मन्त्रका इस विषयमें क्या रूप है यह अन्वेषणीय है।

स स्वयं गरुडोभूयक्ष्वेडं क्षपयति क्षणात् ।
कन्दर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यताम् ॥२०५॥
एवं वैश्वानरोभूय[2] ज्वलज्ज्वाला- शताकुलः ।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरम् ॥२०६॥

---

१. मु मे कुम्भकीस्तम्भमुद्राद्या (ढ्यः) । २. मु वैश्वानरो भूयं ।

स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे ।
[1]अथैनमात्मसात्कृत्य [2]दाहज्वरमपास्यति ॥२०७॥
क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।
शान्तिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम् ॥२०८॥

'वह मन्त्री योगी ध्यान-द्वारा स्वयं गरुडरूप होकर विषको क्षणभरमें दूर कर देता है और स्वयं कामदेव होकर जगतको अपने वशमें कर लेता है। इसी प्रकार सैकड़ों ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निरूप होकर और ज्वालाओंसे रोगीके शरीरको व्याप्त करके शीघ्र ही शीतज्वरको हरता है; तथा स्वयं अमृत-रूप होकर रोगीको आत्मसात् करके उसके शरीरमें अमृतकी वर्षा करता हुआ उसके दाहज्वरका विनाश करता है; और क्षीरोदधिरूप होकर सारे जगतको उसमें तिराता, बहाता अथवा स्नान कराता हुआ वह योगी शरीरधारियोंके शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मको करता है।'

व्याख्या—यहाँ दूसरे कुछ पदार्थोंके ध्यान-फलको भी भावध्येयके उदाहरणके रूपमे लिया गया है; जैसे गरुड़, कामदेव, अग्नि, अमृत और क्षीरोदधिका ध्यान। गरुड़के ध्यान-द्वारा स्वयं गरुड़ हुआ योगी क्षणभरमें सर्पविषको दूर कर देता है। कामदेवके ध्यान-द्वारा स्वयं कामदेव होकर योगी जगतको अपने वशमें कर लेता है। अग्निदेवताके ध्यान-द्वारा स्वयं सैकड़ों ज्वालाओंसे जाज्वल्यमान अग्निदेवतारूप होकर योगी शीत-ज्वरसे पीड़ित रोगीको अपनी ज्वालाओंसे व्याप्त करके शीघ्र ही उसके शीत-ज्वरको हरता है। अमृतके ध्यान-द्वारा स्वयं अमृतरूप हुआ योगी रोगीको आत्मसात् करके शरीरमें अमृतकी वर्षा करता हुआ

---

१. मु मे अथैतमात्मसाकृ(त्कृ)त्य। २. आ दाघ।

उसके दाहज्वरको दूर करता है। क्षीरोदधिके ध्यान-द्वारा स्वयं क्षीरोदधिमय हुआ योगी सारे जगतको उसमें डुबाता-तिराता हुआ प्राणियोंके शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोंको करता है और इस तरह उन्हें सुखी बनाता है।

इस प्रकार ये कुछ थोड़े उदाहरण हैं जिनके द्वारा तद्देवता-मय-ध्यानके फल और सिद्धान्तको स्पष्ट करके बतलाया गया है।

तद्देवतामय-ध्यानके फलका उपसंहार

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति ।
[1]तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ॥२०९॥

'इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या? यह योगी जो भी काम करना चाहता है उस-उस कर्मके देवतारूप स्वयं होकर उस-उस कार्यको सिद्ध कर लेता है।'

व्याख्या—यहाँ, प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते हुए, अधिक कहनेको व्यर्थ बताकर यह सार-सूचना की गई है कि योगी जिस-जिस कार्यको करना चाहता है उस-उस कार्यके अधिष्ठाता देवताके ध्यान-द्वारा उस-उस देवतामय होकर उस-उस कार्यको स्वयं सम्पन्न करता है।

शान्ते कर्मणि शान्तात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्नयम् ।
शान्त-क्रूराणि कर्माणि साधयत्येव साधकः ॥२१०॥

'यह साधक योगी शान्तिकमके करनेमें शान्तात्मा और क्रूर-कर्मके करनेमें क्रूरात्मा होता हुआ शान्त तथा क्रूरकर्मोको सिद्ध करता है।'

---

१. तद्देवतन्मयो।

व्याख्या—पिछली सार-सूचनाका यह पद्य भी एक अंग है। इसमें यह बतलाया है कि ध्यान-द्वारा साधक योगी जिन कार्योंको सिद्ध करना चाहता है वे दो प्रकारके हैं—शान्तकर्म और क्रूरकर्म। शान्तकर्मकी साधनामें योगी शान्त और क्रूरकर्मकी साधनामें क्रूर होता हुआ दोनों प्रकारके कार्योंको सिद्ध करनेमें समर्थ होता है।

समरसीभावकी सफलतासे उक्त भ्रान्तिका निरसन

आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः।
निर्विषीकरणं [1]शान्तिर्विद्वेषोच्चाट-निग्रहाः ॥२११॥
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम्।
ततः समरसीभाव-सफलत्वान्न विभ्रमः ॥२१२॥

'ध्यानका अनुष्ठान करनेवालोंके आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्रावण, निर्विषीकरण, शान्तिकरण, विद्वेषन, उच्चाटन, निग्रह इत्यादि कार्य दिखाई पड़ते हैं। अतः समरसी-भावके सफल होनेसे विभ्रमकी कोई बात नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ, शंका-समाधानका उपसंहार करते हुए, जिन आकर्षणादि कार्योंका निर्देश तथा 'आदीनि' पदके द्वारा सूचन किया है उनके विषयमें कहा गया है कि ये सब कार्य ध्यान-निष्ठात्माओंके द्वारा होते हुए देखे जाते हैं। अतः ध्येय-सदृश-ध्यानके पर्यायरूप अथवा ध्येय-ध्याताके एकीकरणरूप जो यह समरसीभाव है उसके सफल होनेसे विभ्रमकी कोई बात नहीं रहती।

उक्त कथनमें 'दृश्यन्ते' पद अपना खास स्थान रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जिन आकर्षण-स्तम्भनादिक

---

१. मु शांतिविद्वेषोच्चाट।

ध्यानविषयक कार्योंका यहाँ उल्लेख किया गया है वे सब ग्रन्थ-कारमहोदयके स्वतःके अनुभूत अथवा दृश्य-विषय हैं और इस-लिये उनमें शंकाके लिये स्थान नहीं है। इन आकर्षणादि विषयों-का विद्यानुशासन तथा भैरव-पद्मावती-कल्प आदि अनेक मंत्र-शास्त्रोंमें विधिविधानपूर्वक विस्तारके साथ वर्णन है।

यत्पुनः पूरणं कुम्भो रेचनं दहनं प्लवः।
सकलीकरणं मुद्रा-मन्त्र-मंडल-धारणाः ॥२१३॥
कर्माऽधिष्ठातृ-देवानां संस्थानं लिङ्गमासनम्।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नाम-द्युतिर्दिशा ॥२१४॥
भुज-वक्त्र-नेत्र-संख्या[1] भावः क्रूरस्तथेतरः।
[2]वर्णः स्पर्शः स्वरोऽवस्था वस्त्रं भूषणमायुधम् ॥२१५॥
एवमादि यदन्यच्च शान्त-क्रूराय कर्मणे[3]।
[4]मंत्रवादादिषु प्रोक्तं तद्ध्यानस्य परिच्छदः ॥२१६॥

'इसके अलावा जो पूरण, कुम्भन, रेचन, दहन, प्लवन, सकलीकरण, मुद्रा, मंत्र, मंडल, धारणा, कर्माधिष्ठाता देवोंका संस्थान-लिङ्ग- आसन-प्रमाण- वाहन- वीर्य-जाति- नाम-ज्योति-दिशा-मुखसंख्या-नेत्रसंख्या-भुजासंख्या-क्रूरभाव-शान्तभाव-वर्ण-स्पर्श-स्वर-अवस्था-वस्त्र-भूषण-आयुध इत्यादि और जो कुछ अन्य शान्त तथा क्रूरकर्मके लिये मंत्रवाद आदि ग्रन्थोंमें कहा गया है वह सब ध्यानका परिकर है—यथाविवक्षित ध्यानको उपकारक सामग्री है।'

व्याख्या—इन चारों पद्योंमें जिन बत्तीस विषयोंका नामो-

---

१. आ वक्त्रनेत्रभुजासंख्या; मु संख्यां। २. मु वर्णस्पर्शस्वरोऽ।
३. ज कर्मणो। ४. सि जु मंत्रवादिषु यत्प्रोक्तं।

ल्लेख है और 'आदि' शब्दके द्वारा तत्सदृश तथा तत्सम्बद्ध जिन दूसरे विषयोंका सूचन है वे सब शान्त-क्रूरादिकर्म-विषयक विविध ध्यानोंके यथायोग्य परिवार हैं अथवा उनकी सहायक सामग्रीके रूपमें स्थित हैं। उनके स्वरूपादिका वर्णन मंत्रवादादि-विषयक ग्रन्थोंमें—विद्यानुवादादि जैसे शास्त्रोंमें—किया गया है, उन परसे उनको जानना चाहिये।

यहाँ थोड़े शब्दोंमें ध्यानके लिए जानने योग्य उपयोगी विषयोंकी जो सूचना की गई है वह बड़ी महत्वपूर्ण है और उससे इस बातका पता चलता है कि ध्यानका विषय कितना गहन-गम्भीर है, कितना बड़ा उसका परिवार है और कितनी अधिक सतर्कता, सावधानी तथा जानकारीकी वह अपेक्षा रखता है। सब सामग्रीसे सुसज्जित होकर जब किसी सिद्धिके लिये ध्यान किया जाता है तभी उसमें यथेष्ट सफलताकी प्राप्ति होती है। जो अधूरे ज्ञान, अधूरे श्रद्धान और अधूरी साधन-सामग्रीके बल पर किसी प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त करना चाहता है तो यह उसकी भूल है, उसे ऐसी अवस्थामें यथेष्ट-सिद्धिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

लौकिकादि सारी फल-प्राप्तिका प्रधान कारण ध्यान

यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाऽग्रकारणम् ॥२१७॥

'इस लोकसम्बन्धी जो फल है उसका और परलोकसम्बन्धी जो फल है उसका भी ध्यान ही मुख्य कारण है—ध्यानसे दोनों लोकसम्बन्धी यथेच्छित फलोंकी प्राप्ति होती है।'

व्याख्या—यहाँ, ध्यानके फल-कथनका उपसंहार करते हुए, स्पष्ट घोषणा की गई है कि लौकिक और पारलौकिक जो कुछ भी फल है उसकी प्राप्तिका प्रधान कारण ध्यान ही है। इससे ध्यान-

का माहात्म्य स्पष्ट हो जाता है। इस विषयमें श्रीसोमदेवाचार्यने 'यशस्तिलक'के निम्न पद्यमें लिखा है कि ऐसा कोई गुण, ज्ञान, दृष्टि या सुख नहीं है जो ध्यानके प्रकाशमें अन्धकार-समूहके नाश हो जाने पर नहीं प्राप्त होता है—

न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम्।
यद्योगोद्योतिते न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ।। कल्प ४० ।।

ध्यानका प्रधान कारण गुरूपदेशादि-चतुष्टय

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाऽभ्यासः स्थिरं मनः ।।२१८।।

'और उधर ध्यान-सिद्धिका मुख्य कारण यह चतुष्टय है, जो कि गुरु-उपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमनके रूपमें है।'

व्याख्या—जिस ध्यानका माहात्म्य ऊपर ख्यापित किया गया है उसकी सिद्धिके प्रधान कारण ये चार हैं—१ सद्गुरुका वह उपदेश जो उस ध्यानके स्वरूपादिका यथार्थबोध करा सके, २ सद्गुरुके उपदेश-द्वारा प्राप्त ज्ञानका सम्यक्श्रद्धान, ३ ज्ञान और श्रद्धानके अनुरूप निरन्तर अभ्यास, ४ अभ्यास-द्वारा मनकी दृढताका सम्पादन। सद्गुरु वही हो सकता है जो उस ध्यान-विषयका यथार्थज्ञाता हो—चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष—अथवा जिसने अभ्यासादिके द्वारा उस विषयकी सिद्धिको प्राप्त किया हो।

यहाँ ध्यानके क्रमबद्ध चार मुख्य हेतुओंका निर्देश किया गया है। यों ध्यानके और भी अनेक हेतु हैं, जिन्हें प्रस्तुतग्रन्थमें ध्यानकी सामग्री कहा गया है (७५) वह सब सामग्री भी ध्यानके हेतु-रूपमें ही स्थित है; क्योंकि उसके विना यथेष्ट ध्यान नहीं बनता।

बृहद्द्रव्यसंग्रहकी संस्कृत-टीकामें उद्धृत निम्न पद्यमें वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थता (असंगता), समचित्तता और परीषह-जय इन पाँचको ध्यानके हेतु बतलाया है, जो सब ठीक हैं:—

[1]वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषह-जयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः ॥ पृ० २०१॥

इसी तरह यशस्तिलकके अष्टमाश्वासगत 'ध्यानविधि' नामक ४०वें कल्पमें वैराग्य, ज्ञानसम्पत्ति, असंगता, स्थिरचित्तता और ऊर्मिस्मय-सहनता इन पाँचको योग(ध्यान)के कारण बतलाया है :—

वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसंगः स्थिरचित्तता।
ऊर्मि-स्मय-सहत्वं च पंच योगस्य हेतवः॥

'ऊर्मि' शब्द यहाँ भूख, प्यास, शोक, मोह, रोग और भयादि-की वेदनाजन्य लहरोंका वाचक है और 'स्मय' शब्द मद तथा विस्मय दोनोंके लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इन सबका सहन परीषह-जयमें आ जाता है।

प्रदर्शित-ध्यानफलसे ध्यानफलको ऐहिक ही माननेका निषेध

अत्रैव माऽऽग्रहं कार्षुर्यद्ध्यान-फलमैहिकम्।
इदं हि ध्यानमाहात्म्य-ख्यापनाय प्रदर्शितम् ॥२१६॥

'इस ध्यान-फलके विषयमें किसीको यह आग्रह नहीं करना चाहिये कि ध्यानका फल ऐहिक (लौकिक) ही होता है; क्योंकि यह ऐहिक फल तो यहाँ ध्यानके माहात्म्यकी प्रसिद्धिके लिए प्रदर्शित किया गया है।'

---

१. ज्ञानांकुशमें यही पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—
वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समभावना।
जयं परिषहाणां च पंचैते ध्यानहेतवः ॥४२॥

व्याख्या—पिछले पद्योंमें समरसीभावरूप ध्यानका कुछ उदाहरणों-द्वारा जो फल निर्दिष्ट किया गया है उस परसे किसीको यह भ्रान्ति (ग़लतफ़हमी) न होनी चाहिये कि ध्यानका फल लौकिक ही होता है। लौकिक जन लौकिक फलकी अनुभूतिके विना पारमार्थिक फलको ठीक समझ नहीं पाते। अत. जगज्जनोंके हृदयोंमें ध्यानके माहात्म्यको ख्यापित करनेके लिये लौकिक फल-प्रदर्शनका आश्रय लिया गया है। यही इस पद्यका आशय है।

ऐहिक फलार्थियोंका ध्यान आर्त्त या रौद्र

'तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिक-फलार्थिनाम्।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥२२०॥

'ऐहिक (लौकिक) फलके चाहनेवालोंके जो ध्यान होता है वह या तो आर्त्त ध्यान है या रौद्रध्यान। अतः इस आर्त्त तथा रौद्रध्यानका परित्याग कर (मुमुक्षुओंको) धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ उस ध्यानको (यथास्थिति) आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान बतलाया है जो लौकिक फल चाहनेवालोंके द्वारा उस फलकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। इसलिये जो एकमात्र मुक्तिके अभिलाषी हैं उन्हें इन दोनों ध्यानोंका त्यागकर धर्म्य-ध्यान तथा शुक्लध्यानका अवलम्बन लेना चाहिये, ऐसी प्रेरणा की गई है। धर्म्य तथा शुक्लध्यानके द्वारा लौकिक फलोंकी स्वत: प्राप्ति होती है, यह बात पहले प्रदर्शित की जा चुकी है। और इसलिए किसीको यहाँ यह न समझ लेना चाहिये कि आर्त्तध्यान या रौद्रध्यानके विना लौकिक फलकी प्राप्ति होती ही नहीं।

आर्त्तध्यान छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों तकके होता है। इसीसे अनेक मुनि अपने लिए, दूसरोंके लिए अथवा धर्म-शासनकी

१. मु यद्ध्यानं।

प्रभावनाके लिये ऐसे कार्य करते हुए देखे-सुने जाते हैं जो लौकिक विषयोंसे सम्बन्ध रखते हैं। आर्त्तध्यानके भी व्यवहार-दृष्टिसे शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद बनते हैं।

वह तत्त्वज्ञान जो शुक्ल ध्यानरूप है

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।
शुभाऽशुभ-मलाऽपायाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥२२१॥[1]

'अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें जो उदासीन—अनासक्तिमय—तत्त्वज्ञान होता है वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके मलके नाश होनेके कारण विशुद्ध शुक्लध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ अपूर्वकरण आदि (८वें से १२वें) गुणस्थानोंमें होनेवाले उस तत्त्वज्ञानको निर्मल-शुक्लध्यान बतलाया है जो ज्ञेयोंके प्रति कोई आसक्ति न रखता हुआ उदासीन अथवा उपेक्षाभावको प्राप्त होता है, और इसका कारण यह निर्दिष्ट किया है कि वहाँ वह ज्ञान शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके भाव-मलोंसे रहित होता है।

शुक्लध्यानका स्वरूप

शुचिगुण-योगाच्छुक्लं[2] कषाय-रजसः क्षयादुपशमाद्वा[3]।
माणिक्य-शिखा-वदिदं सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥२२२॥

'कषाय-रजके क्षय होने अथवा उपशम होनेसे और शुचि—पवित्र गुणोंके योगसे शुक्लध्यान होता है और यह ध्यान माणिक्य-

---

१. यह पद्य मुद्रित 'ज्ञानार्णव' के ४२ वें प्रकरणमें ५ वें पद्यके अनन्तर उद्धृत है।

२. सर्वा० सि० तथा तत्त्वा० वा० ९-२८।

३. कषाय-मल-विश्लेषात् शुक्लशब्दाभिधेयताम्-
उपेयिवदिदं ध्यानं······(आर्ष २१-१६६)

शिलाकी तरह सुनिर्मल तथा निष्कम्प रहता है।'

व्याख्या—यहाँ, शुक्लध्यानका स्वरूप उसकी निरुक्ति-द्वारा प्रतिपादन करते हुए, बतलाया है कि यह ध्यान शुचि-गुणोंके संयोगसे शुक्लसंज्ञाको प्राप्त है। शुचि शब्द यहाँ श्वेत, शुद्ध, पवित्र तथा निर्मल अर्थोंका वाचक है। वस्त्र जिस प्रकार मैलके दूर हो जाने पर शुचिगुणके योगसे शुक्ल कहलाता है उसी प्रकार कषायमलसे रहित होने पर आत्माका जो अपने शुद्धस्वभावमें परिणमन है वह भी शुक्ल कहा जाता है। मिट्टी-रेतादिसे मिला मलिन जल जिस प्रकार उस मल-द्रव्यके पूर्णतः विश्लेषणरूप क्षयको अथवा उदयाभावरूप उपशमको प्राप्त होता है तो वह निर्मल कहा जाता है उसी प्रकार कषायमलसे मलिन आत्मा भी जब उस मलके क्षयभाव अथवा उपशमभावको प्राप्त होता है तब वह सुनिर्मल कहा जाता है। शुक्ल भी उसीका नामान्तर है। इस ध्यानमें चूँकि शुचिगुणविशिष्ट परम-शुद्धात्माका ध्यान होता है इसलिये इसे शुक्लध्यान नाम दिया गया है। यह ध्यान माणिक्य (रत्न) की ज्योतिके समान कम्पविहीन होता है—डोलता नहीं।

मुमुक्षुको नित्य ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा

[1]रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम्।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्! मुमुक्षसे॥२२३॥

'हे योगिन्! यदि तू मोक्ष चाहता है तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको ग्रहण करके बन्धके कारण-रूप मिथ्यादर्शनादिकके त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यानका अभ्यास कर।'

---

१. सि जु रत्नत्रयमयो भूत्वा।

व्याख्या—यहाँ मोक्षके इच्छुक योगीको ध्यानके निरन्तर अभ्यासकी प्रेरणा की गई है और उस अभ्यासके पूर्व मिथ्यादर्शनादिरूप बन्धके कारणोंको त्यागकर मोक्षके हेतुरूप सम्यग्दर्शनादिमय रत्नत्रयके ग्रहणकी आवश्यकता व्यक्त की है अर्थात् मुमुक्षुको बन्धहेतुओंके त्याग और मोक्षहेतुओंके ग्रहणपूर्वक ध्यानका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये, ऐसा प्रतिपादन किया है।

उत्कृष्ट ध्यानाभ्यासका फल

ध्यानाऽभ्यास-प्रकर्षेण [1]त्रुटयन्मोहस्य योगिनः ।
चरमाऽङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवाऽन्यस्य[2] च क्रमात् ।।२२४

'ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोहको नाश करनेवाले चरमशरीरी योगीके तो उसी भवमें मुक्ति होती है और जो चरमशरीरी नहीं उसके क्रमशः मुक्ति होती है।'

व्याख्या—यहाँ, उत्कृष्ट ध्यानके फलका निर्देश करते हुए, बतलाया है कि जो योगी उत्कृष्ट-ध्यानाभ्यासके द्वारा मोहका नाश करनेमें प्रवृत्त है वह यदि चरमशरीरी है तो उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त होता है, अन्यथा कुछ और भव लेकर क्रमशः मुक्तिको प्राप्त करता है।

तथा ह्यचरमाऽङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाऽशुभकर्मणाम् ।।२२५।।
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम् ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ।।२२६।।

---

१. सम्पादनोपयुक्त प्रतियोंमें 'तुदन्' पाठ पाया जाता है, जो ठीक नहीं; वह 'तुदन् या त्रुटयन्' होना चाहिये।

२. मु तदा अन्यस्य।

'तथा ध्यानका अभ्यास करनेवाले अचरमाङ्ग योगीके सदा अशुभकर्मों की निर्जरा होती है और (अशुभकर्मास्रवके निरोध स्वरूप) संवर होता है। साथ ही उसके प्रतिक्षण पुण्यकर्म प्रचुर मात्रामें आस्रवको प्राप्त होते हैं, जिनसे यह योगी कल्पवासी देवों-में महाऋद्धिधारक देव होता है।'

व्याख्या—यहाँ उस योगीके जो चरमशरीरी नहीं—भवधा-रणरूप संसार-पर्यायका जिसके अभी अन्त नहीं आया—उत्कृष्ट ध्यानके फलका निरूपण करते हुए यह बतलाया है कि उसके सम्पूर्ण अशुभकर्मोंकी निर्जरा होजाती है और किसी भी अशुभ-कर्मका आस्रव नहीं होता; प्रत्युत इसके क्षण-क्षणमें बहुत अधिक पुण्यकर्मोंका आस्रव होता है जिन सबके फलस्वरूप वह कल्पवासी देवोंमें किसी देवपर्यायको पाकर महाऋद्धिका धारक देव होता है।

तत्र सर्वेन्द्रियाल्हादि[1]मनसः प्रीणनं परम् ।
सुखाऽमृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुर-सेवितम् ॥२२७॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसम्पदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगम्बरीं[2]श्रितः ॥२२८
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधम् ।
विधूयाऽष्टाऽपि कर्माणि श्रयते मोक्षमक्षयम् ॥२२९॥

'वहाँ—उस देवपर्यायमें—वह सर्व इन्द्रियोंको आल्हादित और मनको परम तृप्त करनेवाले सुखरूपी अमृतको पीता हुआ चिरकाल तक सुरोंसे सेवित रहता है। वहाँसे मर्त्यलोकमें अवतार लेकर, चक्रवर्ती आदिकी सम्पदाओंको चिरकाल तक भोगकर, फिर उन्हें स्वयं छोड़कर, दैगम्बरी दीक्षाको आश्रय किये हुए वह

१. मु मे मोदि। २. ज दिगंबरीं।

वज्रकाय-योगी चार प्रकारके शुक्लध्यानको ध्याकर और आठों कर्मोंका नाश करके अक्षय-मोक्षपदको प्राप्त करता है।'

व्याख्या—यहाँ, उस उत्कृष्ट ध्यानाभ्यासी अचरमशरीरी योगीको स्वर्गमें महर्द्धिक देव होने पर चिरकाल तक जिस सुखकी प्राप्ति होती है उसकी अतिसंक्षेपमें सूचना करनेके बाद, यह बतलाया गया है कि वह योगी स्वर्गसे मर्त्यलोकमें अवतार लेकर बज्रशरीरका धारक हुआ चक्रवर्ती आदि किसी महान् राजपुरुषके पदसे विभूषित होता है, चिरकाल तक उस पदकी संपदाको भोगता है, फिर उससे विरक्त होकर दैगम्बरी जिन-दीक्षा धारण करता है और चारों प्रकारके शुक्लध्यानों-द्वारा आठों कर्मोंका नाश करके अक्षय-मोक्षपदको प्राप्त करता है, यही उसके पूर्वभव-सम्बन्धी ध्यानपर्यायमें अशरीरी होनेके कारण मोक्ष-प्राप्तिका प्रायः क्रम है।

स्वर्गके जिस सुखकी सूचना प्रथम पद्य (२२७)में की गई है उसमें इन्द्रियों तथा मनको अतीव प्रसन्न करनेवाले उस सारे ही सुखामृतका समावेश हो जाता है जिसकी उपमा मर्त्यलोकके किसी भी सांसारिक सुखको नहीं दी जा सकती। इसीसे श्रीपूज्य-पादाचार्यने 'इष्टोपदेश'में **'नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौ-कसामिव'** इस वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि स्वर्गका वह सुख अपनी उपमा आप ही है।

मोक्षका स्वरूप और उसका फल

आत्यन्तिक-स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीव-कर्मणोः।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥२३०॥

'जीव और कर्मके प्रदेशोंका स्वहेतुसे—बन्ध-हेतुओंके अभाव तथा निर्जरारूप निजी कारणसे—**जो आत्यन्तिक विश्लेष है**—

एक दूसरेसे सदाके लिये अतीव पृथक्त्व है—**वह मोक्ष अथवा मुक्ति है जिसके फल हैं ज्ञानादिक क्षायिकगुण**—ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होनेवाले आत्माके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख (सम्यक्त्व), अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध नामके स्वाभाविक मूल गुण।

व्याख्या—जिस मोक्षकी प्राप्तिके लिये ध्यानकी प्रेरणा की गई है और जिसके लिये मुमुक्षुओंका सारा प्रयत्न है उसका क्या स्वरूप है और क्या फल है, उसीको यहाँ अत्यन्त संक्षिप्तरूपसे बतलाया है। मोक्षका स्वरूप है बन्धावस्थाको प्राप्त जीव और कर्मोंके प्रदेशोंका आत्यन्तिक विश्लेषण—सदाके लिये एक दूसरेसे पृथक् हो जाना अथवा किसी भी कर्मका किसी भी प्रकारका सम्बन्ध आत्माके साथ न रहना। यह विश्लेषण जिन कारणोंसे होता है वे हैं—बन्ध-हेतुओंका अभाव (संवर) और निर्जरा। एकसे आत्मामें नये कर्मोंका प्रवेश सर्वथा रुक जाता है और दूसरेसे संचित कर्मोंका पूर्णतः निकास अथवा बहिष्कार हो जाता है। इसीसे 'तत्त्वार्थसूत्र' में '**बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**' यह मोक्षका स्वरूप निर्दिष्ट किया है। इस मोक्षका फल ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होनेवाले आत्माके अनन्तबोधस्वरूप केवलज्ञान, अनन्तदर्शनरूप केवलदर्शन, स्वाभाविक स्वात्मोत्थ सुख और अप्रतिहतअनन्तवीर्यरूप गुणोंका पूर्णतः विकास है।

मुक्तात्माका क्षणभरमें लोकाग्र-गमन

कर्म-बन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या-[1] स्वभावतः।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

१. सि जु दूर्ध्वं

'कर्मों के बन्धनोंका विध्वंस और ऊर्ध्वगमनका स्वभाव होनेसे मुक्त आत्मा एक क्षण(समय)में लोकशिखरके अग्रभागको प्राप्त होता है—वहाँ पहुँच जाता है।'

व्याख्या—मोक्ष होने पर यह आत्मा कहाँ जाता है, क्यों कर जाता अथवा कौन ले जाता है और कितने समयमें जाता है इन तीनों बातोंका इस पद्यमें निर्देश किया गया है। जानेका स्थान लोक-शिखरका अग्रभाग है, वहाँ इसे कोई लेकर नहीं जाता, बन्धनका अभाव हो जानेसे गतिका परिणाम ही ऊपरको होता है; जैसे मृत्तिकासे लिप्त तुम्बी जो पानीमें डूबी रहती है वह लेपके उतर जाने पर एकदम ऊपर आ जाती है। दूसरे जीवका ऊर्ध्वगमन-स्वभाव होनेसे भी वह लोकके अग्रभाग तक पहुँच जाता है; जैसे अग्नि-शिखा किसी पवनादि बाधक कारणके न होने पर स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। मुक्तात्माको लोकशिखरके अग्रभाग पर पहुँचनेके लिये केवल एक क्षण-परिमित समय लगता है। क्षण-कालके उस सबसे छोटे (सूक्ष्मसे सूक्ष्म) अंशको कहते हैं जिसका विभाग नहीं होता; समय भी उसका एक नामान्तर है; जैसा कि 'तत्त्वार्थसूत्र'में जीवकी अविग्रहा-गतिका निर्देश करते हुए उसे एकसमया[1] बतलाया है।

ऊर्ध्वगति स्वभाव होने पर भी मुक्तात्मा लोकशिखरके अग्रभाग पर ही क्यों ठहर जाता है–आगे अलोकाकाशमें गमन क्यों नहीं करता? इसका उत्तर इतना ही है कि अलोकाकाशमें गति-सहायक 'धर्मद्रव्य'का अभाव है, जिसे 'तत्त्वार्थसूत्र'में '**धर्मास्ति-कायाभावात्**' इस सूत्र (१०-८) द्वारा व्यक्त किया गया है, और इससे यह साफ मालूम होता है कि अनुकूल निमित्तके अभावमें स्वभाव अथवा केवल उपादानकारण अपना कार्य करनेमें समर्थ

---

१. एक समयाऽविग्रहा। (त० सू० २-२९)

नहीं होता। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कार्योत्पत्तिमें बाह्य और अन्तरंग (निमित्त तथा उपादान) दोनों प्रकारके कारणों-सामग्रीकी समग्रताको द्रव्यगत-स्वभावके रूपमें उल्लेखित किया है[१]।

मुक्तात्माके आकारका सहेतुक निर्देश

पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतु-कर्मणाम् ॥२३२॥
ततः सोऽनन्तर-त्यक्त-स्वशरीर-प्रमाणतः ।
किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्व-गुणात्मकः ॥२३३॥

'संसारमें जीवके संकोच और विस्तार दोनों कर्म-निर्मित होते हैं। मुक्ति प्राप्त होने पर उसके वे दोनों नहीं होते; क्योंकि उनके हेतुभूत कर्मोंका—नामकर्मकी प्रकृतियोंका—क्षय हो जाता है। अतः मुक्तिमें वह पुरुष तत्पूर्व छोड़े हुए अपने शरीरके प्रमाणसे कुछ ऊन-जितना तदाकार-रूपमें अपने गुणोंको आत्मसात् किये—अपनाये हुए— रहता है।'

व्याख्या—संसारावस्थामें जिस प्रकार जीवके आकारमें हानि-वृद्धि अथवा घट-बढ़ होती है—वह कर्मोदयवश जिस जातिके शरीरको धारण करता है उस शरीरके आकारका ही हो रहता है, उस शरीरमें भी यदि बाल्यावस्थादिके कारण हानि-वृद्धि होती है तो उस आत्माके आकारमें भी हानि-वृद्धि हो जाती है—उस प्रकार मुक्तावस्थामें नहीं होती; क्योंकि वहाँ उस हानि-वृद्धिके निमित्तभूत 'नाम'कर्मका अभाव हो जाता है। ऐसी स्थितिमें मुक्तात्माका आकार प्रायः उस शरीर ही जितना रह जाता है

---

१. बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥(स्वयंभू०)

जिसे त्याग कर वह मुक्त हुआ है और वह उस देहके प्रतिबिम्ब-रूप रुचिराकार ही होता है[1]।

यहाँ प्रयुक्त हुआ 'किंचित् ऊन' विशेषण आत्म-प्रदेशोंके आकारमें ह्रानि अथवा सुकड़नरूप संकोचका वाचक नहीं है; बल्कि उस त्यक्त शरीरके नख-केश-त्वचादि-रूप जितने अंशोंमें आत्म-प्रदेश नहीं थे उनकी दृष्टिसे आकारमें कुछ कमीका वाचक है। इसके अतिरिक्त शरीरके मुख, कान, नाक तथा पेट जैसे अंगोंमें कुछ पोल भी होती है जिसमें आत्म-प्रदेश नहीं होते। मुक्तात्माओंके आकारमें वह पोल नहीं रहती, उनके आत्म-प्रदेश घन-विवरता अथवा निश्छिद्रावस्थाके रूपमें उसी प्रकार स्थित होते हैं जिस प्रकार मोमका पुतला अग्निसे पिघल कर निकल जाने पर सांचा (मूषा)के भीतर निरुद्ध आकाश स्थित होता है।[2]

---

१. अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो येन तेनाऽल्पहीनः।
प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः॥
(सि० भ० पूज्यपादः)

"किंचिन्न्यूनान्त्यदेहानुकारी जीवघनाकृतिः॥" (आर्ष २१-११५)

२. "अमूर्तोऽप्ययमन्त्याङ्गसमाकारोपलक्षणात्।
"मूषागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः परामृशन्॥" (आर्ष २१-२०३)
"घनविवरतया किंचिदूनाकृतिः।" (अध्यात्मतरं०, सोमदेवः)
"घनविवरतया घना निविडा विवराश्छिद्रास्तेषां भावस्तत्ता तया मदनहीन-मूषागर्भवदतीतानन्तर-तन्वाकार-जीवघनैकरूपत्वान्निखिल-सुषिर-प्रदेशानामित्यर्थः।" (अध्यात्मतरं०टी., गणधरकीर्तिः)
"किंचिदूनाः निविडरूपतया तदात्मप्रदेशानामवस्थानात्, नख-त्वगादिशरीरपरिमाणहीनत्वाच्च । ······गतसिक्थमूषागर्भे यादृशाकारस्तादृशाकाराः सिद्धाः भवन्ति।"
—प्राकृत सिद्धभ० टीकायां, प्रभाचन्द्रः

यहाँ '**स्वगुणात्मकः**' विशेषण अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि मुक्त होने पर गुणोंका नाश अथवा उनमें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती—वे सब गुण सदा सहभावी होनेसे उस आकारप्रमाण ही रहते हैं।

प्रक्षीणकर्माकी स्वरूपमें अवस्थिति और उसका स्पष्टीकरण

[1]स्वरूपाऽवस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाऽभावो नाऽप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥२३४॥

'तब—सम्पूर्ण कर्म-बन्धनोंसे छूट जाने पर—**उस प्रक्षीण-कर्मा पुरुषकी स्वरूपमें अवस्थिति होती है, जो कि न अभावरूप है, न अचैतन्यरूप है और न अनर्थक चैतन्यरूप है।**'

व्याख्या—प्रकर्षध्यानके बलसे जिस आत्माके समस्त कर्म-बन्धन अत्यन्त क्षयको प्राप्त हो जाते हैं—द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मके रूपमें किसी भी प्रकारके कर्मका कोई सम्बन्ध आत्माके साथ अवशिष्ट नहीं रहता—और इसलिये वह ऊर्ध्व-गमन-स्वभावसे क्षणभरमें लोक-शिखरके अग्रभाग पर पहुँच जाता है; तब उसकी जो स्थिति होती है उसे यहाँ 'स्वरूपावस्थिति' बतलाया है, जो कि देहादिकसे भिन्न और वैभाविक परिणतिसे रहित स्वगुणोंमें शाश्वत स्थितिके रूपमें है। श्रीपूज्यपादाचार्यने सिद्धभक्तिमें इसे 'स्वात्मोपलब्धि' के रूपमें उल्लेखित किया है, जो कि उस सिद्धिका लक्षण है, जिसकी प्राप्ति उन द्रव्यकर्म-भाव-कर्मादि-रूप दोषोंके अभावसे होती है जो अनन्तज्ञानादि प्रवर-गुण-गणोंके विकासको रोके हुए हैं, और वह उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि सुवर्ण-पाषाणसे अग्नि आदिके योग्य प्रयोग-

---

१. आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्याऽन्तर्मलक्षयात् ।
नाऽभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥
—यशस्तिलक आ० ६, पृ० २८०

द्वारा पाषाण-भावके विनष्ट होने पर हेम-भावकी उपलब्धि होती है[1]।

इस सिद्धिका नाम ही मुक्ति है, जिसे बौद्ध प्रदीप-निर्वाणके समान अभावरूप, वैशेषिक बुद्धयादि वैशेषिक-गुणोंके उच्छेदमय अचैतन्यरूप और सांख्य ज्ञेयके ज्ञानसे रहित अनर्थक चैतन्यरूप मानते हैं। इन तीनोंको मान्यताओंको लक्ष्यमें लेकर यहाँ पद्यके उत्तरार्धमें तीन वाक्योंकी सृष्टि की गई है और उनके द्वारा क्रमशः यह सूचित किया गया है कि उक्त स्वरूपावस्थिति—सिद्धि अथवा मुक्ति—अभावरूप नहीं है, अचैतन्यरूप भी नहीं है और न अनर्थक-चैतन्यरूप ही है; किन्तु सत्रूप है—सत्स्वरूप आत्माका कभी विनाश नहीं होता है; आत्मा चैतन्यगुण-विशिष्ट है—उसके सदा सहभावी चेतनागुणका कभी अभाव नहीं होता और चेतना [2]ज्ञानरूपा है, इसलिये वह कभी अनर्थक नहीं होती आत्माका ज्ञान-दर्शन लक्षण होनेसे सदा सार्थक बनी रहती है।

आगे चार पद्योंमें उस स्वरूप और स्वरूपावस्थितिको और स्पष्ट किया गया है:—

सब जीवोंका स्वरूप

[3]स्वरूपं सर्वजीवानां स्व-परस्य प्रकाशनम्।
भानु-मण्डलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनम् ॥२३५॥

---

१. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुण गणोच्छादि-दोषापहारात्।
योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः॥ (सि० भ०)

२. चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि। (तत्त्वानु० १६८)

३. अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ।
जोइय एत्थुमभंति करि एहउ वत्थु-सहाउ॥
—परमात्मप्र० १०१

'सब जीवोंका स्वरूप स्वका और परका प्रकाशन है। सूर्य-मण्डलकी तरह परसे उनका प्रकाशन नहीं होता।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें मुक्तात्माके स्वरूपमें अवस्थितिकी जो बात कही गई है वह स्वरूप क्या है उसीका इस पद्यमें निर्देश किया गया है। वह स्वरूप सूर्य-मण्डलकी भांति स्व-पर-प्रकाशन है और वह किसी एकका नहीं, सकल जीवोंका है। सूर्य-मण्डलका प्रकाशन जिस प्रकार किसी दूसरे द्रव्यके द्वारा नहीं होता उसी तरह आत्म-स्वरूपका प्रकाशन भी किसी दूसरे द्रव्यके द्वारा नहीं होता। इसी लिए उसे स्वसंवेद्य कहा गया है।

स्वरूपस्थितिकी दृष्टान्त-द्वारा स्पष्टता

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पूरुषः[1]।
यथा मणिः स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके[2] मले ॥२३६॥

'जिस प्रकार मणि–रत्न संसर्गको प्राप्त हुए मलके स्व-कारणोंसे क्षयको प्राप्त हो जाने पर स्वरूपमें स्थित होता है उसी प्रकार जीवात्मा कर्ममलके स्वकारणोंसे क्षीण हो जाने पर स्वरूपमें स्थित होता है।'

व्याख्या—यहाँ सांसर्गिक मलसे रहित मणिकी स्वरूपाव-स्थितिके दृष्टान्त-द्वारा कर्ममलसे रहित हुए आत्माकी स्वरूपाव-स्थितिको स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार सांसर्गिक मलके दूर हो जाने पर मणि-रत्नका अभाव नहीं होता, वह कान्तिरहित नहीं होता और न उसकी कान्ति निरर्थक ही होती है, उसी प्रकार सांसर्गिक कर्ममलसे रहित हुआ जीवात्मा अभावको प्राप्त नहीं होता, न अपने स्वाभाविक चैतन्यगुणसे रहित होता है और न उसका चैतन्यगुण निरर्थक ही होता है।

---

१. मु पौरुषः। २. मे ज संसर्गिके।

स्वात्मस्थितिके स्वरूपका स्पष्टीकरण

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानाध्यवस्यति[1] ।
न रज्यति[2] न च द्वेष्टि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणम् ॥२३७

त्रिकाल-विषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितम् ।
जानन्पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥२३८॥

अनन्त-ज्ञान-दृग्वीर्य-वैतृष्ण्य-मयमव्ययम् ।
सुखं चाऽनुभवत्येष तत्राऽतीन्द्रियमच्युतः ॥२३९॥

'मुक्तिको प्राप्त हुआ जीवात्मा न तो मोह करता है, न संशय करता है, न स्व तथा पर-पदार्थोंके प्रति अनध्यवसायरूप प्रवृत्त होता है—स्व-पर पदार्थोंसे अनभिज्ञ रहता है—और न द्वेष करता है, किन्तु प्रतिक्षण स्वमें स्थित रहता है। उस समय वह सिद्धप्रभु त्रिकाल-विषयक ज्ञेयको और आत्माको यथावस्थित-रूपमें जानता-देखता हुआ उदासीनता—उपेक्षाको धारण करता है और मुक्तिमें यह अच्युत सिद्ध उस अतीन्द्रिय अविनाशी सुखका अनुभव करता है जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तवैतृष्ण्यरूप होता है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिको प्राप्त शुद्धात्माके स्वात्मस्थित-स्वरूपका स्पष्टीकरण कुछ विशेषताके साथ किया गया है और अन्तमें उसके उस अतीन्द्रिय अविनाशी सुखका उल्लेख किया है जिसे वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और तृष्णाके अनन्तअभाव अथवा समताके अनन्तसद्भावरूपमें अनुभव-करता है।

इस पद्य परसे २३४वें पद्यका विषय और स्पष्ट होजाता है

---

१. मु ज स्वार्थान (ना) ध्यवस्यति। २. मु रज्यते।

और वह यह कि मुक्तिको प्राप्त आत्मा अभावरूप नहीं होता, न चैतन्यगुणसे शून्य होता है और न उसका चैतन्य अनर्थक ही होता है, वह तो अपने स्वभावमें स्थित हुआ ज्ञानादि-गुणोंसे सदा युक्त एवं विशिष्ट रहता है और त्रिकाल-विषयोंको जानते—देखते रहने तथा अपने उक्त सुखका अनुभव करते रहनेसे उसका चैतन्य कभी अनर्थक नहीं होता—सदा सार्थक बना रहता है।

मोक्षसुख-विषयक शंका-समाधान

ननु चाऽक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखम् ॥२४०॥
इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाऽद्यापि वत्स ! त्वं वेत्सि स्वरूपं सुख-दुःखयोः ॥२४१॥

'यहाँ कोई शिष्य पूछता है कि 'सुख तो इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषयोंको भोगनेवालेके होता है, इन्द्रियोंसे रहित मुक्तजीवोंके वह सुख कैसा ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—हे वत्स ! तू जो मोहसे ऐसा मानता है वह तेरी मान्यता ठीक अथवा कल्याणकारी नहीं है; क्योंकि तूने अभीतक (वास्तवमें) सुख-दुःखके स्वरूपको ही नहीं समझा है—इसीसे सांसारिक सुखको, जो वस्तुतः दुःखरूप है, सुख मान रहा है।'

व्याख्या—पिछले एक पद्यमें जिस अतीन्द्रिय सुखके अनुभवनको बात कही गई है उसके विषयमें यहाँ जो शंका उठाई गई है वह बहुत कुछ स्पष्ट है। उत्तरमें आचार्यने शिष्यसे इतना ही कहा है कि यह तेरा मोह है जिसके कारण तू इन्द्रियों-द्वारा गृहीतविषयोंके उपभोक्ताके ही सुखका होना मानता है, मालूम

होता है तुझे अभी तक सुख-दुःखके वास्तविक स्वरूपका पता नहीं है।

अब आचार्यमहोदय सुखके मोक्षसुख और सांसारिक-सुख ऐसे दो भेद करते हुए उस सुख-दुःखके वास्तविक स्वरूपको बतलाते हैं :—

मोक्ष-सुख-लक्षण

आत्माऽऽयत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम् ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥२४२॥

'**जो घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ है, स्वात्माधीन है**—किसी दूसरेके आश्रित नहीं—, **निराबाध है**—जिसमें कभी कोई प्रकारकी बाधा उत्पन्न नहीं होती—, **अतीन्द्रिय है**—इन्द्रियों-द्वारा ग्राह्य नहीं—**और अनश्वर है**—कभी नाशको प्राप्त नहीं होता—**उसको 'मोक्षसुख' कहते हैं।**'

व्याख्या—यहाँ, सच्चे सुखका विवेक कराते हुए, मोक्ष-सुखका जो स्वरूप दिया है वह बहुत कुछ स्पष्ट है। घातियाकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय हैं, जिनकी क्रमशः ५, ९, २८, ५ उत्तरप्रकृतियाँ हैं और उत्तरोत्तर-प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इन सब कर्म-प्रकृतियोंका मूलोच्छेद होने पर आत्माके जो अनन्तज्ञानादि चार महान् गुण प्रादुर्भूत होते हैं, उन्हींमें अनन्त-सुख नामका गुण भी है जो स्वाधीन है—स्वात्मासे भिन्न किसी भी इन्द्रियादि दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं रखता—और विना किसी विघ्न-बाधाके सदा स्थिर रहता है। यही घातियाकर्मोंके क्षय-से उत्पन्न हुआ अनन्तसुख मोक्षसुख कहलाता है। इस सुखका '**आत्मायत्त**' विशेषण सर्वोपरिमुख्य है, शेष सब विशेषण इसी एक विशेषणके स्पष्टीकरण-रूपमें हैं। जो सुख स्वात्माधीन न होकर पराधीन है वह वस्तुतः सुख न होकर दुःख ही है। इसीसे

सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण स्वाधीन और पराधीनकी दृष्टि पर ही अवलम्बित रहता है, जिसकी सूचना श्रीअमितगति-आचार्यने भी अपने 'योगसारप्राभृत' में निम्न वाक्य-द्वारा की है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
वदन्तीति समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥६-१२॥

लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'। अतः जो स्वात्माधीन सुख है वही वस्तुतः सुख है और उसीका नाम मोक्षसुख इसलिये कहा गया है कि वह घातिया-कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होने पर ही प्रादुर्भूत होता है।

सांसारिक सुखका लक्षण

यत्तु सांसारिकं[1] सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्व-पर-द्रव्य-संभूतं तृष्णा-सन्ताप-कारणम् ॥२४३॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभ-निबन्धनम् ।
दुःख-कारण-बन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥

'**और जो रागात्मक सांसारिक सुख है वह अशाश्वत है**—स्थिर रहनेवाला नहीं—,**स्वद्रव्य और परद्रव्यसे** (मिलकर) **उत्पन्न हुआ है**—इसीलिये स्वाधीन नहीं—,**तृष्णा तथा सन्तापका कारण है, मोह-द्रोह और क्रोध-मान-माया-लोभका साधन है और दुःखके कारण बन्धका हेतु है, इसलिये** (वस्तुतः) **दुःखरूप ही है।**'

व्याख्या—यहाँ दूसरे इन्द्रियजन्य सांसारिक-सुखका जो स्वरूप दिया है वह पराधीन, बाधा-सहित, नश्वर और घातिया-

1. मु संसारिकं ।

कर्मोंके प्रभावको लिये हुए होनेसे मोक्षसुखके विपरीत है। उसे दुःखके हेतुभूत बन्धका कारण होनेसे वस्तुतः दुःखरूप ही बतलाया है। इस विषयमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके प्रवचनसारकी 'सपरं बाधा-सहियं' इत्यादि गाथा भी ध्यानमें लेने योग्य है, जिसे चौथे पद्यकी व्याख्यामें पाद-टिप्पणी (फुट नोट) द्वारा उद्धृत किया जा चुका है।

इन्द्रिय-विषयोंसे सुख मानना मोहका माहात्म्य

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत्सुखम्।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृम्भितम् ॥२४५॥

'**इन्द्रिय-विषयोंसे भी जो सुख माना जाता है वह मोहका ही माहात्म्य है**—जो विषयोंसे सुख मानता है समझना चाहिये वह मोहसे अभिभूत है। (जैसे) **पटोल** (कटु वस्तु) **भी जिसे मधुर मालूम होती है तो वह उसके श्लेष्मा** (कफ) **का माहात्म्य है**—समझना चाहिये उसके शरीरमें कफ बढ़ा हुआ है।

व्याख्या—पिछले एक पद्य (२४१)में शिष्यकी जिस मान्यताको मोह बतलाया गया था उसीको यहाँ एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार पटोल (पडवल पत्र) जैसी कड़वी वस्तु भी यदि किसीको मधुर मालूम होती है तो वह उसके कफाधिक्यका माहात्म्य है उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयोंमें भी जो वास्तविक सुख मानता है तो वह उसके मोहका ही माहात्म्य है, जिसने उसके विवेकको विकृत कर रक्खा है।

यहाँ इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली किसी सन्तकी एक दूसरी उक्ति भी ध्यानमें लेने योग्य है, जो इस प्रकार है:—

सर्प-डसो तब जानिये जब रुचिकर नीम चबाय।
कर्म-डसो तब जानिये जब जैन-बैन न सुहाय॥

इसमें यह भाव दर्शाया है कि जिस प्रकार किसी मनुष्यको कोई विषधर सर्प काट लेता है तो वह निम्बवृक्षके कड़वे पत्तोंको भी रुचिसे चबाने लगता है—उसे वे पत्ते कड़वे मालूम न होकर मधुर जान पड़ते हैं—और उसका यह रुचिसे नीम चबाना इस बातका प्रमाण होता है कि उसे अवश्य ही सर्पने डसा है, किसी दूसरे जन्तुने नहीं। उसी प्रकार जिस मानवको जैन-सन्तोंका इन्द्रिय-विषयोंमें सुखका निषेधक वचन अच्छा मालूम नहीं होता और वह उसके विपरीत विषय-सुखको ही सुख समझता है तो समझना चाहिये कि वह महामोहरूप कर्म-विषधरका डसा है, जिससे उसका विवेक ठीक काम नहीं करता।

मुक्तात्माओंके सुखकी तुलनामें चक्रियों-देवोंका सुख नगण्य

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम्।
कलयाऽपि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥२४६॥

'जो सुख यहाँ—इस लोकमें—चक्रवर्तियोंको प्राप्त है और जो सुख स्वर्गमें देवोंको प्राप्त है वह परमात्माओंके सुखकी एक कलाके—बहुत ही छोटे अंशके—भी बराबर नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिको प्राप्त परमात्माके सुखकी ऊँचे से ऊँचे सांसारिक सुखके साथ तुलना करते हुए यह घोषित किया गया है कि जो सुख चक्रवर्तियों तथा स्वर्गोंके देवोंको प्राप्त है, वह मुक्तात्माओंके सुखके एक छोटेसे अंशकी भी बराबरी नहीं कर सकता और इस तरह मुक्तात्माओंके सुख-माहात्म्यको यहाँ और विशेषरूपसे ख्यापित किया गया है।

मुक्तात्माओंका 'परमात्मा' रूपमें जो उल्लेख यहाँ किया गया है वह जैन-शासनकी अपनी विशेषता है; क्योंकि जैन-शासनमें एकेश्वरवादियोंकी तरह किसी एक व्यक्तिविशेषको ही परमात्मा

नहीं माना गया है। उसकी दृष्टिमें सभी मुक्तजीव परमात्मा हैं—चाहे वे जीवन्मुक्त हों या विदेहमुक्त। जीवन्मुक्तोंको शरीर-सहित होनेके कारण सकल-परमात्मा और विदेहमुक्तोंको शरीर-रहित होनेके कारण निष्कल-परमात्मा कहते हैं। इससे परमात्मा एक नहीं किन्तु अनेक हैं, यही '**परमात्मनाम्**' पदके बहुवचनात्मक प्रयोगका आशय है।

पुरुषार्थोंमें उत्तम मोक्ष और उसका अधिकारी स्याद्वादी

अतएवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते।
[1]स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्म-विद्विषाम्॥२४७॥

'इसी लिये सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष उत्तमपुरुषार्थ माना जाता है। और वह मोक्ष स्याद्वादियोंके-अनेकान्तमतानुयायियोंके-ही बनता है, दूसरे एकान्तवादियोंके नहीं, जो कि अपने शत्रु आप हैं।'

व्याख्या—चूँकि मोक्षसुखकी तुलनामें संसारका बड़े से बड़ा सुख भी नगण्य है इसी लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्षपुरुषार्थको उत्तम माना गया है। यह मोक्ष-पुरुषार्थ किनके बनता है? कौन इसके स्वामी अथवा अधिकारी हैं? इस शंकाका समाधान करते हुए, यहाँ यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि यह मोक्षपुरुषार्थ स्याद्वादियों-अनेकान्तवादियोंके ही बनता है, एकान्तवादियोंके नहीं—भले ही एकान्तवादी इसके कितने ही गीत क्यों न गावें। यहाँ एकान्तवादियोंको स्वशत्रु बतलाया है जो स्वशत्रु हों उनका परशत्रु होना स्वाभाविक ही है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने एकान्ताग्रह-रक्तोंको स्व-पर-वैरी

---

१. युक्तं स्याद्वादिनां ध्यानं नान्येषां दुर्दृशामिदम्।
(आर्ष २१-२५८)

बतलाया है और यह स्पष्ट घोषणा की है कि उनके कुशल (सुख-हेतुक), अकुशल (दुःखहेतुक) कर्म और लोक-परलोकादिककी कोई व्यवस्था नहीं बनती[1]। इस विषयमें 'स्व-पर वैरी कौन ?' नामक निबन्ध जो 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण १ में तथा 'समन्त-भद्र-विचार-दीपिका' में प्रकट हुआ है, खास तौरसे देखने योग्य[2] है।

यहाँ पर इतना और जान लेना चाहिये कि स्याद्वादी उन्हें कहते हैं जो स्याद्वाद न्यायके अनुयायी हैं अथवा 'स्यात्' शब्दकी अर्थ-दृष्टिको लेकर वस्तु-तत्वका कथन करनेवाले हैं। 'स्यात्' शब्द सर्वथारूपसे—सत् ही है, असत् ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूपसे—प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको—जिस प्रकार सत् असत् आदि रूपसे वस्तु प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामें रखनेवाला होता है[3]। इसीसे स्याद्वाद सर्वथा एकान्तका त्यागी होनेसे कथंचिदादि-रूपसे वस्तु-की व्यवस्था करता है अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगात्मक नयोंकी अपेक्षाको साथमें लिये रहता और मुख्य-गौणकी कल्पनासे हेय तथा उपादेयका विशेषक होता है[4]। स्याद्वादको अनेकान्त-वाद भी कहते हैं।

---

१. कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ ! स्व-पर-वैरिषु ॥ देवागम ८

२. 'युगवीर-निबन्धावली'में भी उसे देखा जा सकता है।

३. सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नाऽन्येषामात्मविद्विषाम् ॥ स्वयंभू० १०२

४. स्याद्वादः सर्वथैकान्त-त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ॥
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ —देवागम १०४

एकान्तवादियोंके बन्धादि-चतुष्टय नहीं बनता

यद्वा बन्धश्च मोक्षश्च तद्धेतू[1] च चतुष्टयम् ।
नास्त्येवैकान्त-रक्तानां तद्व्यापकमनिच्छताम् ॥२४८॥

'अथवा बन्ध और मोक्ष, बन्धहेतु और मोक्षहेतु यह चतुष्टय —चारोंका समुदाय—उन एकान्त-आसक्तोंके—सर्वथा एकान्त-वादियोंके—**नहीं बनता, जो कि चारोंमें व्याप्त होनेवाले तत्त्वको** (अनेकान्तको) **स्वीकार नहीं करते ।'**

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि सर्वथा एकान्त-वादियोंके केवल मोक्ष ही नहीं, किन्तु बन्ध, बन्धका कारण, मोक्ष और मोक्षका कारण ये चारों ही नहीं बनते; क्योंकि वे इन चारोंमें व्यापक तत्त्व जो 'अनेकान्त' है उसे इष्ट नहीं करते—नहीं मानते। वास्तवमें सारा वस्तु-तत्त्व अनेकान्तात्मक है और इससे वे बन्ध-मोक्षादिक भी अनेकान्तात्मक हैं। इनके आत्मा अनेकान्त-को न माननेसे इनका कोई अस्तित्व नहीं बनता। इसी बातको आगेके पद्योंमें स्पष्ट किया गया है।

इस अवसर पर इतना और जान लेना चाहिये कि स्वामी समन्तभद्रने इन चारोंका ही नहीं, किन्तु इनसे सम्बद्ध बद्धात्मा, मुक्तात्मा और मुक्तिफलके अस्तित्त्वका भी स्याद्वादियों (अनेकान्तवादियों) के ही विधान करते हुए एकान्तवादियोंके उन सबके अस्तित्वका निषेध किया है, जैसा—कि उनके स्वयम्भू-स्तोत्र-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४

इससे स्पष्ट है कि जो सर्वथा एकान्तवादी हैं—सर्वथा भाव,

---

१. ज तद्धेत च ।

अभाव, नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि एकान्त-पक्षोंको लिए हुए हैं—उनके बन्ध-मोक्षादिकी कथनी वस्तुतः बनती नहीं अथवा ठीक नहीं बैठती—भले ही वे उसके कितने ही गीत क्यों न गाया करें।

बन्धादि-चतुष्टयके न बननेका सहेतुक स्पष्टीकरण

अनेकान्तात्मकत्वेन व्याप्तावत्र[1] क्रमाऽक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयाऽस्तित्वं चतुष्टये ॥२४९॥
मूल-व्याप्तुर्निवृत्तौ तु क्रमाऽक्रम-निवृत्तितः।
क्रिया-कारकयोर्भ्रंशान्न स्यादेतच्चतुष्टयम् ॥२५०॥
ततो व्याप्ता समस्तस्य प्रसिद्धश्च प्रमाणतः।
चतुष्टय-सदिच्छद्भिरनेकान्तोऽनुगम्यताम्[2] ॥२५१॥

'इस चतुष्टयमें अनेकान्तात्मकत्वके साथ क्रम और अक्रम व्याप्त हैं, क्रम और अक्रमके साथ अर्थक्रिया व्याप्त है और अर्थक्रियाके साथ चतुष्टयका अस्तित्व व्याप्त है। मूल व्याप्ता अनेकान्तकी निवृत्ति होनेपर क्रम-अक्रम नहीं बनते, क्रम-अक्रमके न बननेसे अर्थक्रिया नहीं बनती और अर्थक्रियाके न बननेसे यह (बन्ध-मोक्ष और उभय हेतुरूप) चतुष्टय नहीं बनता। अतः उक्त चतुष्टयके अस्तित्वकी इच्छा रखनेवालोंको सारे चतुष्टयका जो व्याप्ता और प्रमाणसे प्रसिद्ध 'अनेकान्त' है उसका सविवेक-ग्रहण-पूर्वक अनुसरण करना चाहिये।

व्याख्या—पिछले पद्यमें सर्वथा एकान्तवादियोंके बन्धादि-चतुष्टयके न बननेकी जो बात कही गई है वह क्यों नहीं बनती, उसीको यहाँ प्रथम दो पद्योंमें स्पष्ट किया गया है और फिर

---

१. ज व्याप्त्या चात्र। सि जु व्याप्तावेतौ। २. मु मे ज ज ऽवगम्यताम्।

तीसरे पद्यमें यह कहा गया है कि जो बन्धादि-चतुष्टयके अस्तित्वको अपने मतमें बनाये रखना चाहते हैं उन्हें अनेकान्तको समझ-बूझकर अपनाना चाहिये, जो कि चतुष्टयके प्रत्येक अंगमें व्याप्त है और प्रमाणसे भी प्रसिद्ध है।

किसी भी वस्तुका वस्तुत्व उसकी अर्थक्रियाके विना नहीं बनता। यदि अर्थक्रिया होती है तो उसमें क्रम-अक्रमका होना अवश्यंभावी है; क्योंकि वस्तु गुण-पर्यायरूप है ('गुणपर्ययवद्द्रव्यं') जिसमें गुण सदा सहभावी एवं सर्वांगव्यापी होनेसे अक्रम (युगपत्) रूपसे रहते हैं और पर्यायें क्रमवर्तिनी होती हैं। इसीसे अर्थक्रिया क्रम-अक्रम उभय रूपको लिये रहती है—पर्यायों या विशेषोंकी दृष्टिसे वह क्रमरूप और गुणों या द्रव्य-सामान्यकी दृष्टिसे अक्रम (यौगपद्य) रूप कही जाती है। जो लोग वस्तुतत्त्वको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक (अनित्य) आदि एकान्तरूप मानते हैं उनके मतमें यह क्रम-अक्रम तथा बन्ध-मोक्षकी बात नहीं बनती। सर्वथा नित्यत्वका एकान्त मानने पर वस्तुमें किसी प्रकारकी विक्रिया ही घटित नहीं होती—कोई प्रकारका परिणमन ही नहीं बनता—वह सदा कूटस्थवत् एक रूपमें ही स्थिर रहती है और कर्त्ता-कर्म-करणादि कारकोंका पहले ही अभाव होता है[1]। क्योंकि जब सब कुछ सर्वथा नित्य है; किसीका बनना, बिगड़ना, करना, कराना, उत्पन्न होना आदि कुछ नहीं; तब कारकोंकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? ऐसी स्थितिमें किसी जीवके पुण्य-पाप क्रिया, क्रियाका फल, जन्मान्तर, सुख-दुःख

---

१. "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्॥" —देवागम ३७

"भावेषु नित्येषु विकार-हानेर्न कारक-व्यापृत-कार्ययुक्तिः।
न बन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयं॥"
—युक्त्यनुशासन ८

और बन्ध-मोक्षकी बात कैसे बन सकती है[१] ? नहीं बन सकती। बन्धको यदि सर्वथा नित्य माना जाय तो वह कारणजन्य नहीं ठहरता, इससे बन्धहेतु नहीं बनता तथा बन्धके अभावरूप मोक्ष नहीं बन सकता और मोक्षको सर्वथा नित्य मानने पर मोक्षहेतु नहीं बनता और न उसको बन्धपूर्वक कोई व्यवस्था ठीक बैठती है। एक ही जीवके बन्ध भी सर्वथा नित्य और मोक्ष भी सर्वथा नित्य ये दोनों विरोधी बातें घटित नहीं हो सकतीं, और इसलिये बन्धादि-चतुष्टयकी बात उनके मतमें किसी तरह भी संगत नहीं कही जा सकती।

क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप अनित्यत्वका एकान्त माननेवालोंके भी किसी जीवके स्वकृत कर्मके फलस्वरूप सुख-दुःख, जन्मान्तर और बन्ध-मोक्षादिकी बात नहीं बनती। इस मान्यतामें प्रत्यभिज्ञान, स्मृति और अनुमान जैसे ज्ञानोंका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ भी नहीं बनता, फलकी बात तो दूर रही[२]। और कार्यको सर्वथा असत् माना जानेसे—उपादानकारणमें भी उसका कथंचित् अस्तित्व स्वीकार न किया जानेसे—कार्यकी उत्पत्ति आकाशके पुष्पसमान नहीं बनती, उपादान कारणका कोई नियम नहीं रहता और इसलिये गेहूँ बोयेंगे तो गेहूँ ही उत्पन्न होंगे ऐसा कोई आश्वासन नहीं बनता—सर्वथा असत्का उत्पाद होनेसे गेहूँके स्थान पर चना आदि किसी दूसरे अन्नादिका

---

१. पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बन्ध-मोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नाऽसि नायकः॥

—देवागम ४०

२. क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्॥

—देवागम ४१

उत्पाद भी हो सकता है[1]। ऐसी स्थितिमें उक्त बन्धादि-चतुष्टयकी कोई बात ठीक नहीं बैठती। एक ही क्षणवर्ती जीवके बन्ध और मोक्ष दोनों घटित नहीं हो सकते[2]।

अद्वैत-एकान्तपक्षकी मान्यतामें शुभाशुभकर्मद्वैत, सुख-दुःख-फलद्वैत और लोक-परलोकद्वैतकी तरह बन्ध-मोक्षका द्वैत भी नहीं बनता। तब बन्ध-मोक्षके हेतुओंका द्वैत तो स्वतः ही रद्द हो जाता है। किसी भी प्रकारके द्वैतको स्वीकार करनेसे अद्वैत एकान्तको बाधा पहुँचती है। इसी तरह सर्वथा पृथक्त्वादि दूसरे एकान्त-पक्षोंमें भी बन्धादि-चतुष्टयके न बन सकनेकी बातको भले प्रकार समझा जा सकता है। इसके लिये तथा प्रकृतविषय-को विशेष जानकारीके लिये स्वामी-समन्तभद्रके देवागम और उसके अष्टसहस्री आदि टीकाग्रन्थों तथा युक्त्यनुशासन जैसे ग्रन्थोंको देखना चाहिये। यहाँ पर ग्रन्थकारमहोदयने जो कुछ संक्षेपमें कहा है वह बहुत ही जँचा-तुला है।

ग्रन्थमें ध्यानके विस्तृत वर्णनका हेतु

सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्षः स ध्यानपूर्वकः[3]।
इति मत्वा मया किंचिद्ध्यानमेव प्रपंचितम् ॥२५२॥

'इस चतुष्टयमें भी जो सारपदार्थ है वह मोक्ष है, और वह ध्यानपूर्वक प्राप्त होता है—ध्यानाराधनाके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती—यह मानकर मेरे द्वारा ध्यान-विषय ही थोड़ा प्रपंचित हुआ अथवा कुछ स्पष्ट किया गया है।'

१. यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माऽजनि खपुष्पवत्।
सोपादान-नियमोभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥—देवागम ४२

२. न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ। —युक्त्यनु० १५

३. मु अ सद्ध्यानपूर्वकः।

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि जिस बन्धादि-चतुष्टयका पिछले चार पद्योंमें उल्लेख है उसमें भी मोक्ष पदार्थ सारभूत है—अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टयमें ही वह उत्तम अथवा सारभूत नहीं, किन्तु इस चतुष्टयमें भी वह उत्तम एवं सारभूत है। साथ ही यह सूचना की गई है कि चूँकि मोक्षकी प्राप्ति ध्यानपूर्वक होती है—विना ध्यानके वह नहीं बनती—इसलिये ध्यानके विषयको ही यहाँ थोड़ेसे विस्तार-द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध-विच्छेदरूप अभावका नाम मोक्ष है। कर्मोंका यह अभाव अथवा विश्लेषण ध्यानाग्निसे उन्हें जलानेके द्वारा बनता है। पवनसे प्रज्वलित हुई अग्नि जिस प्रकार चिरसंचित ईंधन (तृण-काष्ठादिके समूह) को शीघ्र भस्म कर देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि भी चिरसंचित अपार कर्म-राशिको क्षण भरमें भस्म करनेके लिये समर्थ होती है[1]। अथवा जिस प्रकार सारे शरीरमें व्याप्त हुआ विष मंत्र-शक्तिसे खींचा जाकर दूर किया जाता है, उसी प्रकार सारे आत्म-प्रदेशोंमें व्याप्त हुआ कर्मरूपी विष ध्यान-शक्तिसे खींचा जाकर नष्ट किया जाता है[2]। ध्यानाग्निके विना योगी कर्मोंको जलाने या विदीर्ण करनेमें उसी प्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार नख और दाढ़से रहित सिंह गजेन्द्रोंका विदारण करनेमें असमर्थ होता है[3]। जो साधु विना ध्यानके कर्मों को क्षय करना चाहता है उसकी स्थिति

---

१. जह चिर संचियमिंधणमणलो पवनसहियो दुयं दहइ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ॥ (ध्यानशतक)

२. सर्वाङ्गीणं विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृष्यते।
तद्वत्कर्मविषं कृत्स्नं ध्यानशक्त्याऽपसार्यते॥ (आर्ष २१-२१३)

३. झाणेण विणा जोई असमत्थो होइ कम्मणिड्डहणे।
दाढा-णहर-विहीणो जह सीहो वर-गयंदाणं॥ (ज्ञानसार)

देवसेनाचार्यने उस पदविहीन पंगु-मनुष्य-जैसी बतलाई है जो मेरु-शिखर पर चढ़ना चाहता है[1]। इससे स्पष्ट है कि बिना ध्यानके दुःखहेतुक-कर्मोंसे छुटकारा अथवा मोक्ष नहीं बनता और इसीसे उसे यहाँ ध्यानपूर्वक तथा अन्यत्र (प० ३३ में) निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके मोक्षमार्गकी प्राप्तिका आधार बतलाया है और यही ध्यानके विषयको इस ग्रन्थमें प्रपंचित करने-का प्रधान हेतु है।

ध्यानविषयकी गुरुता और अपनी लघुता

यद्यप्यत्यन्त-गम्भीरमभूमिर्मादृशामिदम्।
प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यान-भक्ति-प्रचोदितः॥२५३॥

'यद्यपि यह ध्यान-विषय अत्यन्त गम्भीर है और मेरे जैसों-की यथेष्ट पहुँचसे बाहरकी वस्तु है, तो भी ध्यान-भक्तिसे प्रेरित हुआ मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ।'

व्याख्या—यहाँ आचार्यमहोदयने ध्यान विषयकी गुरुता-गम्भीरता और अपनी लघुताका ज्ञापन करते हुए अपनी ध्यान-भक्तिको ही इस ध्यान-विषयके प्रपंचनमें प्रधान कारण बतलाया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकारमहोदय ध्यान और उस-की शक्तियोंके विषयमें सच्ची श्रद्धा-भक्ति रखते थे। वही इस ग्रन्थके निर्माणमें मुख्यतः प्रेरक हुई है।

रचनामें स्खलनके लिये श्रुतदेवतासे क्षमा-याचना

यदत्र स्खलितं किंचिच्छाद्मस्थ्यादर्थ-शब्दयोः।
तन्मे भक्तिप्रधानस्य क्षमतां श्रुतदेवता[2] ॥२५४॥

---

१. चलण-रहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरुसिहरमारुहिउं।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू॥ (तत्त्वसार)

२. ज श्रुतदेवताः।

'इस रचनामें छद्मस्थताके कारण अर्थ तथा शब्दोंके प्रयोगमें जो कुछ स्खलन हुआ हो या त्रुटि रही हो उसके लिये श्रुत-देवता मुझ भक्तिप्रधानको क्षमा करें।'

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकारमहोदय, अपनेको भक्ति-प्रधान बतलाते हुए, अपनी उस थोड़ी सी भी त्रुटि अथवा भूलके लिये श्रुतदेवतासे क्षमा-याचना करते हैं जो छद्मस्थता–असर्वज्ञताके कारण इस ग्रन्थमें अर्थों तथा शब्दोंके विन्यासमें हुई हो। इससे ग्रन्थ-रचनामें अहंकारके त्यागपूर्वक विनम्रताका ज्ञापन होता है।

यहाँ श्रुतदेवताका अभिप्राय उस सरस्वतीदेवी जिनवाणी-से है जो श्रीअर्हज्जिनेन्द्रके मुख-कमलमें वास करती है और जिस-से उस श्रुतकी सम्यक् उत्पत्ति होती है जो पापोंका नाश करने-वाला है, जैसा कि 'पापभक्षिणी-विद्या' के मंत्र '**ॐ अर्हन्मुख-कमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन०**' जैसे पदोंसे प्रकट है। अतः श्रुतविषयक भूलों एवं त्रुटियोंके लिये, जो कभी-कभी भक्तोंसे अल्पज्ञतावश हो जाया करती हैं, उस श्रुतके अधिष्ठातृदेवसे क्षमा-याचना करना शिष्टजनोंके लिए न्यायप्राप्त है और ऐसे विनम्रशील भक्तजन अपनी भूल तथा गलतीके लिए क्षमाके पात्र होते ही हैं। इसी बातको '**मे भक्तिप्रधानस्य**' पदोंके प्रयोग-द्वारा सूचित किया गया है।

भव्यजीवोंको आशीर्वाद

वस्तु-याथात्म्य-विज्ञान-श्रद्धान-ध्यान-सम्पदः।
भवन्तु भव्य-सत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये ॥२५५॥

'वस्तुओंके याथात्म्य (तत्त्व) का विज्ञान, श्रद्धान और ध्यान-

रूप सम्पदाएँ भव्य-जीवोंको अपनी स्वस्वरूपोपलब्धिके लिए कारणीभूत होवें।'

व्याख्या—यहाँ आचार्यमहोदयने जो आशीर्वाद दिया है वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है—इससे अधिक महत्वका आशीर्वाद और क्या हो सकता है? इसमें कहा गया है कि भव्यजीवोंको वस्तुओं-के यथार्थविज्ञानकी, यथार्थश्रद्धानकी और यथार्थध्यानकी सम्पत्ति प्राप्त होवे और ये तीनों सम्पत्तियाँ उनकी स्वरूपोपलब्धि (मोक्षप्राप्ति) में सहायक बनें। स्वस्वरूपकी उपलब्धि ही सबसे बड़ा लाभ है। वह जिन तीन प्रधान कारणों-द्वारा सिद्ध होता है उनके उल्लेखपूर्वक यहाँ भव्यजीवोंको उसी लाभसे लाभान्वित होनेकी उत्कट भावना करते हुए उन्हें तदनुरूप आशीर्वाद दिया गया है।

ग्रन्थकार-प्रशस्ति

श्रीवीरचन्द्र-शुभदेव-महेन्द्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेन-[1]मुनिरुद्ध-चरित्रकीर्तिः ॥२५६॥
तेन [2]प्रबुद्ध-धिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूतम्।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
[3]श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटार्थम् ॥२५७॥

'जिसके श्रीमान् वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव

---

१. मु मुनिरुद्ध। २. मु प्रवृद्ध; सि जु प्रसिद्ध। ३. मु मे श्री नागसेन।

शास्त्रगुरु (विद्यागुरु) हैं, पुण्यमूर्ति और ऊँचे दर्जेके चरित्र तथा कीर्तिको प्राप्त श्रीमान् नागसेन जिसके दीक्षागुरु हुए हैं उस प्रबुद्धबुद्धि श्रीरामसेन विद्वान्ने, गुरुवोंके उपदेशको पाकर, इस सिद्धि-सुख-सम्पतके उपायभूत तत्त्वानुशासन-शास्त्रको, जो कि स्पष्ट अर्थसे युक्त है, जगतके हितके लिये रचना की है।'

व्याख्या—इन प्रशस्ति-पद्योंमें ग्रन्थकारमहोदय श्रीरामसेन-ने अपने शास्त्रगुरुवों और दीक्षागुरुका नामोल्लेख किया है और अपने द्वारा इस ग्रन्थके रचे जानेकी सूचना की है। चारों शास्त्र-गुरुवोंके नामोल्लेखमें किसीभी नामके साथ किसी खास विशेषण पदका प्रयोग नहीं किया गया, जिससे यह मालूम होता कि वे अमुक शास्त्रके विशेषज्ञ थे अथवा अमुक संघ या गण-गच्छसे सम्बन्ध रखते थे। दीक्षागुरुके नामके साथ दो विशेषण-पदोंका प्रयोग किया गया है—एक '**पुण्यमूर्ति:**' और दूसरा '**उद्यचरित्र-कीर्ति:**'—,जिनसे मालूम होता है कि नागसेनाचार्य पुण्यात्मा और ऊँचे दर्जेके चरित्रवान् तथा कीर्तिमान् थे। अपने लिये दो साधारण विशेषण पदोंका प्रयोग किया है—एक '**प्रबुद्धधिषणेन**' और दूसरा '**विदुषा**', जो यथार्थ जान पड़ते हैं। '**गुरूपदेशमासाद्य**' पदका सम्बन्ध '**प्रबुद्धधिषणेन**' और '**व्यरचि**' दोनों पदोंके साथ लगाया जा सकता है। प्रथम पदके साथ उसे सम्बन्धित करनेसे यह अर्थ होता है कि श्रीरामसेन अपने गुरुवोंके उपदेशको पाकर बुद्धिके विकासको प्राप्त हुए थे, जो कि ग्रन्थ परसे स्पष्ट है; और दूसरे पदके साथ सम्बन्धित करने पर यह अर्थ होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ उन्होंने अपने दीक्षागुरु अथवा किसी दूसरे गुरु या गुरुवोंके उपदेश एवं उनकी प्रेरणासे रचा है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थके दो विशेषण दिये हैं—एक '**सिद्धिसुखसम्पदुपायभूतं**' दूसरा '**स्फुटार्थम्**'। पहला विशेषण बडा ही महत्वपूर्ण है और वह ग्रन्थ-के प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे बहुत ही अनुरूप एवं यथार्थ जान

पड़ता है। दूसरा विशेषण ग्रन्थकी शब्द-रचनासे सम्बन्ध रखता है, और वह कठिन गूढ़ शब्दोंके प्रयोगसे रहित अर्थकी स्पष्टता-को लिये हुए है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'जगतो हिताय' पद ग्रन्थ-निर्माणके उद्देश्यको व्यक्त करता है, जो कि जगतका हित-साधन है और यह ग्रन्थके पद-पद परसे व्यक्त होता है। सारा ग्रन्थ जगतके हितको चिन्ता और उसमें अपना ज्ञान उँडेल देनेकी सद्भावनाको लिये हुए है। इस तरह प्रत्येक विशेषणादि-पद जँचा-तुला एवं अतिशयोक्तिसे रहित मालूम होता है और ऐसा होना ग्रन्थ और ग्रन्थकारकी बहुत बड़ी प्रामाणिकताका द्योतक है।

अन्त्य-मंगल[1]

जिनेन्द्राः सद्ध्यान-ज्वलन-हुत-घाति-प्रकृतयः
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहत-तमसः सिद्धि-निलयाः।
सदाऽऽचार्या वर्याः सकल-सदुपाध्याय-मुनयः
पुनन्तु स्वान्तं नस्त्रिजगदधिकाः पंचगुरवः॥२५८॥

'वे अर्हज्जिनेन्द्र, जिन्होंने प्रशस्त ध्यानाग्निके द्वारा घातिया-कर्मोंकी प्रकृतियोंको भस्म किया है; वे प्रसिद्ध सिद्ध, जिन्होंने (विभावरूप) अन्धकारका पूर्णतः विनाश किया है तथा जो (स्वात्मोपलब्धि-रूप) सिद्धिके निवास-स्थान हैं; वे श्रेष्ठ आचार्य और वे सब प्रशंसनीय उपाध्याय तथा मुनि–साधु, जो तीन लोकके सर्वोपरि गुरु पंचपरमेष्ठी हैं, वे हमारे अन्तःकरणको सदा पवित्र करें—उनके चिन्तन एवं ध्यानसे हमारा हृदय पवित्र हो।'

व्याख्या—यहाँ अन्त्य-मंगलके रूपमें पंच गुरुवोंका स्मरण

---

१. अन्त्यमंगलके दोनों पद्य सि जु प्रतियोंमें नहीं हैं।

करके यह प्रार्थना अथवा भावना की गई है कि ये पंच गुरु हमारे चित्तको पवित्र करें—उनके चिन्तन, ध्यान एवं सान्निध्यसे हमारा हृदय पवित्र होवे। जो स्वयं पवित्र होते हैं, वे ही अपने सम्पर्क-द्वारा दूसरोंके हृदयको विना इच्छा एवं प्रयत्नके भी पवित्र करनेमें समर्थ होते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोषोंको शान्त करके आत्मामें शान्ति स्थापित करनेवाले महात्माजन शरणागतोंके लिये शान्तिके विधाता होते हैं[1]। जिन पंच गुरुवोंका यहाँ स्मरण किया गया है वे ऐसे ही पवित्रताकी मूर्ति महात्मा हैं, जिनके नाम-स्मरणमात्रसे हृदयमें पवित्रताका संचार होने लगता है, फिर सचाईके साथ ध्यानादि-द्वारा सम्पर्क-स्थापनकी तो बात ही दूसरी है, वह जितना यथार्थ एवं गाढ होगा उतना और वैसा ही उससे पवित्रताका संचार हो सकेगा।

'पंचगुरवः' पदका अभिप्राय यहाँ केवल पाँचकी संख्या-प्रमाण गुरुव्यक्तियोंका नहीं है, किन्तु पाँच प्रकारके गुरुवोंका वह वाचक है, जिन्हें 'पंचपरमेष्ठी' कहते हैं। जैसा कि ग्रन्थमें अन्यत्र 'तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः' (११९), 'तत्सर्वं ध्यातमेव स्याद्ध्यातेषु परमेष्ठिसु' (१४०) जैसे वाक्योंसे व्यक्त है, और वे अर्हन्त (जिनेन्द्र), सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुपदोंके वस्तुतः अधिकारी हैं, जिनमेंसे प्रत्येककी संख्या अनेकानेक है। इसीसे प्रत्येकका उल्लेख बहुवचनान्त-पदोंके द्वारा किया गया है। और इसीलिये उक्तपदका आशय ग्रन्थकारके उन पाँच गुरुवोंका नहीं है जिनका प्रशस्तिमें 'शास्त्रगुरु' तथा 'दीक्षागुरु'के रूपमें नामोल्लेख है। हाँ, आचार्य, उपाध्याय तथा

---

१. स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानां।
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

मुनिके रूपमें श्लेष-द्वारा उनका भी समावेश उसमें किया जा सकता है। इस विषयमें 'त्रिजगदम्बिकाः' यह विशेषणपद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है, जो प्रस्तुत गुरुवोंकी सारे विश्वमें उच्चस्थितिका द्योतक है। इस विशेषणसे वे अपने-अपने पदकी पूर्णताको प्राप्त होने चाहियें, तभी उनका ग्रहण यहाँ हो सकेगा।

जिन जिनेन्द्रादि-गुरुवोंका इस पद्यमें स्मरण किया गया है, उनके अन्य विशेषणपद भी खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं, जो उनका तन्नामधारी पदाधिकारियोंसे पृथक् बोध कराते हैं। जिनेन्द्रों—अर्हन्तोंका एक ही विशेषण दिया गया है और वह है 'प्रशस्त-ध्यानाग्नि-द्वारा घातियाकर्मोंकी प्रकृतियोंको भस्म करनेवाले।' घातियाकर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय—जिनकी आगमोक्त उत्तर-प्रकृतियाँ क्रमशः ५, ९, २८, ५ हैं और उत्तरोत्तर-प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इन चारों घातिया-कर्मप्रकृतियोंका उत्तरोत्तर-प्रकृतियों-सहित पूर्णतः विनाश हो जाने पर आत्मामें अनन्त-ज्ञानादि-चतुष्टय-गुणोंकी प्रादुर्भूति होती है और जिसके यह प्रादुर्भूति होती है वही वास्तवमें सर्वज्ञ होता है; जैसाकि ग्रन्थके द्वितीय पद्यमें प्रकट किया गया है। 'जिन' तथा 'अर्हन्' नामके धारक कुछ दूसरे भी हुए हैं; परन्तु वे घातिकर्म-चतुष्टयको भस्म कर अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयको प्राप्त करनेवाले नहीं हुए। अतः इस विशेषणपदसे उनका पृथक्करण हो जाता है।

सिद्धोंके तीन विशेषण दिये गये हैं, जिनमें 'प्रसिद्धाः' विशेषण प्रकर्षतः—पूर्णतः सिद्धत्वका द्योतक है, अपूर्ण तथा अधूरे सिद्ध जो लोकमें विद्या-मंत्र-देवतादि किसी-किसी विषयको लेकर 'सिद्ध' कहे जाते हैं उनका इस विशेषणसे पृथक्करण हो जाता है।

'प्रहततमसः' विशेषण उस अन्धकारके पूर्णतः विनाशका सूचक है जो कर्मपुद्गलोंके सम्पर्कसे आत्मामें वैभाविक-परिणमनके रूपमें होता है, और इसलिये जिनका वैभाविक-परिणमन सर्वथा विनष्ट हो गया है उन्हीं सिद्धोंका इस विशेषणपदके द्वारा यहाँ ग्रहण है। तीसरा विशेषण 'सिद्धिनिलयाः' उस सिद्धिके निवास-स्थानरूपका वाचक है जो सारे विभाव-परिणमनके अभाव हो जाने पर स्वात्मोपलब्धिके रूपमें प्राप्त होता है। जैसा कि श्री-पूज्यपादाचार्यके 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्' इस वाक्यसे प्रकट है। इन तीनों विशेषणोंसे उन सिद्धोंका स्पष्टीकरण तथा अन्योंसे पृथक्करण हो जाता है जिनका इस पद्यमें ग्रहण है। इसी तरह आचार्योंका 'वर्याः' और उपाध्यायों तथा साधु-मुनियोंका 'सत्' विशेषण उस अर्थका निर्देशक है जिसका ग्रन्थमें 'अन्यत्र (१३०) 'यथोक्तलक्षणाः ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाधवः' इस वाक्यके 'यथोक्तलक्षणाः' पदमें उल्लेख है। इससे आचार्यपरमेष्ठीको आगमोक्त ३६ गुणोंसे सम्पन्न, उपाध्यायपरमेष्ठीको २५ गुणोंसे विशिष्ट और साधु-परमेष्ठीको २८ मूलगुणोंसे पूर्णतः युक्त समझना चाहिये; जैसा कि उक्तवाक्यकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है।

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद् दुग्धाम्बुराशाविव
ज्ञान-ज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवः स्वस्त्रयी।
शब्द-ज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायाऽस्तु नः ॥२५९

इति श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत
सिद्धि-सुखसम्पदुपायभूतं तत्त्वानुशासनं
नाम ध्यान-शास्त्रं समाप्तम्।

'जिसकी देह-ज्योतिमें जगत ऐसे डूबा रहता है जैसे कोई क्षीरसागरमें स्नान कर रहा हो; जिसकी ज्ञान-ज्योतिमें भूः (अधोलोक), भुवः (मध्यलोक) और स्वः (स्वर्गलोक) यह त्रिलोकीरूप ज्ञेय (ओम्[1]) अत्यन्त स्फुटित होता है और जिसकी शब्द-ज्योति (वाणीके प्रकाश) में ये स्वात्मा और परपदार्थ दर्पणकी तरह प्रतिभासित होते हैं, वह देवोंसे पूजित श्रीमान् जिनेन्द्रभगवान् तीनों ज्योतियोंकी प्राप्तिके लिये हमारे सहायक (निमित्तभूत) होवें।'

व्याख्या—यह पद्य भी अन्त्य-मंगलके रूपमें है। इसमें जिनेन्द्र-(अर्हन्तदेव) को तीन ज्योतियोंके रूपमें उल्लेखित किया है—एक देहज्योति, दूसरी ज्ञानज्योति और तीसरी शब्दज्योति। देह-ज्योतिका अभिप्राय उस द्युतिसे है जो केवलज्ञानादिरूप अनन्त-चतुष्टयकी प्रादुर्भूतिके साथ शरीरके परमऔदारिक होते ही प्रभामण्डलके रूपमें सारे शरीरसे निकलती है। उस देहज्योतिमें जगतके मज्जनकी जो बात कही गई है उससे उतना ही जगत ग्रहण करना चाहिये जहाँ तक वह ज्योति प्रसारित होती है, और उसे दुग्धाम्बुराशिकी जो उपमा दी गई है उससे यह स्पष्ट है कि वह दुग्धवर्ण-जैसी शुक्ल होती है। ज्ञानज्योतिका अभिप्राय उस आत्मज्योतिका है जिसमें सारे जगतके सभी चराचर पदार्थ यथावस्थितरूपमें प्रतिबिम्बित होते हैं—कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं रहता। और शब्दज्योतिका तात्पर्य उस दिव्यध्वनिरूप वाणीका है जो ज्ञानज्योतिमें प्रतिबिम्बित हुए पदार्थोंकी दर्पणके

---

१. 'ओम् यह अव्यय-शब्द 'ज्ञेय' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, ऐसा 'शब्दस्तोममहानिधि' कोशकी निम्न उल्लेखसे जाना जाता है और वही यहाँ संगत प्रतीत होता है:—

"ओम्—प्रणवे, आरम्भे, स्वीकारे।..........................

अनुमतौ, अपाकृतौ, अस्वीकारे, मंगले, शुभे, ज्ञेये, ब्रह्मणि च।"

समान यथार्थवाचिका होती है। इस प्रकार त्रिविध-ज्योतिसे युक्त और देवोंसे पूजित अर्हत्परमात्माका स्मरण करके जो प्रार्थना की गई है वह ग्रन्थकारमहोदयकी ज्योतिस्त्रयरूप अर्हत्परमात्मा बननेकी भावनाका द्योतन करती है।

यहाँ भगवज्जिनसेनाचार्य-शिष्य-श्रीगुणभद्राचार्यप्रणीत-उत्तरपुराण-गत-कुन्थुजिन-चरितके अन्तिम मंगलपद्यका स्मरण हो आता है, जो इस प्रकार है:—

देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेऽपि मग्नाः सुराः
ज्ञानज्योतिषि पंचतत्त्वसहितं मग्नं नभश्चाखिलम्।
लक्ष्मीधाम दधद्विधूय वितत-ध्वान्तं स धामद्वयं।
पंथानं कथयत्वनन्तगुणधृत्कुन्थुर्भवान्तस्य वः ॥(६४-५५)

इसमें कुन्थुजिनेन्द्रका स्मरण करते हुए उनकी दो ज्योतियोंका ही उल्लेख किया है—एक देहज्योति और दूसरी ज्ञानज्योति। देहज्योतिमें इन्द्रसहित सब देवताओंको निमग्न बतलाया है, जो उनके समवशरणादिको प्राप्त हुए हैं, और ज्ञानज्योतिमें पंच-तत्त्व (द्रव्य तथा भूत) सहित सारे आकाशको व्याप्त प्रकट किया है। तीसरी शब्दज्योतिका कोई उल्लेख नहीं किया। इस ज्योतिका उपर्युक्त उल्लेख यहाँ ग्रन्थकारकी अपनी विशेषताको लिये हुए जान पड़ता है। शब्दात्मक भी ज्योति होती है इसका बादको श्रीशुभचन्द्राचार्यने अपने ज्ञानार्णव-ग्रन्थके निम्न पद्यमें उल्लेख किया है :—

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम्।
वाच्य-वाचक-सम्बन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥ ३८-३२ ॥

इसमें शब्दात्मक-ज्योति और परमेष्ठीका परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है ऐसा उल्लेख किया है और यह बात 'अर्ह-मित्यक्षर-ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः' तथा 'शब्दब्रह्म परब्रह्मके वाचक-वाच्य नियोग' जैसे वाक्योंसे भी जानी जाती है। वाच्यके वाचक-रूप 'नामध्येय'के अन्तर्गत जिन मंत्रपदोंका इस ग्रन्थ (पद्य नं० १०८ आदि) में तथा अन्यत्र पदस्थध्यानके वर्णनमें उल्लेख है, वे सब ध्वनिरूप शब्दज्योतियाँ हैं जो अर्हन्तादिकी वाचक हैं। अर्हन्तजिनेन्द्रका दिव्यध्वनिरूप सारा ही वाङ्मय शब्दज्योतिके रूपमें स्थित है।

भाष्यका अन्त्यमंगल और प्रशस्ति

मोहादिक रिपुवोंको जिनने, जीत 'जिनेश्वर' पद पाया;
वीतराग-सर्वज्ञ-ज्योतिसे, मोक्षमार्गको दर्शाया।
उन श्रीमहावीरको जिसने, भक्तिभावसे नित ध्याया;
आत्म-विकास सिद्ध कर उसने, निर्मल-शास्वत-सुख पाया ॥१॥

गुरु समन्तभद्रादिक प्रणमूँ, ज्ञान-ध्यान-लक्ष्मी-भर्तार;
जिन-शासनके अनुपम सेवक, भक्ति-सुधा-रस-पारावार।
जिनकी भक्ति प्रसाद बना यह, रुचिर-भाष्य सबका हितकार;
भरो ध्यानका भाव विश्वमें, हो जिससे जगका उद्धार ॥२॥

अल्पबुद्धि 'युगवीर' न रखता, ध्यान-विषय पर कुछ अधिकार;
आत्म-विकास-साधनाका लख ध्यान-क्रियाको मूलाधार।
रामसेन-मुनिराज-विनिर्मित, ध्यान-शास्त्र सुख-सम्पत-द्वार;
उससे प्रभवित-प्रेरित हो यह, रचा भाष्य आगम-अनुसार ॥३॥

पढ़ें-पढ़ावें सुनें-सुनावें, जो इसको आदरके साथ;
प्रमुदित होकर चलें इसी पर, गावें सदा आत्म-गुण-गाथ।
आत्म-रमण कर स्वात्मगुणोंको; औ' ध्यावें सम्यक् सविचार;
वे निज आत्म-विकास सिद्ध कर, पावें सुख अविचल-अविकार॥४॥

इस प्रकार श्रीनागसेनसूरिके दीक्षित-शिष्य-रामसेनाचार्य-
विरचित सिद्धि-सुख-सम्पतका उपायभूत तत्त्वानुशासन
नामक ध्यानशास्त्र सानुवाद-व्याख्यारूप
भाष्यसे अलंकृत समाप्त हुआ।

परिशिष्ट

१. भाष्यका संशोधन

भाष्यके छपनेमें प्रेसकी असावधानीसे कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं। बिन्दु-मात्रादिकी साधारण अशुद्धियोंको छोड़कर, जो कहीं-कहीं प्रायः टाइपके ठीक न उठनेके कारण हुई जान पड़ती हैं, शेष अशुद्धियोंका संशोधन निम्न प्रकार है :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	२४	पयदि	पयडि
१६	१६	भिच्छत्तं	मिच्छत्तं
२४	२३	द्वेषस्तु	द्वेषस्तु[१]
३०	१३	भ्रमिष्यति	भ्रमिष्यसि
३६	२३	अभित्र	अभिन्न
४८	१८	(४७)	(४६)
५३	२	श्रुतेन	[१]श्रुतेन
८०	१	तिगुत्त	तिगुत्तो
८०	२	एकग्गमणो	एयग्गमणो
९०	२६	देहावस्था	देहावत्था
१११	१७	वं बं	वं वं
१२०	७	यह	ऐसे
१२०	७	और रत्नोंकी	और उन्हें रत्नोंको
१३३	११	विभ्रता	बिभ्रता
१५२	४	यस्मिन् मिथ्या	यन्मिथ्या
१५७	१५	अन्यत्र	अन्यन्न
१५८	२४	तमस्पन्तर्हंशा	तमस्यन्तर्हंषा
१५९	१५	लिए हुए हैं	लिए हुए आवृत्त हैं
१५९	२३	व्यावृत्त	आवृत्त
१६३	१०	पूर्ववेद	पूर्वविद
१७३	८	प्रदेशसपिण्ड:	प्रदेशसंपिण्ड:
२२१	२४	कोशकी	कोशके

२. तत्त्वानुशासन—पद्यानुक्रमणिका

पद्याऽऽद्यभाग क्रमाङ्कसहित

र, ल, व

श, स, ह

३. भाष्यके सहायक ग्रन्थोंकी सूची

अध्यात्मकमलमार्तण्ड (कविराममल्ल)
अध्यात्यमतरंगिणी(सोमदेव)
अध्यात्मतरं०-टीका (गणधरकीर्ति)
अध्यात्म-रहस्य (पं० आशाधर)
अनगारधर्मामृत (पं० आशाधर)
आत्मप्रबोध (कुमार कवि)
आत्मानुशासन (गुणभद्राचार्य)
आराधनासार (देवसेनाचार्य)
आष-महानुराण (जिनसेनाचार्य)
आलापपद्धति (देवसेनाचार्य)
इष्टोपदेश-टीका (पं०आशाधर)
उत्तरपुराण (गुणभद्राचार्य)
उपासकाचार (अमितगति आ०)
एकत्वसप्तति (पद्मनन्दि आ०)
कल्याणमन्दिर (कुमुदचन्द्राचार्य)
नोम्मटसार-कर्मकाण्ड (नेमिचन्द्रा०)
छहढाला (पं० दौलतराम)
ज्ञानसार (पद्मसिंहमुनि)
ज्ञानांकुश
ज्ञानार्णव (शुभचन्द्रदाचार्य)
तत्त्वभावना (अमितगति आ०)
तत्त्वसार (देवसेन आ०)
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी)
दंसणपाहुड़ (कुन्दकुन्दाचार्य)
देवागम (स्वामी समन्तभद्र)
ध्यानस्तव (आ० भास्करनन्दी)
ध्यानशतक
नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
परमात्मप्रकाश (योगीन्दुदेव)
पंचास्तिकाय (आ० कुन्दकुन्द)
प्रतिष्ठासारोद्धार (पं० आशाधर)
प्रवचनसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
भावपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्य)
भैरवपद्मावतीकल्प(मल्लिषेणाचार्य)
मंत्रसारसमुच्चय (विजयवर्णी)
महाकम्मपयडिपाहुड
मूलाचार (वट्टकेर-कुन्दकुन्द आ०)
मोक्खपाहुड (कुन्दकुन्द आ०)
यशस्तिलक (आ० सोमदेव)
युक्त्यनुशासन (स्वामी समन्तभद्र)
योगदर्शन(पतंजलिऋषि)
योगप्रदीप
योगसार (अमितगति प्रथम)
योगसूत्र-मणिप्रभावृत्ति(भावागणेश)
योगसूत्र-वृत्ति (नागोजी भट्ट)
योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य)
रत्नकरण्ड (स्वामीसमन्तभद्र)
वसुनन्दिश्रावकाचार(वसुनन्दि आ०)
विद्यानुशासन
वृहद्द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्राचार्य)
वृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका (ब्रह्मदेव)
षट्खण्डागम
समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
समयसारकलशा (अमृतचन्द्राचार्य)
सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य)
सिद्धभक्तिप्रा० टी० (प्रभाचन्द्र)
सिद्धभक्ति संस्कृत (पूज्यपादाचार्य)
स्वयम्भूस्तोत्र (समन्तभद्राचार्य)
स्वामिकार्तिकयानुप्रेक्षा(स्वामिकुमार)

४. भाष्यमें उद्धृत-वाक्योंकी अनुक्रमणिका

५. प्रस्तावनाकी नामानुक्रमणी

६. तत्त्वानुशानकी लक्षणात्मक शब्द-सूची

युगवीर-निबन्धावली

यह 'निबन्धावली' आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' के साहित्य और इतिहास-विषयक उन निबन्धोंसे पृथक् है, जिनका एक संग्रह 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामसे, प्रथम खंड-के रूपमें, ७५० पृष्ठका प्रकाशित हो चुका है; दूसरा खंड प्राय: उतने ही पृष्ठोंका प्रकाशित होनेको है और तीसरा खंड जैनग्रन्थोंकी उन परीक्षाओं-से सम्बन्ध रखता है जिन्होंने महान् आचार्योंके नाम पर अंकित कुछ जाली ग्रन्थोंका भंडाफोड़ किया, दूसरोंकी कृतियोंको अपनी कृति बनाने वालोंका पर्दा फाश किया, समाजमें असाधारण विचार-क्रान्ति उत्पन्न की और अनेक भूल-भ्रान्तियों तथा मिथ्या-धारणाओंके विषयमें समाजके विवेकको काफ़ी जाग्रत किया। इस तीसरे खंडका पृष्ठ-परिमाण और भी अधिक है।

इस निबन्धावलीको, जिसमें इतस्तत: बिखरे हुए सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोंका संग्रह है, दो खंडोंमें विभाजित किया गया है, जिनमें पहला खंड विविध विषयके महत्वपूर्ण मौलिक निबन्धोंको लिए हुए है, जिनकी संख्या ४१ है। दूसरे खंडमें निबन्धोंको १ उत्तरात्मक, २ समा-लोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचायत्मक, ४ विनोद शिक्षात्मक और ५ प्रकी-र्णक-जैसे विभागोंमें विभक्त किया गया है और उनकी संख्या ६० से ऊपर है। मुख्तारश्रीके लेख-निबन्धोंको जिन्होंने भी कभी पढ़ा-सुना है उन्हें मालूम है कि वे कितने खोजपूर्ण, उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते हैं, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। विज्ञ पाठक यह भी जानते हैं कि इन निबन्धोंने समय-समय पर समाजमें किन-किन सुधारोंको जन्म दिया और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है।

यह निबन्धावली स्कूलों, कालिजों तथा विद्यालयोंके विद्यार्थियोंको पढ़नेके लिये दी जाना चाहिये, जिससे उन्हें समाजकी गतिविधियों एवं स्पन्दनोंका कितना ही परिज्ञान होकर कर्तव्यका समुचित भान हो सके और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामें भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें।

इस निबन्धावलीका प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका है, जिसके साथमें डा० हीरालालजी एम० ए०, डी० लिट०, विश्वविद्यालय जबलपुरकी लिखी 'नये युगकी झलक' नामकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। साथ ही निबन्धोंमें आए हुए नामोंकी वर्णानुक्रम-सूची भी लगी हुई है। इस खण्डके अन्तर्गत कुछ निबन्धोंके नाम अपने-अपने क्रमाङ्क सहित इस प्रकार हैं:—

१ सुधारका मूलमंत्र, २ पापोंसे बचनेका गुरुमंत्र, ३ मिथ्या धारणा, ६ हमारी यह दुर्दशा क्यों ? ८ जिन-पूजाधिकार-मीमांसा, ६ जैनियों-का अत्याचार, १४ विवाहसमुद्देश्य, १४ उपासना-तत्त्व, १५ उपासनाका ढंग, १७ अपमान या अत्याचार, १६ गोत्र-स्थिति और सगोत्र-विवाह, २० असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह, २१ जाति-पंचायतोंका दण्ड-विधान, २२ हम दुखी क्यों हैं ? २३ जैनी नीति, २५ भक्तियोग-रहस्य, २७ सकाम-धर्मसाधन, २८ सेवा-धर्म, २६ होलीका त्योहार और उसका सुधार, ३० स्व-पर-वैरी कौन ? ३१ वीतरागकी पूजा क्यों ? ३२ वीतरागसे प्रार्थना क्यों ? ३३ पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ? ३४ परि-ग्रहका प्रायश्चित्त, ३७ बड़ा दानी कौन ? ३८ बड़ा दानी और छोटा दानी, ३६ भारतकी स्वतंत्रता, उसका झंडा और कर्तव्य, ४० महावीरका सर्वोदय-तीर्थ, ४१ सर्वोदयके मूलसूत्र।

प्राय: ५०० पृष्ठोंके इस सदा उपयोगी सुन्दर सजिल्द खण्डका मूल्य केवल पाँच रुपये है। इस खण्ड पर प्राप्त विद्वानोंकी बहुतसी सम्मितियों मेंसे कुछ नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

डा० हीरालालजी जैन एम० ए०, डी० लिट० जबलपुर—

"इन लेखोंमें ऐतिहासिक महत्त्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोंके सम्बन्धमें भी मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।······इस प्रकार हम पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको जैनसमाजमें नये युग-निर्माणमें एक महान् अग्रणी कह सकते हैं, जिसके प्रचुर प्रमाण उनके प्रस्तुत लेखोंमें विद्यमान है।···अन्धविश्वासों व अज्ञानपूर्ण मान्यताओं-की कठोर आलोचनाके साथ-साथ शास्त्रीय आधार और स्थिर आदर्शों-का पक्षपात तथा नवनिर्माणका सावधानी पूर्ण प्रयत्न पंडितजीकी

अपनी विशेषता है। उनकी भाषा सरल और धारावाहिनी तथा शैली तर्कपूर्ण और ओजस्विनी है।"

"पुस्तक बड़े कामकी है और बहुत सुन्दर छपी है।"

२. पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना (सागर)—

"कभी भी नष्ट नही होनेवाली उपयोगिता ही इस (निबन्धावली)-की विशेषता है।"

३. श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, सम्पादक 'नया जीवन' सहारनपुर—

"..........संग्रहीत निबन्धोंमें साहित्य और इतिहास दोनोंका समन्वय है। निबन्ध गहरे हैं, ज्ञानवर्धक हैं और मुख्तार साहबके स्व-भावानुसार राई-रत्ती छान-खोजकर लिखे गए हैं। आश्चर्य है कि ४८४ पृष्ठकी इतनी उत्तम सजिल्द पुस्तकका मूल्य कुल ५ रुपए हैं।"

४. सम्पादक 'सन्मतिसन्देश' दिल्ली—

..."जिन-जिन विषयों पर आपके निबन्ध प्रकाशित हुए हैं वे सभी विषय महत्त्वपूर्ण, सामयिक एवं क्रान्तिकारी हैं। उनसे एक सुलझा हुआ मार्गदर्शन मिलता है।......युगान्तरकारी इन विचारोंको पढ़कर आप धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नोंका समाधान पा सकेंगे। इन विचारोंके प्रचारकी अत्यन्त आवश्यकता है।"

५. श्रीलक्ष्मीचन्द जैन एम० ए०, सम्पादक 'लोकोदयग्रन्थमाला' कलकत्ता—

"आपका कृतित्व सब प्रकारसे महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रकाशनसे विद्वानोंको और समाजको काफी लाभ पहुँचेगा।"

६. सम्पादक 'नवभारत टाइम्स' दिल्ली—

"प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य श्री मुख्तार साहबके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और ज्ञानवर्धक मौलिक निबन्धोंका संग्रह है। इन लेखोंमें वर्तमान परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर वैयक्तिक और सामाजिक मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री संकलित है। त्याग, सेवाभाव, कर्तव्यनिष्ठा आदि-के सम्यक् विवेचनके कारण यह ग्रन्थ चिरंतन महत्वका एवं सर्वोपयोगी है। यह निबन्धावली अपनी असीम उपयोगिता और उपादेयताकी दृष्टिसे स्कूलों कालेजों एवं विद्यालयोंके विद्यार्थियोंके लिये अध्ययन, चिन्तन एवं मननकी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करती है।"

मंत्री वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट, दरियागंज, दिल्ली